अशोक वैद्य विशारद गाइड

(हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग की वैद्य विशारद परीक्षा तथा
तत्समस्तरीय विषयों हेतु अपूर्व पुस्तक)

प्रथम खण्ड

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक
डा० ज्ञानेन्द्र पाण्डेय
चिकित्सक, सम्पादक, वनौषधि अनुसंधानकर्त्ता
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक

प्रकाशक :
प्रवीण प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-६

नवीन संस्करण : १९८२
मूल्य : १५.००

मुद्रक :
लक्ष्मी प्रिंटिंग वर्क्स
लाल कुआँ. दिल्ली-११०००६

नवीन संस्करण

इस पुस्तक का एकादश संस्करण गत वर्ष प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार दिग्दर्शन ग्रन्थ की लोकप्रियता में आशातीत वृद्धि हुई है, क्योंकि यह अपने ढंग की एकमात्र पुस्तक है। इस संस्करण में गत वर्षों के प्रश्नों के विषय के साथ ही अन्य आवश्यक विषय सामग्री को जोड़ दिया गया है जिससे पाठक विषय-वस्तु से अधिकाधिक लाभान्वित हों, यह दृष्टिकोण रखा गया है। पिछले संस्करणों से लाभ उठाने वाले अनेक पाठकों तथा शिक्षकों व विद्वानों के सन्देश प्राप्त हुए हैं। ऐसी उल्लेखनीय सफलता देखकर इसका यदि कोई अनुकरण करता है तो मौलिकता नहीं मानी जा सकती।

इस संस्करण में गत वर्ष परीक्षा में पूछे गए विषय जोड़ दिए हैं—इनके अध्ययन से परीक्षार्थियों को विशेष लाभ होगा। 'परीक्षा के पूर्व तथा परीक्षा के समय' किन नियमों का पालन करना आवश्यक है—यह पुस्तक के आरम्भ में वृद्धि की गई है।

प्रकाशक श्री जगदीशचन्द्र गुप्त के सद्प्रयत्नों से पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है यह 'अपटूडेट' संस्करण यथेष्ट उपयोगी सिद्ध होगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ० प्र०)

—ज्ञानेन्द्र पाण्डेय

विषय-सूची

	अवश्य पठनीय	vi से viii
१.	प्रथम पत्र	१
	स्वास्थ्य-विज्ञान	
२.	द्वितीय पत्र	१२१
	द्रव्यगुण-विज्ञान तथा रसतंत्रोक्त द्रव्य-विज्ञान	
३.	तृतीय पत्र	२१७
	शरीर रचना-विज्ञान और शरीर क्रिया-विज्ञान	
४.	चतुर्थ पत्र	३२९
	रसशास्त्र और रसायन वाजीकरण	
५.	गत वर्षों के प्रश्न पत्र	४३१
	१९७६, १९७७, १९७८, १९७९ १९८०-१९८१	

अवश्य पठनीय

परीक्षा से पूर्व और परीक्षा के समय

"क्या करें–क्या न करें"

यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि ज्ञानार्जन और परीक्षा उत्तीर्ण करना—दोनों भिन्न बातें हैं। ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं कि ऐसे परीक्षार्थी जिनको विषय का अच्छा ज्ञान है—परीक्षा में रह जाते हैं और जिनका अपेक्षाकृत कम ज्ञान है—परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते हैं। इसका कारण है—कि वे यह नहीं जानते कि परीक्षा से पूर्व और परीक्षा के समय क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह बात कही जाती है कि परीक्षा उत्तीर्ण करना एक 'अवसर' (चांस) होता है—वह ठोस योग्यता का परिचायक नहीं।

वैद्य विशारद परीक्षा वास्तव में आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर चिकित्सक बनने के लिए आयोजित की जाती है। चिकित्सा बनना केवल परीक्षा उत्तीर्ण तक ही सीमित नहीं होता, क्योंकि जीवन में नित्य प्रति परीक्षाओं का सामना करना पड़ता है। किसी भी व्यक्ति का इलाज करना उसके जीवन को हाथ में लेना है—उस अवस्था में उसके शरीर के विषय में—उसके रोग के विषय में तथा उसके लिए उपयोगी औषध के विषय में—जो जानकारी रखता है—वही चिकित्सक सफल है या उत्तीर्ण है। कहा गया है कि—

'यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्य कोविदः।
देशकाल प्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥' (चरक संहिता)

अर्थात्—जो (चिकित्सक) रोग विशेषज्ञ—सभी औषधों के ज्ञान में प्रवीण हो, देश-काल एवं मात्रा को जानता हो, उसे निस्संदेह सफलता मिलती है।

इस तरह परीक्षा से पूर्व क्या करना चाहिए—इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि एक परीक्षा के बाद आए दिन परीक्षाओं का सामना करना पड़ेगा।

वैद्य विशारद (प्रथम खण्ड) की परीक्षा में चार प्रश्न पत्र रखे हैं—जिनमें निम्न विषयों का समावेश किया गया है—

१. प्रथम प्रश्न पत्र में—स्वास्थ्य-विज्ञान

२. द्वितीय प्रश्न पत्र में—द्रव्य-गुण विज्ञान एवं रसतन्त्रोक्त द्रव्य-विज्ञान

३. तृतीय प्रश्न पत्र में—शरीर रचना विज्ञान और शरीर क्रिया-विज्ञान

४. चतुर्थ प्रश्न पत्र में—रसशास्त्र और रसायन वाजीकरण

स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है। आयुर्वेद शास्त्र के प्रयोजनों में स्वास्थ्य रक्षा को प्रथम महत्त्व दिया है—कहा गया है—कि "स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा आतुर (रोगी) के रोग का निवारण करना आयुर्वेद के प्रयोजन है।" स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए स्वास्थ्य विज्ञान का जानना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए दिनचर्या—रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या के विषय में सभी सिद्धान्तों को जान लेना चाहिए। इस पुस्तक में दिए विषयों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह सम्भव है, आप इस विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लें।

द्रव्यगुण-विज्ञान एवं रसतन्त्रोक्त द्रव्य-विज्ञान ये दो विषय दिखाये हुए भी एक ही हैं। चिकित्सक को रोगी के इलाज करते समय औषधियों की ही आवश्यकता होती है—उन औषधियों के ज्ञान के लिए ही यह पत्र रखा गया है। इस गाइड में इस विषय के आवश्यक ज्ञातव्य दिए हैं—उनका स्मरण करना आवश्यक है। इस विषय में यह स्पष्ट करना आवश्य है कि इन औषधियों (द्रव्यों) को नाम से—रूप से और गुणों से जानना आवश्यक है। केवल पुस्तक पढ़ने से इसका ज्ञान नहीं होगा—इन द्रव्यों के रूप की पहचान करने के लिए ज्ञाता वैद्यों की शरण में जाना आवश्यक है। वनस्पति उद्यानों में जाकर औषध द्रव्यों की पहचान करें इसी तरह किसी पंसारी की दुकान में

जाने से द्रव्यों की पहचान की जा सकती है। सभी आवश्यक द्रव्यों को रूप से जानकर यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि वे कहाँ से प्राप्त होती हैं—उनके क्या गुण-कर्म हैं।

शरीर-रचना-विज्ञान एवं शरीर-क्रिया-विज्ञान भी महत्व के विषय हैं। जिस रोगी का उपचार करना चिकित्सक का कर्त्तव्य है—उसके शरीर की बनावट और उसके अंगों के रूप-कर्म को जानना भी जरूरी है। इस विषय में इस पुस्तक का भी अध्ययन करें ही साथ में माडलों—चार्टों एवं मृत शरीर की चीर-फाड़ से क्रियात्मक ज्ञान भी प्राप्त करें कुशल वैद्य जो शरीर की सूक्ष्मतम रचनाओं एवं क्रियाओं के ज्ञाता हो, उससे सहायता लेनी चाहिए।

रसशास्त्र और रसायन वाजीकरण विषय भी क्रियात्मक दृष्टि से जानने चाहिए। जिन द्रव्यों का रूप-गुण-नाम अपने द्रव्यगुण विज्ञान में पढ़ा है,उनको औषध रूप किस प्रकार दिया जाए—यह रसशास्त्र का विषय है। इस पुस्तक में आवश्यक जानकारी दी गई है तो भी रसशास्त्र का सही ज्ञान तभी होगा जब कि किसी औषध निर्माणशाला में कुशल वैद्य के निर्देशानुसार अपने हाथ से औषधियों का निर्माण करें।

इस तरह परीक्षा से पूर्व सभी विषयों में सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने में तत्परता से संलग्न रहना आवश्यक है तो परीक्षा के समय कोई कठिनाई नहीं आएगी।

परीक्षा भवन में प्रवेश करते ही सबसे पहला कर्त्तव्य यह है कि परीक्षार्थी भयरहित होकर—मन को एकाग्र कर शान्ति से अपने स्थान पर बैठ जाए। प्रश्न\पत्र मिलने पर उसे ध्यान से पढ़े। कुछ परीक्षार्थी ऐसा करते हैं कि प्रश्न पत्र आते ही एक प्रश्न पढ़ा और उसका उत्तर लिखना आरम्भ कर दिया। ऐसा करना उचित नहीं। पूरे प्रश्न पत्र को पढ़ कर उस पर देखें कि किसी प्रकार का कोई विशेष निर्देश तो नहीं है। कई बार परीक्षक प्रश्न पत्र में छः प्रश्न पूछता है और पाँच करने का निर्देश देता है—ऐसी स्थिति में देखें कि कौनसा प्रश्न आपको छोड़ना है। जो प्रश्न न आता हो अथवा बहुत लम्बा हो और कई प्रकार की व्याख्याएँ देना जिसमें जरूरी हो—ऐसे प्रश्न को छोड़ देना

चाहिए—बाकी पांच प्रश्नों का उत्तर लिखें। कई बार विशेष निर्देश में किसी एक प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य होता है—ऐसी स्थिति में उसका पालन करना चाहिए। कुछ परीक्षार्थी 'अनिवार्य' शब्द पढ़ते ही पहले उसका उत्तर लिखने लगते हैं—चाहे उन्हें वह प्रश्न अच्छा आता हो या कम आता हो—ऐसा करना ठीक नहीं है। अनिवार्य प्रश्न सबसे पहले ही किया जाए यह आवश्यक नहीं—बाद में भी कर सकते हैं। सबसे पहले उस प्रश्न का उत्तर लिखना चाहिए जो बहुत अच्छी प्रकार आता हो। परीक्षक किसी प्रश्न में क्या पूछ रहा है, उतना ही बताना चाहिए। गंधक का शोधन कैसे होता है? इस प्रश्न में यह बताना अनुचित है कि गन्धक कहाँ से उपलब्ध होती है और क्या गुण-कर्म करती है—केवल शोधन ही बतायें। जो परीक्षार्थी प्रश्न की सीमा में उत्तर न देकर इधर-उधर की जो जानकारी उसे होती है—सारी लिख देता है, वह उचित नहीं करता। परीक्षक तो केवल उतना ही चाहता है जितना प्रश्न में पूछा है। इससे दूसरी हानि यह होती है कि समय लिखते-लिखते बीत जाता है और पूरे प्रश्न पत्र का उत्तर नहीं लिखा जा सकता। अतः आवश्यक है कि प्रश्न की सीमा में उतना ही उत्तर लिखा जाए। साथ ही विभाग का भी ध्यान रखना चाहिए कि कितने प्रश्न हैं और किस-किस में कितना-कितना समय लगेगा।

इन बातों का ध्यान रखते हुए यदि प्रश्न पत्र का उत्तर लिखा जाएगा तो सफलता निश्चित मिलेगी। इसमें सावधानी ही सबसे आवश्यक है। परीक्षार्थी कई बार असावधानी से उत्तर पुस्तिका पर अपना रोल नम्बर, परीक्षा का विषय लिखना ही भूल जाते हैं—यह ठीक नहीं। इसी तरह प्रश्न पत्र में दी गई प्रश्न संख्या लिखकर फिर उत्तर नीचे देना चाहिए।

इस प्रकार परीक्षा से पूर्व विषय को अच्छी प्रकार स्मरण कर—सीखकर और परीक्षा के समय बिना घबराहट सावधानीपूर्वक उत्तर लिखकर सफलता प्राप्त की जा सकती है।

सार्वजनिक आरोग्य—स्नान, जलाशयों की सफाई, पानीय जल विचार, जल दूषित होने के कारण और उनका प्रतिकार, जलशोधन, वासस्थान विचार, गृहारोग्य, मकान की व्यवस्था और सजावट, नगर-निर्माण, नागरिक स्वच्छता, सार्वजनिक स्थानों का आरोग्य, मनोरंजक एवं व्यावसायिक स्थानों की व्यवस्था। वायु संचार प्रयोजन तथा आरोग्य रक्षणार्थ वायु सम्बन्धी आवश्यक जानकारी, सार्वजनिक आरोग्य की व्याख्या, रहने के मकान और उसके विविध भाग एवं उनकी सफाई का वर्णन, नौकरो के स्थान, घर में जल की व्यवस्था, जल का निकास और शयनागार।

आहार आरोग्य—आहारद्रव्यों के उत्पादन, जीवन तत्त्व, आहार के अवयव, पाक सिद्धि, भोजन का समय, भोजन विधि, आहार और रोग, भोजन के पश्चात्, भोजन और जलपान।

जनपदोध्वंस विवरण—संक्रामक रोग, संक्रमण प्रकार, संक्रमण प्रतिषेधोपाय, भाव प्रकृति, वायु विकृति, जल विकृति, भूमि विकृति, काल विकृति, औषधि-सेवन का महत्त्व, विविध संक्रामक रोगों का विवरण, उनकी रुकावट और उनके निवारण के उपाय।

सदाचार—धर्म की व्याख्या, धार्मिक आचार, सामाजिक सदाचार, मार्ग सम्बन्धी सदाचार, व्यावहारिक सदाचार।

(ख) **रोगोत्पत्ति**—रोगभेद, रोगी के साथ व्यवहार, रोगी की संभाल, रोगी की सेवा, रोगी-गृह, रोगी के बिस्तर, वस्त्र आदि, रोगी की स्वच्छता, रोगी के पात्र, भोजन, औषधि का निरीक्षण, परिचारक के गुण, परिचारक के कर्त्तव्य, वैद्य के कर्त्तव्य आदि।

(ग) **नैसर्गिक आरोग्य**—आकाशी-वायु-जल अग्नि, पृथ्वी आदि के द्वारा स्वास्थ्य का सम्बन्ध और स्वास्थ्य संरक्षण, जलवायु, अग्नि, धूप और मिट्टी के प्रयोग द्वारा विविध प्रकार के स्वास्थ्य संरक्षण एवं रोगनिवारण के प्रयोग, जलवायु भेद, जलवायु परिवर्तन तथा उत्तम जलवायु के स्थानों का परिचय।

इन सभी विषयों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। दैनिक जीवन में सामाजिक गतिविधियों को जानकर इनमें से कितने ही विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है। जहाँ लिखित प्रश्न-पत्र में इन विषयों में से पूछा जाता है वहाँ मौखिक परीक्षा में भी कुछ बातें स्वास्थ्य-विज्ञान विषयक पूछी जाती हैं—अतः उनका मौखिक उत्तर देना होता है।

परीक्षार्थी सावधानी एवं तर्कबुद्धि से यदि पुस्तक का अध्ययन करें तो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषय उसे मिल जाएँगे।

प्रथम-पत्र

स्वास्थ्य-विज्ञान

प्रश्न—स्वास्य किसको कहते हैं ? और सामाजिक परिस्थितियों का शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ? धनाभाव कौन-सी परिस्थिति है, स्पष्ट कीजिये । (१९७४)

उत्तर—परमात्मा ने विश्व में विभिन्न प्रकार के जीवों की रचना की है । जिनमे मनुष्य को सबमे श्रेष्ठ रखा गया । उसको ऐसा ज्ञान दिया गया कि लोक एवं परलोक मे सुव्यवहार करके सुख-भोग कर सके । परन्तु वे सब बातें बिना शरीर के संभव नहीं है । आचार्य चरक के अनुसार भी सब कुछ त्याग कर सर्वप्रथम शरीर का पालन करना चाहिए । शरीर की सुरक्षा से ही शारीरिक सभी उपभोग सुलभ होते है ।

विश्व की आरोग्यता के लिए ही भारत में प्राचीन काल में आयुर्वेद का जन्म हुआ है । आयुर्वेद के प्रयोजन या उद्देश्य में भी स्वास्थ्य का संरक्षण विशेष स्थान रखता है । आयुर्वेद मे शरीर-रक्षण प्रयोजन मे भी स्पष्टत. शरीर को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन बतलाते हुए कर्मफल जानने वाले मनुष्य को रोगों से उसकी रक्षा करनी चाहिये. साथ ही रोग (अस्वस्थता) तो सुख-पूर्वक जीवन और आरोग्य का हरण करते हैं। तो इन सब स्वास्थ्य सम्बन्धी चर्चाओं को आयुर्वेद में 'स्वस्थवृत्त' नाम दिया गया है । पाश्चात्य शब्दों मे इसे ही हायजिन (Hygiene) और इस विज्ञान की शिक्षा को सेनीटरी नोलेज (Sanitary Knowledge)कहते हैं । आयुर्वेद का मुख्य कार्य यही है ।

स्वस्थ पुरुष—अब प्रश्न उठता है कि हम किसे स्वस्थ कह सकते हैं ? प्रायः लोग उसे ही स्वस्थ समझने लगते हैं जो चल फिर सकता है, खाता-पीता है और जिसे चिकित्सक की आवश्यकता नहीं होती । पर यह तो निश्चित रूप

से भूल ही कही जा सकती है। आयुर्वेद ने इस पर अत्यन्त वैज्ञानिक और गंभीर विचार प्रस्तुत किया है। आचार्य सुश्रुत ने निम्नलिखित लक्षण स्वस्थ मनुष्य के रखे हैं—

(अ) समदोष—मनुष्य के दोषों की समता स्वास्थ्य हेतु प्रमुख साधन है। दोषों के दो प्रकार होते हैं—शारीरिक व मानसिक दोष। वात, पित्त, कफ शारीरिक दोष और रज, तम मानसिक कहे गये हैं। वाग्भट ने कहा भी है कि दोषों की समता ही आरोग्य और दोषों की विषमता ही रोगजनक है। इन उत्पन्न रोगों के अधिष्ठान भी शारीरिक व मानसिक दोषों के अभिप्रायत: मन और शरीर निश्चित किये गये हैं और फिर आगे चलकर दोषों की विषमता के प्रमुख प्रकोपों के अनुसार रोगों में भी भेद हो जाते हैं।

मनुष्य के स्वस्थ रहने में दोष तो प्रथम आधार हैं ही। उदाहरण, कफ की वृद्धि होने पर मल, मूत्र, नेत्र व शरीर का सफेद होना, अति निद्रा, शरीर में [illegible] गुरुता व शीतलता, सन्धिस्थानों में शिथिलता, उत्क्लेश (वमन होने की इच्छा होना) आदि विकार उत्पन्न होकर शरीर अस्वस्थ हो जाता है। प्रमुख मानस दोष रज में विषमता होने से वह वात दोष की विषमता के समान लक्षण पैदाकर शरीर को रोगग्रस्त बना देता है। इस प्रकार दोषों का समान रहना स्वस्थ मनुष्य के लिए आवश्यक होता है।

(ब) समाग्नि—इसके अन्तर्गत अग्नियों की समता का उल्लेख होता है। अग्नियों की संख्या प्रमुखत तीन हैं। वैसे एक जठराग्नि, सात धात्वग्नि और पाँच भूताग्नि भी मानते हैं। अग्नियों का महत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यथा शरीर का आरोग्य, पुष्टि, आयु आदि का मूल हितकर अन्नपान है और उसका उपयोग जठराग्नि के बिना सर्वथा निरर्थक है। इसी तरह उनकी समता स्थित रहना स्वस्थ मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अग्नि साम्य से स्थूलत: तात्पर्य पाचन क्रिया ठीक होना है।

(स) समधातु—शरीर को रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र इन सात धातुओं की समता भी स्वस्थ पुरुष में होनी चाहिये। इन धातुओं की वृद्धि अथवा क्षय दोनों अवस्थायें रोगजनक हैं। मान लीजिये यदि रक्त की वृद्धि (अति) हो गई है तो परिणामत: विसर्प, कुष्ठ, जलन, अग्नि की मन्दता, अर्श (खूनी बवासीर) होना अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यही नहीं अगर

रक्त क्षीण हो जाता है तो फिर त्वचा का कठोर होना, शिराओं की शिथिलता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। अतः सभी धातु सम रहने चाहिये। इसी के अन्तर्गत दूध (स्तन्य), आर्तव, वसा, त्वचा आदि सात उपधातुओं का भी समावेश करें।

(घ) समान मल क्रिया—आयुर्वेद में 'मल' शब्द का अर्थ अत्यन्त गंभीर है। सर्व विवेचना यहाँ अयुक्त होगी। यहाँ केवल यह समझ लेना चाहिये कि अपने-अपने छिद्रों से बाहर फेंके जाने योग्य होने से पुरीषादिक को मल कहते हैं। उधर दोष व धातु भी वृद्धि को प्राप्त होकर (बाहर निक्षेप्य) शरीर को मलिन करते हैं, अतः इनको भी मल कहा गया है।

मलों को (दोषधातुमलंमूलं हि शरीरं) भी शरीर का मूल कहा है। फिर मल की साम्यता स्वस्थ पुरुष के लिये स्वयं सिद्ध है। क्योंकि मल का क्षय होने पर उनके स्थान शून्य (मल रहित), लघु तथा शुष्क हो जाते हैं।

(न) प्रसन्नात्मेन्द्रिय मन—सुस्वास्थ्य के लिये आत्मा, इन्द्रियाँ और मन इनकी प्रसन्नता होना अनिवार्य है। चक्रपाणि के अनुसार समदोषता आदि लक्षण उसी की पुष्टि करते हैं। इन्द्रियों अर्थात् कर्मेन्द्रिय (पाँच) और ज्ञानेन्द्रिय (पाँच) की प्रसन्नता (निर्मलता) अर्थात् अपने कर्म में विशेष पटु रहना स्वस्थ पुरुष के लिए आवश्यक है। मन से सम्पूर्ण अन्तःकरण का ग्रहण करें। मन की अप्रसन्नता से शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है। अपने कर्म इन्द्रियों के अधिष्ठानों में जाकर उनके विषयों का ग्रहण करना आदि त्यागना ही मन द्वारा रोगजनक अवस्था उत्पन्न होना है। आत्मा में अपने गुणों के रहने पर स्वास्थ्य स्थिर रहता है। इसकी प्रसन्नता आवश्यक है।

इस प्रकार जब इतने लक्षण मनुष्य में पाये जायें तब उसे स्वस्थ कहा जाता है। इन लक्षणों के अनुसार हम में से कितने मनुष्य स्वस्थ हैं? इसका अनुमान आयुर्वेद मतानुसार यदि किया जावे तो संख्या कितनी होगी? यह बात स्वयं सिद्ध है अर्थात् पूर्णतः स्वस्थ नगण्य हैं। वस्तुतः जब उक्त लक्षण पूर्ण रूप से परिलक्षित हों तभी मनुष्य को स्वस्थ मानना चाहिए, केवल शरीर के सुगठन मात्र से नहीं।

आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जावे और फिर उसका संरक्षण कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेपतः यही है कि स्वस्थ वृत्त में वर्णित सभी क्रियाओं का

पालन करना चाहिये। इसलिए वैद्य को चाहिए कि मनुष्य के स्वास्थ्य के उपाय कराये। आयुर्वेद शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का आचरण करते हुए मनुष्य स्वस्थ रह सकता है।

धनाभाव, शारीरिक, सामाजिक और मानसिक परिस्थितियों का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है, इस विषय मे गाइड में आगे विस्तार से लिखा है।

प्रश्न—व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक आरोग्य से क्या तात्पर्य है? शौच व्यायाम, स्नान, दन्तधावन क्रियाओं की विवेचना कीजिये।

व्यक्तिगत आरोग्य (१९६७)

उत्तर—आयुर्वेदाचार्य चरक ने आयुर्वेद का प्रथम प्रयोजन ही स्वास्थ्य संरक्षण माना है। (प्रयोजनं चास्य स्वस्यस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार प्रशमनं च)। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने वाले अंग के सार्वजनिक आरोग्य (Public Hygiene) और व्यक्तिगत आरोग्य (Personal Hygiene) दो भेद हो जाते हैं। जिसमें केवल मनुष्य की व्यक्तिगत स्वास्थ्य संरक्षण सम्बन्धी क्रियायें यथा दिनचर्या, सद्वृत्त आदि अनेक बातें आती हैं, उसे व्यक्तिगत आरोग्य कहते हैं और जिसमें सम्पूर्ण समाज की समान रूप से हितकर बातों का समावेश होता है, यथा सफाई के नियम शौच स्थानों की विशेष व्यवस्था आदि, उसे सार्वजनिक आरोग्य कहा जाता है।

दिनचर्या (१९६८-१९७२)

जागरण—मनुष्य आयु की रक्षा के लिए रात्रि के भोजन पचने या न पचने का विचार करता हुआ ब्राह्ममुहूर्त्त में जागरण करे। वेग लगने पर मल त्याग को प्रस्तुत हों। मूत्र और मल में उत्तर-मुंह और रात्रि में दक्षिण-मुँह होकर वाणी बन्द करके शांतिपूर्वक अंगों को ठीक संकुचित कर त्याग करे। अति गन्दे स्थान, मार्ग, मिट्टी के ढेर, राख, गायों के बैठने की जगह, उनके गोबर पर, बस्ती (नगर) के समीप, अग्नि, बांबी (वल्मीक) रमणीय स्थान, जोता हुआ खेत, उत्तम छायादार सुन्दर वृक्ष, चैत्य वृक्ष (ग्राम में अथवा बाहर पूजा आदि विशेष कार्य के लिए स्थित वृक्ष), श्मशान भूमि, स्त्री, पूजनीय, गाय, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि और जल के सामने और पृथ्वी को बिना ढके मल त्याग न करे। भय एवं परिस्थितिवश कहीं भी मल त्याग किया जा सकता है। मल त्याग के बाद साफ मिट्टी से मलमार्ग को पोंछकर स्वच्छ जल से

प्रक्षालन करे। गुदा आदि मलमार्गों की पवित्रता कान्ति-बलवर्द्धक, पवित्र बनाने वाली, आयुवर्द्धक, दरिद्रता, मलिनता एवं पाप का नाश करने वाली होती हैं। हाथ पैरों का प्रक्षालन शुद्धि का कारण, श्रम व मलनाशक, नेत्रों को लाभदायक, कृमिनाशक एवं मैथुन-समर्थ बनाने वाला माना गया है।

दन्तधावन—दन्तधावन अत्यावश्यक क्रिया है। शौच, आचमन आदि के बाद ही प्रातःकाल १२ अंगुल लम्बी कानी अंगुली के समान मोटी सीधी गांठ व्रण से रहित, ताजी और अच्छी भूमि में उत्पन्न दातौन ही करनी चाहिए। शास्त्रों के अनुसार सायं और प्रातः दोनों समय का विधान है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार सदैव ऋतु, रस, वीर्य को देखकर यथा रस की दातौन चाहिये। तिक्त में नीम, कसैले में खदिर, मधुर में महुआ एवं कटु रसो में करंज की दातौन श्रेष्ठ है। किसी उचित वृक्ष की एक दातौन लेकर उसकी मुलायम कूंची बनाकर उनसे किसी दंत-शोधक चूर्ण के साथ दांतो की शनैः-शनै सफाई करनी चाहिए। इन तृणराज संज्ञक वृक्षों (यथा सुपारी, ताल, हिन्ताल, केतकी बांस, खजूर और नारियल कुल सात) की दातौन करना अत्यन्त निषिद्ध माना गया है। साथ ही सूखी, पोली, अपवित्र एवं लसीली दातौन तो किसी को भी नही करनी चाहिए। गला, तालु, ओठ, जिह्वा के रोग उत्पन्न होने पर, मुखपाक, श्वासकष्ट, खांसी, हिचकी, वमन, दुर्बलता, अजीर्ण होने पर भोजन करने वाले को, मूर्च्छा, नशा (मद) एवं शिरोरोग से पीड़ित, तृषित, थका हुआ, आलस्य युक्त, अर्दित, कर्णशूल एवं दन्तरोगी ऐसे मनुष्यों को दातौन नहीं करनी चाहिए। दातौन न मिलने पर और दातौन के लिए निषिद्ध दिनों में जल के कुल्ले से मुख शुद्ध हो जाता है। दातौन करने से मुख की दुर्गन्ध, लुआब एवं कफ निकलता है। मुंह में पूर्ण स्वच्छता, अन्न में रुचि और मन की प्रसन्नता इन गुणों की उत्पत्ति होती है। दन्तधावन के साथ ही जिह्वानिर्लेखन का विधान है।

व्यायाम (१९६२, ६५, ७४)

व्यायाम के साथ ही अभ्यंग का भी महत्त्व है। मनुष्य को ऋतु के अनुसार अर्थात् शीतकाल में उष्ण, उष्णकाल में शीत वायुजनक तैलों से मालिश करनी चाहिये। सबसे सुन्दर सर्षप तैल (सरसों का तेल) होता है। प्रतिदिन तेल की मालिश करनी चाहिये। इससे बुढ़ापा, श्रम एवं वायु का नाश होता

है। दृष्टि की प्रसन्नता, पुष्टि, आयु, निद्रा, त्वचा की सुन्दरता उत्पन्न होती है। वायु विकार भली-भाँति शांत होते हैं। अभ्यंग करने वाला मनुष्य किसी बल-कारक काम में विकृति को प्राप्त नहीं होता। अभ्यंग में पादाभ्यंग, शिरोऽभ्यंग कर्णाभ्यंग भी सम्मिलित हैं। नवज्वरी, अजीर्णरोगी, विरेचन-वमन-निरूहण किए मनुष्य को तथा संक्रामक रोग युक्त मनुष्य को मालिश हानिप्रद है। मालिश के बाद व्यायाम करना चाहिए।

आचार्य चरक के अनुसार शरीर की जो चेष्टा—देह को स्थिर रखने एवं उसका बल बढ़ाने वाली हो उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम अनेक प्रकार के प्रचलित हैं। अपने व्यवसाय व समय के अनुसार उनको यथामात्रा में करना चाहिए। सुश्रुत ने टहलने के काफी गुण बताये हैं।, प्रातः और सायं यथोचित मात्रा में शुद्ध वायु में भ्रमण करना चाहिए। जो टहलना देह को अधिक पीड़ित करने वाला नहीं होता वह आयु, बल, मेधावर्द्धक, अग्निप्रदीप एवं इंद्रियों को जागृत (चैतन्य) करने वाला होता है। मनुष्य को सभी ऋतुओं में प्रत्येक दिन अपने बल की आधी शक्ति से व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम करते हुए प्राणी के हृदय की वायु जब मुख में प्राप्त होने लगे, तो यह उसके बलार्ध का लक्षण है। कुक्षि (कांख), ललाट, नाक और हाथ-पैर आदि की सन्धियों में पसीना आए और मुख सूखने लगे तो बलार्ध समझना चाहिए। व्यायाम से केवल लाभ ही हो ऐसा नहीं, अनुचित प्रयोग से हानियां भी स्पष्ट होती हैं। आयु, बल, शरीर, देश और काल एवं भोजन को अच्छी तरह विचार कर व्यायाम करें, अन्यथा रोगोत्पत्ति होती है। व्यायाम का अधिक मात्रा में जो सेवन करता है, वह एकाएक उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सिंह को अपनी ओर खींचता हुआ हाथी नष्ट हो जाता है। यही नहीं व्यायाम के अधिक करने से क्षय, प्यास, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, भ्रम, आलस्य, शोष, ज्वर और श्वास कष्ट उत्पन्न होते हैं। सभी लोगों को व्यायाम हितकारक नहीं होता। रक्तपित्त का रोगी, कृश, शोष, श्वासकष्ट वाला, खाँसी और उरःक्षत से पीड़ित मनुष्य व्यायाम का परित्याग कर दे।

स्नान (१६६४,६६,७२)

नदी, देवकुण्ड, तालाब, प्राकृतिक गड्ढों एवं झरनों में नित्य स्नान करना चाहिए। शीतल जल से स्नान करना रक्तपित्त को शान्त करता है। सिर पर

जाने पर थकावट युक्त हो जाती हैं तो अपने विषयों से हट जाती हैं और मनुष्य सो जाता है। जब संज्ञावाही स्रोतों में तमोगुणी कफ प्राप्त हो जाता है तब मनुष्यों को अजागरणी तामसी निद्रा आती है। सुश्रुत का यह कथन है, कि हृदय देहधारियों का चेतन स्थान कहा गया है। उसमें तम व्याप्त होने पर देहधारियों में नीद प्रविष्ट होती है। निद्रा का कारण तम और जागरण का कारण सत्व कहा गया है और या इन दोनों का सबसे बड़ा कारण स्वभाव ही कहा जाता है। सुख, दुख, पुष्टि, कृशता, बल, निर्बलता वषता, नपुंसकता, ज्ञान-अज्ञान, जीवन और मरण—सब निद्रा के अधीन है। यथा समय की निद्रा पुष्टि, बल, उत्साह, अग्निदीप्ति, अतन्द्रिता और धातु साम्य करती है। चरक ने यह सम्पूर्ण स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार देह व्यापार के लिए भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार सुखदायी निद्रा भी। निद्रा का समय रात है। भोजन के बाद हल्की निद्रा वातपित्त नाशक है, शरीर मे पुष्टि व सुख की उत्पत्ति होती है। निद्रा के अनेक भेद है। एक मत से वह तमोत्पन्न, कफोत्पन्न मानसिक-श्रमोत्पन्न, आगन्तुज, व्याधि की अनुगामिनी एवं रात की स्वाभाविकी निद्रा छः प्रकार की है। अनुचित निद्रा से मनुष्य को अवश्य बचना चाहिए। असमय सोने से मोह, ज्वर, शरीर में गीलापन (स्तैमित्य), नासारोग, शिरःशूल, जी मिचलाना (हृल्लास), स्रोतोरोध और मंदाग्नि उत्पन्न हो जाते हैं। यह भी विचारणीय है कि भोजन करते ही सो जाने से कफ अग्नि का नाश कर डालता है। सारांशतः रात्रि-जागरण एवं दिन निद्रा त्याग दे। मात्रापूर्वक सेवन हो। रात्रि-जागरण रूक्ष दिवास्वप्न स्निग्ध होता है। भाव-प्रकाश के अनुसार पित्तनाशनार्थ शयन अच्छा है। कफ, मेद, विष, पीड़ित मनुष्यों के लिए जागरण पथ्य है। वात पित्त वृद्धि, मनस्ताप, क्षय एवं अभिघात से निद्रा नाश होती है। पुनः नीद लाने के उपाय प्रिया आलिंगन, निश्चिन्तता, कार्य सम्पूर्णता हैं। साथ ही मालिश, उबटन, दही युक्त शालि चावल, दूध, मद्य, मानसिक सुख, मनप्रियगन्ध, शब्द, मर्दन, सुशय्या, नेत्रों का तर्पण आदि भी करते हैं।

आधुनिक मत

इस प्रकार निद्रा के सुश्रुत, वाग्भट्ट तथा चरक ने विभिन्न भेद बताए हैं। आधुनिक दृष्टि से निद्रा के स्वरूप पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि

निद्रा (Sleep) ऐसी शारीरिक अवस्था है, जिसमें चेतना का अस्थायी पृथक्-करण (temporary suspension of the consciousness) हो जाता है। इसकी सभी को अनिवार्य आवश्यकता होती है, सामान्य रूप से अवस्था के अनुसार भेद इस प्रकार है—

अवस्था	आवश्यक घन्टों का समय
१. नवजात शिशु	१८-२० घण्टे प्रतिदिन
२. बालक	१२-१४ ,,
३. वयस्क	७-९ ,,
४. वृद्ध	५ ,,

निद्रा किस समय आती है, इस विषय में सिद्धान्त कुछ निश्चय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्राणियों के अभ्यास तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार यह होता है। सामान्यरूप से निद्रा रात्रि को ली जाती है और २४ घण्टे में एक निद्राकाल (रात्रि या दिन में) आता है। निद्रा की सूक्ष्म गति स्थिति (depth sleep) भिन्न-भिन्न आयु के व्यक्तियों में अन्तरपूर्वक रहती है। यह गहनता वयस्कों में निद्रा-काल के अन्तिम ४ घण्टों में अधिकतम होती है। बाल्यावस्था में इसकी पूर्ण अधिकता के दो काल होते हैं प्रथम काल पहले घण्टे में तथा द्वितीय काल व अन्यकाल आठवें या नौवें घण्टे में होता है। गहन प्रकार की निद्रा में स्वप्न प्रायः नहीं आया करते। निद्रा का जो शारीरिक सूक्ष्म प्रभाव है, उसके अनुसार सभी इन्द्रियों को यह प्रभावित नहीं करती। सर्वाधिक रूप से घ्राण तथा रसनेन्द्रिय प्रभावित होती हैं तथा वेदना, स्पर्श तथा श्रवण की संवेदनायें न्यूनतम प्रभावित रहती हैं। निद्रा में शरीर के विभिन्न अंगों पर विविध प्रभाव देखे जाते हैं—

१. रक्तानुधावन संस्थान	नाड़ी गति, रक्तचाप आदि में न्यूनता
२. श्वसन संस्थान	कास्टल या पीरियोडिक प्रकार बालकों में तथा टाइडल वोल्यूम
३. बी० एस० आर०	कम होकर १० से १५ प्रतिशत
४. मूत्र	मात्रा कम, प्रतिक्रिया विविध प्रकार की तथा आपेक्षिक घनत्व में वृद्धि
५. पेशी	टान न्यूनतम, विश्रान्त

६. नेत्र	वर्त्म वन्द, तारा संकुचित
७. अनतड़ी	रक्तस्राव तथा नाड़ीसंस्थानगत परिवर्तन ।

जागरण से हानि (१६६६) अनिद्रा से रोग (१६७४)

निद्रा के विभिन्न दुष्प्रभावों का निर्देश प्राचीन-नवीन साहित्य में किया गया है । अकाल में निद्रा सेवन, दिवानिद्रा अथवा अनुचित मात्रा में निद्रासेवन करने से जो हानियां होती हैं, उनको विभिन्न प्रसंगों में स्पष्ट किया है तथा उचित निद्रा के सेवन लाभ होने के कारण उसे उपस्तम्भों में सम्मिलित किया है । पाश्चात्य शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार अधिक काल तक जागरण करने पर (लगभग ६०-११४ घण्टों तक) निम्न लक्षण होते हैं—

आब्जेक्टिव	सब्जेक्टिव
१. वेविन्सिकी—एक्सटेन्सर	१. मानसिक एकाग्रता में कठिनता
२. सन्तुलन—डिस्टर्ब्ड	२. वेदना मर्यादा में कमी
३. न्यूरोमस्कुलर—भ्रमादि	३. अधिक लम्बा काल हो जाने पर—अवसाद तथा मृत्यु

निद्रा किस प्रकार आती है अर्थात् इसमें कौन से शारीरिक अंग मुख्य रूप से भाग लेते हैं, इस सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्त प्रचलित हैं । निन्द्रा केन्द्र, सम्रा केन्द्र (hypothalamus) के सम्बन्धित प्रदेशों में माना जाता है । वे सिद्धान्त निम्न हैं—

१. सेरीब्रल आइस्केमिया	(Cerebral ischaemia)
२. पेवलोव का सिद्धान्त	(Pavlova theory)
३. एसिटिकोलीन सिद्धान्त	(Acetycholine theory)
४. लेक्टिक एसिड सिद्धान्त	(Lactic acid theory)
५. क्लाइटमैन का सिद्धान्त	(Kleitmans theory)

(ख-ग) आहार तथा ब्रह्मचर्य

उपस्तम्भों के अवशिष्ट दो विषय आहार तथा ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । आहार की शरीर में सर्वविदित उपयोगिता है, इसका विशद विश्लेपण यथाप्रसंग प्रतिपाद्य है । ब्रह्मचर्य के अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्व

ऐसा मानसिक तथा शारीरिक संयुक्त प्रकार का उपाय है, जिसके द्वारा शरीर तथा मन दोनों को पुष्ट किया जा सकता है। विशेषत: प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्मचर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है और तदनुसार चिकित्सा तथा स्वास्थ्य विज्ञान के प्रसंगों में ब्रह्मचर्य के विविध पक्षों की मीमांसा की गई है। इस प्रकार तीन उपस्तम्भों से शरीर का पालन होता है।

वेगविधारण (१९६१, ६२, ६३, १९७४)

(क) अधारणीय वेग

शरीर के स्वाभाविक वेगों के धारण अथवा अधारण का विषय अति महत्त्वपूर्ण है। वायु, पुरीष, मूत्र, छींक, प्यास, खांसी, श्रमज श्वास, जंभाई, वमन, आंसू और वीर्य के वेग न रोके। क्योंकि इनके रोकने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, यथा अधोवात का वेग रोकने से गुल्म उदावर्त्त आदि उत्पन्न हो जाते हैं, इनको दूर करने के लिए स्नेह, स्वेद, वातानुलोन, वस्ति क्रियाएं करनी होती हैं। इसी प्रकार पुरीष वेग निरोध से पिण्डी बनाना, शिर:शूल, जुखाम, ऊर्ध्ववायु हृदय परिरोधन, मुख से लाल निकलना, अश्मरी, वस्ति, लिंग और वंक्षण प्रदेश में कष्ट आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक रोगों की उत्पत्ति संभव है। अत: निरोग रहने के लिए कदापि इन पुरीष आदि वेगों का अवरोध न करें। सुश्रुत ने बड़ा सुन्दर कथन किया है कि पच जाने पर भोजन करना, अधारणीय वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और अदुस्साहस—आयुष्य होते हैं।

(ख) धारणीय वेग (१९६७-१९७४)

परन्तु इसके साथ ही कुछ धारणीय वेग भी हैं जिनका रोकना नितान्त आवश्यक है। मानसिक, वाचिक, और शारीरिक कार्यों के अहित दुस्साहसों, शोक, भय, क्रोध, काम, निर्लज्जता, ईर्षा, दूसरे से द्रोह के विचार का वेग, अभिमान का वेग, उचित विषयों में अत्यन्त रुचि का वेग, देश की परपीड़ा हेतु प्रवृत्त वेग, अवस्था (स्त्री भोग, चोरी, हिंसा) एवं कठोर, अधिक चुगली-युक्त, अनवसर बोलने का वेग, असत्य बोलने का वेग ये सब मनुष्य को अवश्य धारण (अवरोध) करने चाहिये। इन वेगों को रोकने से मनुष्य मन, वाणी और शारीरिक कार्यों के पाप में बचता है और पुण्य, धर्म, अर्थ, काम को सुख-पूर्वक भोगता है।

प्रश्न—दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—स्वस्थ मनुष्य अपनी आयु की रक्षा के लिए ब्रह्ममुहूर्त मे सूर्योदय से डेढ़ घण्टे पूर्व शयन करके उठे और इस समय सम्पूर्ण पापों को शान्त करने के लिए भगवान् का स्मरण करे। सो करके उठने पर दही, घी, दर्पण, पीली सरसों, बेल, गोरोचन, तथा पुष्प माला का दर्शन एवं स्पर्श करें। प्रातः घृत में मुख देखने से दीर्घ जीवन लाभ कहा गया है। प्रातःकाल में मलमूत्र का त्याग करना आयुष्य है। इस समय मल, मूत्र, एवं अधोवायु की प्रवृत्ति अवश्य हो जानी चाहिए और वेगावरोध नहीं करना चाहिए। अन्यथा पूर्वोक्त अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। शौचादि के उपरान्त हाथ और पैर को भली-भांति पवित्र कर लेना उचित है। पुनः दन्तधावन कर्म करे (विशेष परिचय अन्यत्र अवलोकन करे) अब जिह्वानिर्लेखन की बारी आती है। सोना, चांदी अथवा ताम्र निर्मित जीभी का व्यवहार करना चाहिए। अभाव या सुविधानुसार दन्त धावन के काष्ठ को चीर कर जीभ छीलना चाहिए, परन्तु जब तक रक्त न निकले और दुःख न प्रतीत हो, तभी तक प्रयोग करना चाहिए। जिससे जिह्वा का मल, विरसता, दुर्गन्ध व जड़ता निष्कासित होती है, तत्पश्चात् मुखगण्डूष का विधान है। शीतल जल से कुल्ला करने से कफ, प्यास, मुख का मल दूर होते है और उष्ण जल के प्रयोग से अरुचि एवं दांतों की जड़ता भी नाश होती है। परन्तु विष, मूर्च्छा, मद, शोष, रक्तपित्त, रूक्ष एवं नेत्र रोगी—इनको कुल्ला थोड उष्ण जल के करना अच्छा नहीं होता। शीतल या उष्ण जल मे मुखप्रक्षालन करने से अनेक रोग शान्त होते है।

कफ की अधिकता में प्रातःकाल, पित्त की अधिकता मे दोपहर और वाताधिक्य मे सायंकाल कड़वे या सरसों के तेल का नस्य लेने से वाणी स्निग्ध, इन्द्रियाँ विमल और मुख सुगन्धित होने के साथ वली, पलित एवं व्यंग (झाई) नहीं होते। फिर नित्य अंजन का प्रयोग करें। क्षौर कर्म, नखकर्त्तनादि उपरान्त अभ्यंग, व्यायाम पुनः स्नान करके उचित ऋतु के अनुसार वस्त्र धारण करें। निर्मल वस्त्र धारण करने से यश, काम, आयु, शोभा, रुचि एवं आनन्द-वर्द्धक, वशीकरण होते हैं अन्यथा मलिन वस्त्र धारण करने से कण्डु कृमि जनन, अत्यन्तग्लानि, अशोभा व दरिद्रता की उत्पत्ति हो जाती है। अनुलेपन, पुष्पधारण, रत्नधारण, एवं पादुकाधारण प्रशस्त हैं। फिर मनुष्य को उचित

है कि वह दोष, कालादिक का विचार करके प्रातःकाल सायंकाल में गुण से युक्त आहार (विशेष विवरण आगे देखिए) का सेवन करें। पुनः ताम्बलू भक्षण एवं अल्पशयन का विधान है।

धूम्रपान (१६६१)

इस प्राचीनोक्त विधि का जैसा विकृतियों में महत्त्व है, वैसा आरोग्यावस्था में भी महत्त्व है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आजकल जो सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकू का धूम्रपान है, वह मूलतः इससे सम्बन्धित हो सकता, परन्तु व्यावहारिकता इससे भिन्न है। प्राचीन संहिताओं में उल्लखित धूम्रपान अत्युपयोगी चिकित्सा उपक्रम तथा स्वास्थ्य रक्षक है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य में आरोग्य तथा रोगों के उपचार दोनों प्रसंगों में इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया उपलब्ध होता है। सामान्य रूप से, धूम्रपान के लाभों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

१. वायु तथा कफ के रोगों का शमन
२. मुख, नासा, कर्ण, कण्ठ तथा शिर रोगो का शमन
३. इन्द्रियों की आरोग्यता
४. शरीर की पुष्टता
५. मन की प्रसन्नता
६. केशश्मश्रु तथा दन्त की दृढता
७. मुख सुगन्धि तथा विशदता
८. वाणी की स्पष्टता

धूम्रपान के विस्तृत क्षेत्र के सरल अध्ययन तथा क्रियात्मक हेतु उसका वर्गीकरण संहिताओं द्वारा किया गया है, जो तुलनात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत है।

चरक	सुश्रुत	डल्हण टीकाकार
१. प्रायोगिक	१. प्रायोगिक	१. प्रायोगिक
२. स्नैहिक	२. स्नैहिक	२. स्नैहिक
३. वैरेचनिक	३. वैरेचनिक	३. वैरेचनिक
	४. कासघ्न	
	५. वमनीय	

इस प्रकार मूलतः चरकोक्त तीन धूम्रपान प्रकार, जिनमें पाँचों भेदों का समन्वय किया जा सकता है, प्रचलन के अनुसार पांच भेद होते हैं। और वे अन्त—बहिःपरिमार्जन पर आधारित हैं।

प्रायोगिक

धूमपान के प्रयोग (Inhalation of gases or Vapours) का जो रूप है, उसकी प्राथमिक अवस्था प्रायोगिक धूमपान है। इस धूमभेद का स्वस्थ व्यक्तियों में विशेष रूप से करना स्पष्टतः निर्दिष्ट है और अनागत बाधा प्रतिषेध (Prophlylactic) के लक्ष्य से इसका स्वस्थ व्यक्तियों में नियमित प्रयोग लाभदायक हैं, ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं। इनके अनुसार, वात कफ के विकार यदि प्रबलता लिए हुए हों तो भी शान्त हो जाते हैं और ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के लिए विशेषतः उपयोगी है।

इस प्रायोगिक धूमपान के विधिवत् प्रयोग से कतिपय विकार शान्त हो जाते हैं अथवा इनकी उत्पत्ति ही नहीं हो पाती तथा इन्द्रियों को बल मिलता है। चरक का मत है कि निम्न रोगों में इस धूमभेद का प्रयोग लाभदायक है—

१. शिरःशूल, अर्धावभेदक
२. कर्ण पीड़ा, स्राव,
३. नेत्रपीड़ा, स्राव
४. पीनस, नासादुर्गन्ध, स्राव
५. मुखरोग, दुर्गन्ध, दन्तपीड़ा
६. हनुग्रह, मन्याग्रह
७. कास, श्वास व हिक्का
८. अतितन्द्रनिद्रा
९. बुद्धिमोह
१०. स्वरावसाद
११. क्षवथु
१२. खालित्य-पालित्य
१३. कण्डू
१४. कृमिरोग

सुश्रुत टीकाकार डल्हण ने स्पष्ट निर्देश किया है कि इस धूमभेद का उपयोग सदैव स्वस्थ व्यक्तियों में किया जाता है। जिससे कफ का उत्क्लेश पहले होता है तथा पुनः इस उत्क्लिष्ट दोष का अपकर्ष हो जाता है तथा सहयोगी रूप में वात का उपशमन होता है और इस प्रकार वात तथा कफ दोनों पर प्रभाव डालने से इसे प्रायोगिक धूमपान स्नेह तथा विरेचन के समान कार्य करता है।

इस धूम भेद को मृदु तथा साधारण नाम भी दिये गये हैं, क्योंकि इसको रोगरहित अवस्था में सामान्य रूप से प्रयोग किया जा सकता है। यह बात

कफनाशक है तथा नासा से तथा मुख से भी ग्राह्य है। इस धूम को लेने के लिए तीन-तीन या तीन-चार उच्छ्वास पर्यायक्रम से लेना चाहिए। इसे दन्त प्रक्षालन, स्नान, भोजन, शस्त्र कर्म के अन्त में प्रयोग किया जाता है। प्रायोगिक धूमपान में साधारण रूप में इन औषधियों को किया जाता है—कुष्ठ तथा तगर छोड़ कर एलादिगण के द्रव्य।

इस धूम प्रकार में धूम नेत्र की लम्बाई ४८ अंगुल रहे और वार्ते उसके अष्टामांश में रहे अर्थात् आठ अंगुल की। इसके अतिरिक्त अन्य नियम साधारण धूमपानविधि के अनुकरणीय होते हैं।

स्नेहिक

यह मध्यम शक्ति वाला धूमप्रकार है और यह वात शमन करता है। ऐसे धूमोपयोग में यदि रोगी कृश हो तो हीन मात्रा के प्रमाण में ही खींचे, परन्तु बलवान रोगी होने पर अश्रु स्राव होने तक पान करते रहना चाहिए। उसको मुख एवं नासा से ग्रहण किया जाता है। इसे मूत्रोत्सर्जन, क्षवथु, हसन, रुदन, मैथुन के अन्त न प्रयोग करने का विधान है। इसके निर्माणार्थ कतिपय औषधियों का प्रयोग होता है—

१. तिल
२. शिग्रु
३. अन्य स्नेहयुक्त फलों की मज्जा
४. मोम, सर्जरस, गुग्गुल आदि

वैरेचनिक

यह तीक्ष्ण प्रकार का धूमभेद है और इसे श्लेष्माकर्षक माना गया है इसको नासामार्ग से ग्रहण किया जाता है। इसके प्रयोग द्वारा दोषों का विरेचन कराया जाता है अतः रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण तथा विशद गुणों से युक्त है और कफदोष को उत्क्लेशन करते हुए उसका बाहर निष्कासन कर देता है (वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च)। यह गुरु दोषों का रेचन कराता है, अतः इसे वैरेचनिक धूम कहा जाता है। इस धूम को ग्रहण करने में यह क्रम रखना चाहिए, जब तक कि दोषों का बाहर निष्कासन होने लगे, तब तक विरेचन कराना चाहिए। इसे स्नान, वमन तथा दिवास्वप्न के अन्त में किया जाता है। इसके निर्माण में शिरोविरेचनीयद्रव्यों के कल्क का योग होता है।

कासघ्न

इस धूम को रोग विशेष की अवस्था में प्रयोग किया जाता है। अतः इसे आवस्थिक माना गया है (कासहरत्वात्कासघ्नः, स पुनरुर कण्ठरोगहरोप्यावास्थिक एवं) और यह श्वास तथा कास को नष्ट करता है अर्थात् उरःप्रदेश तथा कण्ठ के रोगों में व्यवहार योग्य समझा जाता है। कासघ्न धूमप्रयोग ग्रासान्तर में या ग्रासान्त में किया जाता है अर्थात् दो भोजन कालों के मध्य इसको खींचते हैं, जो वैरेचनिक धूम के समान क्रिया है। इसके निर्माण में कई औषधियों का उपयोग घटक के रूप में होता है—

१. कण्टकारी
२. वृहती
३. त्रिकटु
४. कासमर्द
५. हिंगु
६. इंगुदी
७. मनःशिला
८. गुडूची
९. कर्कटशृंगी
१०. अन्य कासघ्न द्रव्यों का कल्क

वामनीय

यह धूमभेद भी कासघ्न के समान आवस्थिक माना गया है। इसको मुख से ग्रहण किया जाता है। वामनीय धूम को तिल तण्डुल का यवागू मिलाकर, प्रयोग कराना चाहिए (तिलतंण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वामनीयः)। जब तक सम्यक् वान्त के लक्षण मिलें, इसे जारी रखना चाहिए। वामनीय धूम का निर्माण इन द्रव्यों में किया जाता है—

१. स्नायु
२. चर्म
३. खुर
४, शृंग
५. कर्कटास्थि
६. शुष्कमत्स्य
७. शुष्क मांस
८. कृमि तथा अन्य द्रव्यों का कल्क

अन्य ज्ञातव्य

धूमपान के जो विविध काल हैं, उनका उल्लेख भेदों के प्रसंग में अंकित है। सामान्य धूमपान की विधि यह होती है कि (विभिन्न धूम प्रकारों को पृथक्-पृथक् मार्गों से शरीर में ग्रहण किया जाता है।) कि धूम को पहले मुख से फिर नासा से पान करते हैं तथा धूम को मुख से ही निकालना होता है। मुख से खींचकर, उसे नासा से नहीं निकालना चाहिए अन्यथा प्रतिलोम गति

हो जाने से नेत्रों को हानिकारक है। इस प्रयोग में प्रसन्न चित्त होकर, आसन पर बैठ कर धूपवर्त्ति से अग्रभाग को घृत या तैल में डुबोकर तथा अग्नि से जलाकर वर्त्ति को धूम नेत्र (पाइप) में रखकर धूमपान करने का विधान बताया गया है।

रात्रिचर्या (१९६४)

दिन के कार्य-क्रम के बाद हम रात्रिचर्या पर पहुंचते हैं। बुद्धिमान पुरुष सायंकाल भोजन, मैथुन, निद्रा, मार्ग गमन और अध्ययन इन पांच कर्मों को त्याग दें क्योंकि शाम को भोजन करने से व्याधि, मैथुन का प्रयोग करने से गर्भ विकार, निद्रा लेने से दरिद्रता, पढ़ने से आयुहानि एवं मार्गगमन से भय हो जाता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में ही भोजन कर लेना चाहिए। भोजन मात्रा में कुछ कम और दुष्पाच्य पदार्थ न खावें। रात्रि के प्रदोष एवं अन्तिम काम के आनन्द को देने वाली प्यास, पित्त, दाहनाशक होती है। अच्छी शय्या पर सोना हृदय को बलदायक, पुष्टि, नींद, धैर्य देती है। थकावट नाश करती हैं, बुरी शय्या के विपरीत फल होते हैं। रात्रि को यथाऋतु नियमानुसार मैथुन (विशेष विवरण को आगे देखें) सेवन करना चाहिए।

ऋतुचर्या (१९७०-१९७२)

माघ आदि बारह मासों में दो-दो मासों के हिसाब से ६ ऋतुएँ होती हैं। शिशर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त। इन ऋतुओं में काल विभाग के कारण उत्तरायण व दक्षिणायण हो जाते हैं। आदान काल आग्नेय (उष्ण) और विसर्ग काल सौम्य होता है। इन दोनों कालों में से प्रत्येक के मध्य में मध्य बल, विसर्ग के अन्त तथा आदान के आदि में श्रेष्ठ बल, विसर्ग के आदि तथा आदान के अन्त में दुर्बलता बढ़ती है।

(१) हेमन्त ऋतु में शीतल, स्निग्ध, स्वादु, दीपन हैं। इस ऋतु में प्रातः काल भोजन मधुराम्ल लवण रस प्रयोग, अभ्यंग, सूर्यस्नान, श्रम इक्षु गेहूं पिट्ठी के पदार्थ, उष्ण जल से स्नान, स्त्रियों के सुखद व्यवहार, भारी तथा गरम रुई के वस्त्र धारण, नवीन अन्न, तिल कस्तूरी—हितकारी हैं। गुरु द्रव्यों को अग्नि पचाने में इस काल में समर्थ रहती है। (२) शिशर में अत्यन्त रूक्षता

भी पैदा हो जाती है। इस ऋतु में भी हेमन्त के नियमों का प्रयोग उचित है। शीतल एवं लघु अन्नपान त्याग देना चाहिए। (३) बसन्त ऋतु मधुर स्निग्ध एवं कफकर है। अतः वमन, नस्य, व्यायाम, उबटन, अनेक प्रकार के चावल, मूंग, यव तथा जंगली जीवों का मांस सेवन, शिरोविरेचन, स्त्रियों और काननों का सेवन, कटु, रूक्ष, उष्ण तथा हल्के पदार्थ सेवन करें। (४) ग्रीष्म ऋतु अत्यन्त रूक्ष, अति कटु एवं पित्तल, कफहर होती है। ग्रीष्म में मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, शीतल, पाचन में लघु, द्रवरूप, चीनी, सत्तू दूध शालि धान्य के चावल, मांस रस, दिन में सोना, शीतल जलपान हितकर हैं। (५) वर्षा काल में आस्थापन वस्ति, पुराना धान्य, जंगली मांस, मधु, काला नमक युक्त कांजी, हल्का शुद्धि युक्त वस्त्र एवं उबटन स्नान लाभकारी है। (६) शरद ऋतु-उष्ण, पित्तोत्पादक, मध्यम बलदायक है। शरद में तिक्तघृत पान विरेचन, रक्तमोक्षण, शालि, यव, गेहूँ, शारद पुष्पों की माला, निर्मल वस्त्र हंसोदक (सूर्य की किरणों एवं चाँदनी से तप्त व शीतल जल) हितकारी कहे हैं। शीतल जल भी शरद में अच्छा है। प्रत्येक ऋतु में इस विधि से जो मनुष्य आचरण करता है वह कभी भी ऋतु जनित भयंकर रोगों से युक्त नहीं होता। अतः उन ऋतुओं में प्रकुपित दोषों की हानि से बचने के लिए उन्हीं नियमों का पालन करना चाहिए।

प्रश्न—आहार और उसकी विधि पर प्राच्य मतानुसार प्रकाश डालिए।
(१९६७, १९७१)

उत्तर—महत्व—यह हमें पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं कि आहार शरीर के तीन मुख्य उपस्तम्भों में प्रथम आधार है। आहार क्या है ? इसकी उत्तरात्मक परिभाषा भी सरल है—अन्नमार्ग से जो कुछ शरीर के भीतर ले जाया जाता है, उसे आहार कहते हैं और शरीर में रसादि सप्त धातुओं के रूप में परिणत होकर शरीर अंगों का पोषण, रक्षा करने के साथ उसकी क्षति की पूर्ति करता है। शारीरिक शक्ति को बढ़ाता है और जीवित रखता है। इसके साथ ही सुश्रुतोक्त सामान्य नियमों का संकेत कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है—आहार पुष्टिकारक, तुरन्त बलकारक, देह को धारण करने वाला एवं आयु-तेज उत्साह-स्मृति-ओज और अग्नि का बढ़ाने वाला होता है।

विधान—मनुष्य को उचित है कि वह दोष कालादिक का विचार करके

प्रातः और सायं में जैसा चाहिए वैसे गुण से युक्त अन्न का भोजन करे। रस दोष एवं मल के पक्व हो जाने पर समय या असमय में जब भूख उत्पन्न होती है तो वही अन्न ग्रहण करने का समय कहा है। भोजन के पच जाने पर शुद्ध डकार, मल मूत्र के वेग का उचित त्याग, शरीर का हल्कापन, भूख और प्यास लक्षण होते हैं। हाँ, अत्यन्त भूख चाहे जब कभी, चाहे अधीरता में लगे तो भी भोजन कर लेना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे के भीतर भोजन नहीं करना चाहिये और अधिकतम दोपहर तक उपवास भी निषिद्ध है। लम्बी रात्रियों में प्रातः भोजन कर सकते हैं। समय के पूर्व अथवा उपरान्त किमाधिक भोजन नहीं करना चाहिए। अन्यथा मनुष्य को तज्जन्य व्याधियों का शिकार होना पड़ता है। भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में कोई सर्वत्र व्यापी नियम लागू नहीं किया जा सकता, अपनी आवश्यकता, आयु, श्रमादि के अनुसार खा लें।

सदैव आहार एकान्त में लक्ष्मी प्राप्त होने के कारण करना चाहिए। अच्छे लोगों से युक्त, विस्तृत और पवित्र रसोईघर (महानस) बनाना चाहिए और सुन्दर-सुगन्धित-सुसंस्कृत भोजन, सदैव गीले पैर भोजन करें, क्योंकि इससे दीर्घायु प्राप्त होने का शास्त्रों में निर्देश है। भोक्ता स्नान कर कोमल श्वेत पवित्र वस्त्रों को धारण कर प्रसन्न हृदय से प्रिय पुत्र, मित्रों सहित हित सम भोजन, रुई से पूर्ण, सुन्दर मोटे आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुंह करके, सेवन करें।

राजा महाराजाओं के यहाँ प्राचीनकाल में राजवैद्य का कार्य विष से राजा के अन्नपान की रक्षा करना भी होता था। 'महानसिक वैद्य' वही कहलाता था जो आयुर्वेद में अभ्यास कर चुका हो, सबका प्रिय, युक्ति और कारणों का ज्ञाता, वैज्ञानिक, मदालस्यादि से रहित, कुलीन, धार्मिक, मेधावी, चतुर और विष विज्ञान का वेत्ता हो।

रसोईघर (महानस) सभी योग्य वस्तुओं से युक्त हो। रसोई घर के पात्रों व उपकरणों से सभी परिचित हैं। आयुर्वेद में सूदकार (रसोइया), परिवेषक (परोसने वाला), महानस वैद्य (रसोई का वैद्य), पौपिकाकार (मालपुवा बनाने वाले), औदनिक (भात पकाने वाले), महानसिक वोढार (सहायक दाल पकाने वाले) आदि कर्मचारियों के विभिन्न गुण वर्णित हैं।

पाक पात्र मिट्टी के और इसके अभाव में लोह के हों। इससे नेत्र रोग,

ववासीर में लाभ पहुँचता है। कांसे के बर्तन का भोजन हितकर, बुद्धिदाता और पवित्र एवं ताम्र पात्र का अरुचिवर्धक, अम्लपित्त कारक है। जल पात्र ताम्र का हो अथवा अभाव में मिट्टी का हितकर है। भोजन सेवन करने के पात्र अनेक धातुओं आदि के निर्मित होते हैं, जिनके गुण भी पृथक्-पृथक् कहे गए हैं। घृणित पदार्थों से युक्त पात्र की शुद्धि मिट्टी और जल से उनकी गंध नष्ट हो जाने पर होती है। वाणी द्वारा प्रमाणित, जल से धोया हुआ एवं अज्ञात-पात्र सर्वथा पवित्र होता है। विभिन्न पात्रों की शुद्धि मिट्टी, अम्ल, क्षार और जल से करनी चाहिए। रसोईघर भोक्ता के सम्मुख निर्मल विस्तृत और सुन्दर पात्र में भोजन सुसंस्कृत प्रलेह (चटनी) रखे। फल और शुष्क भक्ष्यों को दक्षिण पार्श्व में, द्रव रस-पानी-पेया-दूध आदि पदार्थ वाम पार्श्व में और गुड़ राग षाडव मध्य में आगे रखकर भोजनोपकल्पन क्रिया सम्पन्न करे। भोजन हरिस्मरण और घी, सूर्य अग्नि आदि मांगलिक वस्तुओं के उपरान्त ग्रहण करे।

विशेषायतन

यहाँ आहार विधि विशेषयातनों की गणना आवश्यक है। यह प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था और उपभोक्ता आठ हैं। इसका वर्णन आगे किया गया है। भोजन मनुष्य को उदर के दो हिस्से करना चाहिए। शेष हिस्से वातसंचार एवं जल के लिए छोड़ देना चाहिए। भोजन में इस क्रम से रसों का सेवन करे आरम्भ में मधुर, मध्य में अम्ल और लवण, तदन्तर शेष रस। जो अधिक स्वादिष्ट हो उसको उत्तरोत्तर खाना चाहिए। मध्य-मध्य में थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए। आहार चूष्य, पेय, लेह्य, भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य—छः प्रकार का होता है।

इस प्रकार हित भोजन करने वाला मनुष्य जितात्मा होकर एवं नीरोग रहकर सज्जनों द्वारा आदृत होकर सौ वर्ष जीता है। इस सात्म्यज्ञ को मानसिक विकारों के अतिरिक्त शारीरिक विकारों की सम्भावना नहीं रहती है।

प्रश्न—आहार व्यवस्था पर प्राचीन तथा आधुनिक पद्धति से प्रकाश डालिए। (१९६५,६७)

आहार विधि विशेषायतन (१९६८)

उत्तर—आयुर्वेद में आहार विधि के आठ विशेष आयतन वर्णन किये गये हैं।

१. प्रकृति	५. देश
२. करण	६. काल
३. संयोग	७. उपयोग संस्था
४. राशि	८. उपभोक्ता

इन विधियों में सर्वप्रथम प्रकृति का क्रम आता है। प्रकृति का तात्पर्य स्वभाव है। आहार और औषधि द्रव्यों का स्वाभाविक गुरु आदि गुणों का योग होता है। उदाहरण के रूप में उड़द गुरु हैं। तथा मूंग स्वभावतः लघु हैं। स्वाभाविक द्रव्यों के संस्कार को करण कहते हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य गुणों के आधान को संस्कार, नाम दिया जाता है। इन गुणों की उत्पत्ति जल तथा अग्नि के संयोग, स्वच्छता, मन्थन, देश, काल के कारण, भावना आदि से तथा दीर्घकाल तक पात्र विशेष में स्थापना रहने से यह क्रिया सम्पन्न हो जाया करती है।

दो अथवा अधिक द्रव्यों के एकत्र हो जाने को संयोग कहते हैं। यह संयोग विशेष क्रिया संपादक है जो एकाकी द्रव्य इस प्रकार के कार्य करने में समर्थ नहीं है। उदाहरण के लिए मधु व घृत तथा मत्स्य व दुग्ध का प्रयोग संयोग विरुद्ध है। मधु तथा मत्स्य का मिश्रण भी इसी में समाविष्ट है।

सर्वग्रह तथा परिग्रह को राशि कहा जाता है। यह मात्रा तथा अमात्रा के परिणाम को निर्णय करने के लिए रखी गई है। सम्पूर्ण आहार को मिश्रित करके पिण्ड रूप में प्रमाण ग्रहण करना सर्वग्रह तथा इसके विपरीत एक-एक द्रव्य का प्रमाण-ग्रहण होता है।

आहार विधि विशेषायनत में पाँचवाँ स्थान देश का है। इसका अर्थ स्थल है। काल नित्यग तथा आवस्थिक दो भेद युक्त होता है। इनमें प्रथम प्रकार का काल ऋतु सात्म्य की तथा आवस्थिक काल रोग की अपेक्षा करता है। उपयोग संस्था का अभिप्राय उपयोग का नियम है। यह भोजन के पाचन हो जाने वाले लक्षणों की अपेक्षा करता है। जो इस आहार का उपयोग करता है, उसे उपभोक्ता कहते हैं।

इस प्रकार वर्णित इन आठ विधियों के अनुसार भोजन ग्रहण करने का शास्त्र में विधान है। इन आयतनों की विशेषतायें शुभ व अशुभ फलदायक तथा आपस में लाभदायक होती हैं। प्रमाद या जिह्वा के लोभवश अहित

भोजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह विधान स्वस्थ तथा रोगी दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिये हैं। भोजन सदैव उष्ण करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का भोजन स्वादिष्ट लगता है। यह उदर की अग्नि को तीव्र करने वाला, शीघ्र पचने वाला, अनुलोमन कर्त्ता तथा कफ को परिशोषण करने वाला है।

भोजन स्निग्ध होना चाहिए, उक्त गुणों के अतिरिक्त इस प्रकार का भोजन शरीर का पोषक, बलवर्द्धक तथा वर्ण प्रसादकर है। मात्रापूर्वक किया गया भोजन वात, पित्त तथा कफ को दूषित न करते हुए आयुष्य गुण वाला होता है और इसका पाचन भी बाधारहित हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मात्रा द्रव्य पर निर्भर हैं। द्रव्य के अनुसार गुरु अन्न की पूर्ण मात्रा का आधा या पौन भाग ही ग्रहण करना चाहिए। इसी तरह लघु द्रव्यों को पूर्ण उदर भरकर लेना हितकारी नहीं होता। वस्तुत: मात्रा व अमात्रा आहार की राशि की कल्पना के अनुसार होती है। भोजन करने के बारह विचारों का भी उल्लेख मिलता है—शीत, उष्ण स्निग्ध रूक्ष, द्रव, शुष्क, एककालिक, द्विकालिक, औषधि युक्त, मात्रा हीन, दोषशामक और वृत्यर्थ।

आधुनिक मत (१९६७)

हमारे शरीर में ह्रास क्रिया हर समय चालू रहती है, अत: शरीर के संचालन के लिए यह आवश्यक है कि किसी वस्तु द्वारा उसकी पूर्ति की जावे। सारांशत: भोजन से शरीर के नष्ट हुए कोष (Cell) के स्थान में नए सैल आ जाते हैं। इससे शरीर ज्यों का त्यों रहता है। इस प्रकार शारीरिक कमी की वृद्धि, धातुओं की वृद्धि, गर्मी पैदा करना और शक्ति का उत्पादन अन्न के कार्य होते हैं।

हमारे भोजन के पाँच तत्त्व होते हैं—

(१) प्रोटीन—(Protiens)—ऐसे खाद्य पदार्थों को नाइट्रोजन्स द्रव्य कहते हैं। यही प्रधान पदार्थ हैं। इनकी रचना इस तरह है—नाइट्रोजन १६, कार्बन ५४, आक्सीजन २२, हाइड्रोजन ७, गंधक १ प्रतिशत पाया जाता है। साथ ही साथ इनके पोषक गुण के अनुसार प्रोटीन के दो भाग योग्य प्रोटीन (True protiens) और अयोग्य प्रोटीन या (Albuminoid group)

एलव्युमिनायड ग्रुप होते हैं।

शारीरिक धातुओं के प्रोटीनसैल के घटक होते हैं, अतएव इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। शरीर के पाचक आदि रस प्रोटीन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी शक्ति तथा उष्णता उत्पन्न कर कार्बोहाइड्रेट का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही शरीर में वसा (Fat) भी निर्माण कर सकते हैं। प्रमुख कार्य पूर्ति और वृद्धि को ध्यान में रखते हुए बालकों के लिए प्रोटीन विशेष आवश्यक है। मानसिक श्रम वालों के लिए भी प्रोटीन उपादेय है। प्रोटीन मांस, मछली, अण्डे, दूध आदि और सूखे मेवे, गेहूँ, दालों में अधिकतर प्राप्य हैं।

(२) कर्बोहाइड्रेट (Carbohydrate)—यह कार्बन, हाइड्रोजन व आक्सीजन के ही योगिक हैं। मुख्य कार्य ताप व शक्ति उत्पादन है। शीत देश में शारीरिक श्रम करने वालों को कार्बोहाइड्रेट विशेष आवश्यक है। यह वनस्पतियों, खाद्य, शर्करा, साबूदाना, आलू, रतालू व चावल आदि मे प्राप्य है। अति सेवन मेद को बढ़ाता है।

(३) मेद (Fat)—यह ग्लिसरीन और फेटीएसिड के यौगिक हैं। यद्यपि इसकी भी रासायनिक संरचना कार्बोहाइड्रेट जैसी ही है तथापि हाइड्रोजन व आक्सीजन पानी बनाने में जितनी लगती है, इससे कुछ कम मात्रा में होती है। इसके शारीरिक एल्ब्यूमिन के ह्रास को कम करने के मुख्य कार्य होने से इसे एल्ब्यूमिन ह्रास रक्षक (Albumin sparing food) भी कहते हैं। शरीर में उष्णता और शक्ति भी यह उत्पन्न करता है। प्रोटीन का सहयोगी है। १. माशा स्नेह पदार्थ से जितनी शक्ति या ताप पैदा होता है, उतनी शक्ति या ताप पैदा करने के लिए २॥ माशा कार्बोहाइड्रेट की आवश्यकता पड़ेगी। घी, मक्खन, मछली का तैल, नारियल का तैल, तिल का तैल—यह द्रव्य स्नेह वर्ग के मुख्य पदार्थ हैं। आवश्यकता से अधिक मेद ((Fat) का सेवन शरीर मे ंचित शक्ति का कार्य (Source of Energy) करता है।

(४) वानस्पतिक अम्ल (Vegetable Acids)—यह भी तन्दुरुस्ती के लिए जरूरी होते हैं। यह पाचन क्रिया के समय ये कार्बोनेट में बदलकर और रक्त व शरीर के अन्य द्रव्यों की क्षारीयता (Alkalinity) स्थिर रखने में बहुत सहायक होते हैं। इनको भोजन से पूर्णतः पृथक् कर दिया जावे तो रक्त

की स्थिति खराब हो जाती है। वानस्पतिक अम्लों में टार्टरिक, सायट्रिक, आकजेलिक अम्ल मुख्य है। ताजे वनस्पतियों या फलों में स्वतन्त्र रूप में या क्षारिक रूप में प्राप्य हैं।

खनिज क्षार—ये शरीर के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं। इनमें लवण (Sodium chloride), चूना, सोडियम, पोटैशियम मैग्नेशियम तथा लौह के फॉस्फेट आदि होते हैं। यह शरीर के जीवित रहने के लिए अत्यावश्यक हैं। लवण रहित आहार मारक भी हो सकता है। कैलशियम फास्फेट अस्थियों की वृद्धि के लिए विशेष आवश्यक होने से बच्चों को लाभकर है। यह मुख्यतया दूध, चावल, अण्डों में पाये जाते हैं। यद्यपि नमक का कुछ भाग खाद्य-द्रव्यों में मिश्रित होता है तथापि उसकी जरूरत अधिक होने से स्वतन्त्र रूप में भी इसका प्रयोग करना पड़ जाता है।

(५) जल—शरीर के भीतर होने वाले रासायनिक परिवर्तनों के लिए पानी तो अत्यावश्यक है। शरीर की धातुओं के सैल जलवासी (Aquatic) होता है। खाद्य द्रव्यों का पाचन तथा सात्मीकरण जल की ही सहायता से होता है। शारीरस्थ पाचन क्रिया दूषित पदार्थ तथा शारीरिक ह्रास पूर्ति तथा वृद्धि में उत्पन्न होते हैं। वे मल-मूत्र स्वेद के रूप में सरलता से शरीर में जल के रूप में बाहर निकल जाते हैं। रक्ततरलता एवं रक्त परिभ्रमण (Blood circulation) के लिए भी जल आवश्यक है।

यद्यपि जल की राशि मनुष्य के रहन-सहन, परिश्रम, देश, आहार एवं ऋतुभेद पर आश्रित है तथापि लगभग १०० औंस पानी की आवश्यकता रोजाना होती है। २०-३० प्रतिशत जल खाद्य-द्रव्यों से, ७-८ प्रतिशत खाद्य के पाचन से शरीर के भीतर तैयार हो जाता है, शेष जल दूध आदि के रूप में प्राप्त होता है। प्रतिदिन शरीर से लगभग १०० औंस पानी (३५ प्रतिशत त्वचा द्वारा, २० प्र० श० फेफड़ों द्वारा, ३ प्र० श० मल, थूक द्वारा और शेष मूत्र द्वारा) निकल जाता है। प्रतिक्षण जल तत्व के शरीर से बाहर निकलने का अनुभव हमें प्यास (Thirst) के रूप में होने लगता है।

इन पांच प्रकार के तत्त्वों के अतिरिक्त किन्हीं और द्रव्यों की भी आवश्यकता रहती है। उक्त प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि पदार्थ शुद्ध रासायनिक अवस्था में किसी प्राणी को दिया जाय तो उसकी पुष्टि व विकास ठीक तरह

से नहीं हो सकता—अतः इस प्रयोग से यह परिणाम निकलता है कि प्राकृतिक खाद्य द्रव्यों में (विशेषतः वानस्पतिक खाद्य द्रव्यों में) ऐसे कोई द्रव्य विद्यमान रहते हैं, जिनकी सहायता से खाद्य पदार्थ शरीर की पुष्टि और विकास भली-भाँति कर सकते हैं। प्राणियों के शरीर में पाये जाने पर भी यह वनस्पतियों मे आते हैं। इन द्रव्यों को जीवतिक्ति या जीव द्रव्य (Vitamin) कहा जाता है। प्राकृतिक खाद्य पदार्थों में यह उचित मात्रा में. प्राप्त होते हैं। शरीर में इनके कार्य करने की पद्धति के विषय मे निश्चित नहीं कहा जा सकता है विटामिन्स खाद्य पदार्थों के बासी अवस्था, खूब जलाने के बाद नष्ट हो जाते हैं। यह विटामिन A, B, C, D कई प्रकार के होते हैं (विशेष विवरणार्थ आगे देखिये)।

इस प्रकार इतने विवेचन से स्पष्ट है कि उपरोक्त सभी द्रव्यों से युक्त भोजन करना चाहिए। प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज वनस्पति अम्ल व जल तथा विटामिन्स का प्रयोग होते रहना भी शरीर के लिए जरूरी है, अन्यथा अनेक अभावजन्य व्याधियां (Defficiency diseases) देखी जाती हैं।

आहार मात्रा (१९६६, १९७०, १९७४)

अब भोजन की मात्रा आदि जानने के प्रश्नोत्तर में अनुभाविक (Emperical) और प्रायोगिक (Physiological) विधियों का नामकरण होता है। प्रथम पद्धति में विश्व में प्रत्येक जाति के खाद्य, संगठन, बल, क्षमता आदि को देखकर आहार मात्रा राशि का निर्णय किया जाता है। पर द्वितीय पद्धति अधिक संतोषजनक है। प्रतिदिन होने वाले शारीरिक शक्ति के क्षय की मात्रा के समान ही भोजन मात्रा निश्चित करनी होती है। देह क्षय जनित द्रव्यों में प्रधान-नाइट्रोजन व कार्ब-उपादान-मल मूत्र स्वेद आदि से शरीर से बाहर निकलते हैं। इनकी पूर्ति प्रोटीन या मांस जातीय आहार से होती है। इसी प्रकार शरीर द्वारा निष्कासित कार्बन, वाष्प, उष्णता को जानकर शालि तथा स्नेह वर्गीय खाद्य. द्रव्यों की राशि निश्चित होती है। खाद्य द्रव्यों की शक्ति-दायकता की रूपान्तर जो उष्णता है और इसी गर्मी के मापन के विज्ञान में कैलोरी (Calorie) नाम दिया गया है। रात-दिन में बिना परिश्रम, सामान्य परिश्रम, विशेष परिश्रम के अनुसार प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट की मात्रायें क्रमशः ५, १०, १६ और १½, ५, १० और ३०, ४२ (तोले)—आवश्यकता

पड़ती है। प्रथम संख्यायें प्रोटीन की हैं—फिर आगे क्रमानुसार समझना चाहिए। परिश्रम के हिसाब से क्रमशः दो हजार, तीन हजार, चार हजार कैलोरी शक्ति आवश्यक है।

आहार नियोजन (Normal Diet)

किसी व्यक्ति के आहार का निश्चय करने के लिए कतिपय तथ्यों का ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि जैसा कि संकेत दिया जा चुका है, सभी मनुष्यों के लिए एक सामान्य आहार निश्चिय नहीं किया जा सकता है, इसमें उनके श्रम, स्वभाव आदि तथ्य मुख्य कारण हैं। सामान्य रूप से यह समझना चाहिये कि छः मास के पूर्व शिशु को स्टार्चयुक्त कोई पदार्थ नहीं दिया जाता है और केवल दुग्ध ही मुख्य आहार रहता है। आहार नियोजन के विचारार्थ कतिपय आधारों को दृष्टिगत करना चाहिये—

(१) सामान्य आहार में खाद्य के जो आवश्यक उपादान हैं, यथा—प्रोटीन, फैट्स, कार्बोहाइड्रेट्स, विटामिन्स, साल्ट् तथा वॉटर, वे आवश्यक ही उचित तथा आवश्यक परिमाण में उपस्थित रहने चाहिए।

(२) आहार की मात्रा व्यक्ति को कुल आवश्यक शक्ति (Proportional total of energy) पर निर्भर करता है और यह शक्ति की आवश्यक मात्रा में कई मानदण्ड रखे जाते हैं—

(क) बी० एम० आर० (B.M.R.) का सरफेस एरिया

(ख) शरीर वृद्धि में अनुकूलता—विशेषतः प्रोटीन मात्रा

(ग) श्रम का स्वभाव—मानसिक श्रम ४०० c.

हल्का श्रम ७०० c.

मध्यम श्रम १००० c.

भारी श्रम २००० c.

(घ) पचन, शोषण तथा पाक के समय कमी—भक्षण के लिए ली गई सामग्री में शोषण होने तक स्वतः कमी।

(३) भोजन की मात्रा मे फेट, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट—ये तीन खाद्योपादन उचित प्रमाण में अनुपाततः रहना चाहिये, जिससे कि किटोसिस (Ketosis) स्थित न हो। इस आनुपातिक निर्धारण को दो आधारों पर रखा जा सकता है—

प्रथम	द्वितीय	
(क) प्रोटीन भाग	१०-१५ प्र. श.	कुल शक्ति की
(ख) फेट १ भाग	२०-३५ प्र. श.	मात्रा का ग्रहण
(ग) कार्बोहाइड्रेट ४ भाग	६०-७० प्र. श.	

(४) खाद्य सामग्री का ग्रहण या चुनाव करना कई विचारों पर आधारित है, जिसमें व्यक्ति तथा आहार दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है—

(क) खाद्य की पचन सीमा (ग) आदत, धर्म तथा समाज
(ख) व्यक्ति की आयु (घ) मूल्य

प्रश्न—जीवनीय द्रव्य (Vitamins) (१९६७, ६८, ७४) एवं विभिन्न खाद्य द्रव्यों का संक्षेपतः विवरण दीजिए (१९६५, ६६)

उत्तर—दहन, पोषण प्रभृति क्रियाओं के लिए प्रोटीन आदि उपादान द्रव्य विशुद्ध रूप में लिये जायें तो उनके कर्मों की दृष्टि से आहार पूर्ण होता है, परन्तु इनके सेवन काल में हम उन द्रव्यों से वंचित रह जाते हैं जो प्रकृति बनाती है। साथ ही कुछ पाक-संस्कारों से भी ये द्रव्य समाप्त हो जाते हैं—इनको ही जीवनीय (Vitamin) कहते हैं। यह प्रायः अनेक उद्भिदों में पाये जाते हैं। विटामिन के अयोग या हीन योग से विकार पैदा होते हैं। बाल्य तथा यौवन काल में यह विशेष आवश्यक है। इनकी रासायनिक संरचना के विषय में काफी जानकारी प्राप्त हो चुकी है। अनेक विटामिन्स कृत्रिम (Synthetic) बनाये जाने लगे हैं और अनेक स्फटिक रूप से नैसर्गिक पदार्थों से प्राप्त हो चुके हैं। अब केवल उनके विलायक (घोलक) के आधार पर ही जलविलेय (Water soluble) और स्नेह विलेय (Fat soluble) नाम दिये गये हैं। इनकी आवश्यक मात्रा अति अल्प होती है। विटामिन तो स्वरूपतः आहार द्रव्य हैं, औषध द्रव्य नहीं।

१. फैट सोल्यूबिल-विटामिन 'ए'—(१९६८) इस जीवनीय के संयोग (समयोग) से जीवकोषों (Cells) की ओर परिणामतः सम्पूर्ण शरीर की पुष्टि, क्षमता (Immunity) अर्थात् संक्रामक रोगों का प्रतिबन्ध और रतौंधी (Nyctalopia) का उत्पन्न न होना परिलक्षित होते हैं। बाल्यावस्था में शरीर की वृद्धि हेतु यह विशेष रूप से आवश्यक है। यह विटामिन A सूर्य के प्रकाश में हरित उद्भिजों में निर्माण होता है। यह हरे साग, सब्जी, मूली,

गोभी, गाजर आदि में और अन्य पदार्थों, यथा—मछली का तैल, अण्डा, ताजा मक्खन, दूध गेहूं आदि शूकधान्य, वसारहित मांस आदि में प्राप्त होता है।

२. फैट सोल्यूबिल विटामिन-डी (१९९९)—जीव द्रव्य A के समान यह भी उन्हीं द्रव्यों में पाया जाता है। पर न्यूनाधिक प्रमाण में। पर वह A की अपेक्षा अधिक स्थायी माना गया है। विटामिन डी का मुख्य कार्य अस्थियों में रिकेट्स (फक्क Rickets) कृमिदन्त (Dental caries) प्रभृति रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्य की रोशनी—इसका उपादान सदैव स्मरण रखना है। यह अल्ट्रावायोलेट किरणों द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है।

३. विटामिन-के (फैट सोल्यूबिल)—यह आधुनिकतम जीवनीय रक्त-स्तंभक जीव द्रव्य (Coagulation Vitamin) है। यह प्राथोम्बिन नामक एक रक्तस्कन्दन (Antihaemorrhegic) उपयोगी द्रव्य को भी उत्पन्न करता है। यद्यपि आहार में यह पर्याप्त है तथापि इसके अन्त्रों द्वारा ग्रहण (शोषण) के लिए यकृत पित्त आवश्यक है। हरे.साग-सब्जियों के साथ ही यह विटामिन 'के'—पक्वाशय में कई जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

४. फैट सोल्यूबिल विटामिन-ई—यह विटामिन गर्भस्थिति कारक होने से 'प्रजास्थापना जीवनीय' (Antisterlity Vitamin) के नाम से भी प्रचलित है। इसकी कमी से स्त्री वन्ध्या हो जाती है। यह सबसे अधिक अंकुरित गेहूंओं के तेल (Wheet germ oil) में प्राप्त है। साथ ही अण्डे के पीतांश, सलाद (Lettuce), जैतून के तेल आदि में मिलती है। जांगम स्नेहों में अप्राप्य है। दूध में सूक्ष्मांक होती है।

५. वाटर सोल्यूबिल विटामिन-बी (१९७४)—कुछ समय बाद यह विदित हो गया कि विटामिन 'बी' एक ही जीवनीय नहीं है, इसके वर्ग एवं रासायनिक संरक्षण, के हिसाब से मूल नाम के साथ कुछ अंक लिख दिये जाते हैं यथा—विटामिन बी १, बी २, बी ३, बी ४, बी ५, बी ६,। फिर लाक्षणिक द्रव्य से काफी समता युक्त होने से जल मिश्र योग का प्रयोग करना होता है तो 'विटामिन बी कम्पलेक्स' कह दिया जाता है।

विटामिन बी १ नाड़ी शोथ प्रतिबन्धक (Anti neuritic) है। इनकी कमी से बेरी-बेरी रोगोत्पत्ति स्वाभाविक है। किसी के मत से इसकी कमी से अधिवृक्क ग्रन्थियों का प्रमाण भी बढ़ जाता है। इसकी उपस्थिति में कार्बो-

हाइड्रेटों का दहन पूर्ण रूप से होता है। प्राय: सभी शूक धान्यों एवं शिम्बी धान्यों में प्राप्त है। अण्डों के पीतांश, यकृत, मटर, सेव, मेवे, वृक्क आदि में विशेष कर पाया जाता है। इसकी कमी पाचक संस्थान सम्बन्धी रोग भी कर सकती है।

विटामिन बी २ को रिबोफ्लेविन (Riboflavin) अथवा (Vitamin G) भी कह सकते हैं। कोषों में दहन क्रिया—इसका कार्य है। इसकी कमी में ओष्ठ समीपस्थ त्वचा विकृति, जिह्वा के विशेष धातु की खाराबी, नेत्र गोलक के रोग (केरेटाइटिस आदि), त्वचा का शुष्क पाक (डर्मेटायटिस) आदि होते हैं। नवांकुरित पत्ते, यकृत, अण्डे की सफेदी (पीतांश), दुग्ध फलों में होता है और ताप को अधिक सहनशील है।

विटामिन बी ३ सर्वप्रथम तम्बाकू से निकाला गया था। (तम्बाकूनाइड निकोटीन से)। बाद में इसकी जीवनीयता का पता लगा था। यह विटामिन भाग पैलेग्रा (Pellagra) नामक रोग की रोकथाम करता है। यह बी ३ कार्बोहाइड्रेट्स की धातुपाक में महत्वपूर्ण हिस्सेदार है। बिना छना आटा और यीस्ट में बहुलता से प्राप्त है।

विटामिन बी ६ को पायरीडाक्सन (Pyridoxine) भी कहते हैं। इसका हीन योग पैलेग्रा रोग उत्पन्न करता है।

६. वाटर सोल्यूबिल, विटामिन सी (१९७४)—विटामिन 'सी' की कमी से स्कर्वी होता है यत: (Scurvy Ascorbic acid) (स्कार्विक एसिड) भी कहा जाता है। यह विटामिन विशेषत: ताजे फलों में फूलो मे फूल गोभी जैसे तरकारियां तथा प्याज, आलू प्रभृति कन्दों तथा क्षारों की अपेक्षा अम्ल द्रव्यों में अधिक प्राप्त होती है। पकाने से यह नष्ट हो जाता है। आमले, मिर्च (काली) मे काफी होता है। यह स्कर्वी रोग मे विशेष प्रयोग की जाती है।

७. विटामिन पी—यह निम्बू स्वरस मे बहुलता से प्राप्त है। केशिकाओ से होने वाले रक्तस्राव पीड़ितो मे एस्कार्विक एसिड से भी अधिक अच्छा है। इसे सिट्रिन (Citrin) भी नाम दिया गया है।

८. विटामिन एच—इसे बायोटिन (Biotin) भी कहा जाता है, जो कि वनस्पतिक जगत में अति व्याप्त है, इसकी कमी से मानव में आलस्य, तन्द्रा, त्वचा व रक्त विकार आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यह बीजों में खूब मिलता है।

इस प्रकार सभी विटामिन्स पर संक्षेपतः प्रकाश डाला गया है। अब प्रश्न के द्वितीय खण्ड खाद्य द्रव्य पर प्रकाश डालेंगे।

मुख्य खाद्य उत्पादन

दूध—ताजे दूध में प्रातः उभय प्रतिक्रिया (Amphoteric-Reaction) होती हैं। यदि प्रतिक्रिया अम्ल (Acidic) हो तो जीवाणु जन्य लेक्टिक (Lactic) या ब्युट्रिक एसिड का निर्माण समझे एवं तरुणा या सद्यप्रसूता होने पर प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkalin) होती है। दूध की गुरुता सामान्यतः १०२७ से १०३४ तक होती है। दूध में ३% प्रोटीन, दुग्ध शर्करा (Lactose) ५—६% एवं विटामिन भी उपस्थित रहते है। स्त्री के दूध में जल की मात्रा सबसे अधिक पाई जाती है। दूध में सामान्यतः थेति सी० सी० १०० से ५०० जीवाणु पाए जाते हैं। दूध को दोषों से बचाने के लिए निर्जन्तुकरण (Sterilisation), पास्चर विधि (Pasteurization) शुष्कीकरण, सान्द्रिकरण (Condensation), उत्क्वथन (Boiling) आदि करते हैं।

दही—(Curd) यह दूध पर लैक्टिक एसिड निर्माणकर्त्ता जीवाणुओं से तैयार होता है। दही मे दुग्ध शर्करा ३.६×३.७० प्रतिशत मेद पाका जाता है। दही में क्षीराम्ल जीवाणु विद्यमान रहने से अन्य जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। दही महास्रोतस में आहार के हानिकारक विघटन को रोकता है। इससे आन्तस्थ जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

शूकधान्य (Cereals)—ये 'ग्रामिनीवर्ग' की वनस्पतियों के बीज हैं इन गेहूं, चावल आदि को ९०% लोगों का खाद्य माना जाता है। इनमें करीब ७०% कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, ६—१८% और कुछ स्नेह, खनिज पाये जाते हैं। गेहूं की भूसी में सर्वाधिक प्रोटीन. सूजी में कार्बोहाइड्रेट अधिक होते हैं। शिम्बी-धान्य के अन्तर्गत 'लेम्यूमिनोसी वर्ग' की वनस्पतियों के बीज होते हैं। प्रधान खाद्य द्रव्य अरहर, मूंग, चना आदि है। मसूर की दाल अधिक खाने से उसके स्तम्भ मरीखा रोग (Spastic Paraplegia) उत्पन्न हो जाता है।

कन्दवर्ग एवं शाक (Vegetables)—कन्द वनस्पतियों की स्टार्च रूप में संचित संशक्ति है, आलू, रतालू, प्याज, मूली, गाजर आदि आलू का सेवन विशेष होता है। यह पोटेशियम सायट्रेट युक्त हैं। शाकों, (गोभी, ककड़ी, केला, चिचिण्डा आदि) में पौष्टिकाश कम होते हुए खनिज सार की पूर्ति हो जाती

है। इनमें सैल्यूलाज मात्रा भी अधिक पाई जाती है।

फल-फूल और सूखे मेवे (Fruits and Nuts)—खाद्य द्रव्यों में नींबू, नारंगी, आमों आदि फलों का महत्व है। फलों में फल शर्करा (Laevulose) फ्रूट सेली, सन्द्रिय वानस्पतिक अम्ल (सायट्रिक, टार्टरिक ओग्जेलिक, म्यूलिक) आदि पाये जाते हैं। इसका पौष्टिकांश फल शर्करा नामक कार्बोहाइड्रेट पर आधारित है। कच्चे आम जल भाग में और पके आम में कार्बोहाइड्रेट भाग में में पाया जाता है। सूखे मेवों में पौष्टिकांश अधिक मात्रा में रहता है। इनमें मेद ५०-६०% पाया जाता है।

शर्करा व शहद—गुड़, खांड, शक्कर-गन्ने के रस से बनने वाले पदार्थ हैं। शर्करा ६५% सेक्रारोज (Saccharose) और २% पानी पाया जाता है। आंतों में शर्करा ग्लूकोश एवं लेव्यूलोज में परिवर्तित होकर उसी रूप में शोषित हो जाती है। अति सेवन अम्लपित्त (Acidity) पैदा करता है। शर्करा जैसा विदाही नहीं है।

पार्थिव (Mineral) द्रव्यों में लवण, लौह, कैलसियम, सोडियम आदि का समावेश हो जाता है।

प्रश्न—जल की अशुद्धियां और उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव सविस्तार बतलाइए। (१९६९, १९७३, १९७४)

उत्तर—जल की अशुद्धियां—शरीर के लिए जल एक विशेष आवश्यक तत्व है। इसका शुद्ध एवं गुणयुक्त होना ही हितकारी है—अशुद्धावस्था में यह लाभ के स्थान पर हानि ही करता है। इस विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य में विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध संग्रह ग्रंथ अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय छः में दूषित जल के विषय में निम्न प्रकार लिखा है—'जल में रहने वाले अनेक प्रकार के कीटों (जन्तुओं) के तथा जल में रहने वाले सर्पों के मूत्र एवं पुरीष की सड़न से मलिन जल, नाना प्रकार के तृणों एवं जलों के उत्कार (समूह-राशि) के सड़न से मलिन, गन्दे कीचड़ वाला, कमल, सिवार, हठ (जल कुम्भी नामक जलज लता) के पत्तों एवं पुष्पों से ढका हुआ या जिसके तल में कमल आदि के पत्ते बिछे हुए हों, वह जल जिस पर सूर्य और चन्द्रमा की किरणें न पड़ती हों तथा वायु का स्पर्श न होता हो वह जल, जिसमें मेंढक, मछली और अन्यान्य

क्षुद्र जन्तु रहते हों, जो तत्काल बरसा हो वह जल, जिसका वर्ण विकृत हो गया हो वह जल, जो मलिन हो वह तथा जो मोटी-मोटी झाग वाला हो—बुलबुलों वाला हो वह जल, जो अत्यन्त शीत होने के कारण दांतों में लगता हो वह जल; जो जल अकाल या वर्षाकाल के अतिरिक्त ऋतुओं में तत्काल बरसा हो और वर्षाकाल में भी तत्काल बरसा हो वह जल; जो लूता आदि के जालों के—पुरीष एवं मूत्र के तथा विष के संयोग से दूषित हो वह जल अशुद्ध होता है और नहाने तथा पीने योग्य नहीं होता।"

सुश्रुत संहिता में व्यापन्न जल के विषय में निम्न प्रकार लिखा है कि "व्यापन्न जल वह कहलाता है जो अशुद्ध (पंक) कीचड़ से अथवा सिवार अथवा कमल आदि के पत्तों से ढंका रहता है अथवा जिस पर सूर्य-चन्द्रमा की किरणें नहीं पड़तीं तथा वायु का स्पर्श नहीं होता और जिसमें किसी प्रकार की गन्ध होती है और वर्ण एवं रस में विकृति आ गई होती है।' इस प्रकार के व्यापन्न जल में छः दोष हो सकते हैं—

१. स्पर्श दोष—जैसे चिपचिपापन, उष्णता एवं शीतता।

२. रूप दोष—पंक, बालू तथा सिवार-का-सा वर्ण होना।

३. रस दोष—किसी रस का प्रतीत होना।

४. गन्ध दोष—अप्रिय गन्ध आना।

५. वीर्य दोष—जिसके उपयोग से तृष्णा—गौरव—शूल तथा कफ प्रसेक की उत्पत्ति हो।

६. विपाक दोष—जो देर में पचे और विष्टम्भ उत्पन्न करे।

इस प्रकार आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में दूषित जल के विषय में लिखा है। आधुनिक हार्येजिन के ग्रन्थों में जल की अशुद्धियां बताई गई हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

जल की अशुद्धियाँ (Impurities of water)

जल में दो प्रकार की अशुद्धियां पाई जाती हैं—

(१) न घुलने वाली (Suspended)

(२) घुलने वाली (Dissolved)

न घुलने वाली अशुद्धियां वे हैं जो पानी में मिल जाने पर उसमें घुलती नहीं हैं। यदि पानी को थोड़ी देर हिलाया न जाए और स्थिर रखा जाए

तो ऐसी अशुद्धियां नीचे बैठ जाती हैं या ऊपर तैरती रहती हैं। ऐसी अशुद्धियों को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(क) रेत, मिट्टी, वृक्षों के पत्ते और लकड़ी का बुरादा इत्यादि। ऐसी चीजें वायु में उड़कर और वृक्षों आदि से झड़कर पानी में पड़ जाती हैं और उसे अशुद्ध बना देती हैं। ऐसे पदार्थ मनुष्य की अंतड़ियों में पहुंचकर रगड़ उत्पन्न करते हं और दस्त लगा देते हैं।

(ख) हैजा और टायफाइड आदि रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु—ये जीवाणु रोगी मनुष्यों के जल में स्नान करने, कपड़े या हाथ मुंह धोने से जल में प्रवेश कर जाते हैं। ये स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक होते हैं। ऐसे जीवाणुओं से युक्त जल प्रयोग करने वाले मनुष्य को भी वे ही रोग लग जाते हैं।

(ग) कीटाणुओं के अण्ड—यह हवा और वर्षा के पानी के साथ जल में मिल जाते हैं। फिर शरीर के अन्दर जाकर बढ़ते रहते हैं और बच्चे देकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

जल में घुलनशील अशुद्धियाँ भी होती हैं। ये ऐसे पदार्थ और गैसें आदि होती हैं जो पानी में घुल जाती हैं। ये अशुद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—

(क) निर्जीवी (Inorganic)—भाँति-भाँति के रासायनिक द्रव्य उस मिट्टी में से पानी में मिल जाते हैं—जिसमें से पानी होकर आता है। इनमें कई हानिकारक होते हैं और कई बिलकुल हानि नहीं करते।

(ख) सजीवी (Organic)—ऐसी अशुद्धियाँ पशु-पक्षियों या वनस्पतियों के सड़-गलकर पानी में मिलने से उत्पन्न होती हैं। ये कई प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने वाली होती हैं।

जल की अशुद्धियों के प्रकरण में अशुद्धि के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अर्वाचीन स्वास्थ्य विज्ञान में बताया गया है कि—"पीने के जल का तीन स्थानों पर अशुद्ध होना सम्भव है—

(१) उद्गम स्थान पर (At Source)—जिन स्थानों से पानी लाया जाता है—वहाँ पर हमारी अपनी ही असावधानी और भूल से पानी अशुद्ध हो जाता है। कुओं-तालाबों और स्रोतों आदि पर लोगों के नहाने और कपड़े धोने से गन्दा पानी उसमें चला जाता है। पानी निकालने के लिए भी प्रायः गन्दे

वर्तनों का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं पर तो पशुओं को वहीं पर निहला भी दिया जाता है।

(२) लाते समय (In Transit)—उद्गम स्थानों से चमड़े का मशकों या गन्दे वर्तनों में लाने पर भी जल अशुद्ध हो जाता है। वर्तनों के साथ मिट्टी और रोगों के कीटाणु पानी में मिल जाते हैं। वर्तनों को विना ढके रहने पर उनमें कई प्रकार के दूषित द्रव्य मिल जाते हैं—जो जल को अशुद्ध कर देते हैं।

(३) घर में (During Storage)—घर में पीने वाले पानी को गन्दे और मैला-कुचैले वर्तनों में रखने से उसमें कई प्रकार की अशुद्धियाँ मिल जाती हैं। उन अशुद्धियों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

इस तरह जल की अशुद्धियों या कहिए दूषित जल के विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन चिकित्सा साहित्य में वर्णन उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर यहाँ हमने लिखा है।

दूषित जल का स्वास्थ्य पर प्रभाव

अशुद्धियों से युक्त दूषित जल स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। इससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगों का वर्णन करते हुए अष्टांग संग्रह में लिखा है कि—"दूषित जल के द्वारा स्नान करने एवं उस जल को पीने से—तृषा, आध्मान, उदर रोग, ज्वर, त्रास, मन्दाग्नि, अभिष्यन्द नामक नेत्र रोग—कण्डु तथा गलाण्ड नामक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।" सुश्रुत संहिता में सूत्र स्थान अध्याय ४५ में निम्न प्रकार लिखा है—"बिगड़ा हुआ जल जो विना शुद्ध किए पीता है—उसे शोथ, पाण्डु, चर्मरोग, अपच, श्वास, कास, जुकाम, शूल, गुल्म, उदर और अनेक प्रकार के विषम रोग शीघ्र हो जाते है।"

आधुनिक हायजीन की किताबों में दूषित जल से होने वाली हानियों का वर्णन किया है। जिस प्रकार की अशुद्धि जल में होती है—उसी के अनुसार वह रोग उत्पन्न करता है। यदि रोगों के कीटाणु उस जल में हों तो उस रोग की उत्पत्ति हो जाती है यथा हैजा, पेचिश, टाइफायड आदि। ऐसे रोगों में हैजा सबसे अधिक फैलने वाला रोग है। होता यह है कि हैजा के जीवाणु रोगी के वमन एवं मल में अधिक मात्रा में निकलते हैं, उनसे दूषित हुआ जल रोग को उत्पन्न कर देता है।

इस तरह जल की अशुद्धियों का तथा उन अशुद्धियों से युक्त जल के सेवन से होने वाली हानियों का वर्णन अर्वाचीन एवं प्राचीन मतानुसार यहाँ वर्णित

कर दिया गया है। इसे जानकर स्वास्थ्य के लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि दूषित जल का त्याग कर दिया जाए।

प्रश्न—कूप व्यवस्था और जलपान पर प्रकाश डालते हुए नव्यमतानुसार जल पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—शास्त्रों में जल के अनेक भेद किए गए हैं। उसी में कूप जल भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कुएँ का पानी पीने का उपयोग सर्वाधिक हमारे यहाँ प्रचलित है। आदर्श कूप निर्माण की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने कूप के दो भेद माने हैं। सोपान सहित (सीढ़ी युक्त) कूप और असोपान (बिना सीढ़ियों का)। आधुनिक विज्ञान वेत्ता Shallow well (उथला कुँआ), Deep well (गहरा कुँआ) और Artesien well (आर्टिभन कुँआ)—यह तीन प्रकार मानते हैं।

जलपान हेतु निर्मित कूप प्राय: ४० हाथ गहरा पानी के लिए खोदना चाहिए। यह धारणा है कि कुँआ जितना गहरा होता है, वह उतना ही उत्तम रहता है। कुँआ हमेशा खुली हवा और उत्तम भूमि में खोदने का आयोजन करना चाहिए। ग्रामों में कुएँ की दीवाल को कच्चा ही छोड़ दिया जाता है यही कुरीति पर्याप्त हानि पहुंचाती है। अत: कूप की दीवाल को सभी ओर से पके ईंट या पत्थर से बनाकर पक्की मजबूत कर देना चाहिए। कूप की भूमि निम्नतम न हो और पेड़, मूत्रालय (Urinal) पाखाना, गोशाला, अश्वशाला, हस्तिशाला आदि के निकट नहीं रखना आवश्यक है। कूप के ऊपर काठ आदि का ढक्कन रखें तो शुद्ध रहेगा। कूप के चारों तरफ चौड़ा और गोलाकार ढालुआ व ऊँचा स्थल बनाना चाहिए और उस पर भी अन्दर की भांति पलस्तर कर देना चाहिए। आस-पास जल बहने के लिए नाली भी बनावें। यदि कुएँ पर एक मात्र (बाल्टी, घड़ा आदि) भी सदैव जल निकालने के लिए रखा रहे तो अत्युत्तम रहेगा। प्रत्येक वर्ष में एक बार की कीचड़ आदि निकलना (उबाव कराना) चाहिए।

आजकल नलिका कूप (Water Pump) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। सरकार जगह-जगह ऐसे कूपों का यन्त्र रूप में निर्माण करवा रही है। इस प्रकार में नलिका कूप अस्थायी स्थापना (Temporary) रूप में प्रचुर मात्रा से लाभकर सिद्ध हुए हैं। १½ से २ इंच तक व्यास वाली लोहे की लम्बी नलियाँ

को मशीन की सहायता से जमीन में गाढ़ते हैं। इसको उतना प्रवेश कराते हैं कि जितने से जल की भली भाँति प्राप्ति हो जावे। सबसे नीचे की नली का सिरा नोकीला एवं सछिद्र होना चाहिए। पुनः नलिका के बाहर ऊपर पम्प (प्रेरक यन्त्र) लगाकर जल बाहर निकाल देते हैं। आरम्भ में कुछ गन्दा, फिर बाद में स्वच्छ जल आता रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था मेलों, उत्सवों, युद्ध के समय आदि विशेष अवसरों पर स्थायी तौर पर काफी लाभप्रद सिद्ध हुई हैं वहाँ नलिका कूप को पाश्चात्य तरीके पर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कुँए का उपयोग हाथ 'पम्प' चलाकर (Hand Pump) भी किया जाता है और बिजली की धारा प्रवाहित करके भी (Electric Pump) बिजली का पम्प लगाकर स्वाभाविक रूप से शीघ्रता हो ही जाती है।

इस प्रकार पम्प वाले कुँए से अनेक लाभ भी हैं। भूमि का गन्दा जल इसके शुद्ध जल को मलिन नहीं कर सकता। छोटे कीट आदि जल में नहीं रह सकते। यह भी फायदा है कि उखाड़ कर दूसरे स्थानों पर भी लगाकर पानी निकालना प्रारम्भ किया जा सकता है। ये हैण्ड पम्प कुँए ऊबड़-खाबड़ जमीन एवं कंकरीली-पथरीली धरातल पर विशेष रूप से लाभप्रद रहते हैं। परन्तु मटीली एवं रेणुकामय (Finesand) में यह क्रिया उत्तम रूप से लाभप्रद नहीं। बिजली द्वारा काफी पानी मिल सकता है।

उथले कुँए और गहरे कुँए के विषय में अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं। उथले कुंए का तल अप्रवेश्य स्तर (Impervious Layer) के ऊपर और गहरे कुँए की धरातल पृथ्वी के अप्रवेश स्तर (Water Bearing strata) में स्थित होती है। ऊथले कुँए का पानी अधिक अच्छा नहीं होता। गहरे कुँए में पानी खराब होने की स्थिति कम होती है।

कूप के वितरण शंकु (Cone of filteration) की सुव्यवस्था होना आवश्यक है। सामान्यतः कूप की जितनी गहराई होती है, उसके चौगुनी दूरी के लगभग के कुँए में पानी आ सकता है, इसी क्षेत्र को वितरण शंकु कहा गया है। इसी कारण कुँए के आसपास गन्दा नाला, श्मशान आदि त्याज्य स्थिति न होनी चाहिए। यही आदर्श कूप है।

साथ ही कूप हमेशा प्रशस्त भूमि में खोदें। सूर्य का प्रकाश एवं शुद्ध हवा आती रहे। कुंए के पास पेड़ अधिक नहीं होने चाहिए। मनुष्यों की बस्ती से कुँआ कम से कम २५० फुट दूरी पर हो। कुँए के ऊपर की ओर चहार-

दीवारी अवश्य ही हो तथा उपयोग के लिए बाहर आसपास सीमेंट का एक विस्तृत चबूतरा भी होवे। कुंए के समीप स्नान, कपड़े धोना, वर्तनों की सफाई हानिप्रद कार्य निषेध कर देना चाहिए। कुंए (उथले) पानी साधारण रुचिकर और गहरे वाले का अत्यन्त रुचिकर माना गया है। यदि कुंए की खराबी की परीक्षा करनी होती है तो 'फ्लोरोमिन' पदार्थ का प्रयोग करते हैं।

जलपान—जल सेवन में कुछ नियमों का भी पालन करना चाहिए। विशुद्ध जल का ही प्रयोग करना चाहिए। यह शरीर का आधार होता है। गन्दे पानी को औटाकर (पानी शुद्ध करके) प्रयोग करें, इसमें किसी प्रकार का आलस्य नहीं करना चाहिए। प्रकृतावस्था में पानी कभी भी अति उष्ण या अति शीतल न पीवें। गर्मी में वर्फ के पानी पीने की कुरीति लाभकर नहीं। यह दन्तविकृति, उदर रोग पैदा करता है। पानी चाहे किसी भी समय पिया जावे, सदैव घूंट-घूंटकर सरलता से पानी पीना चाहिए। एकदम गट्-गट् कर पीने से अधिक पानी पेट में चले जाने पर भी उसका वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। प्यास शान्त न होने के साथ पाचन क्रिया में सहायक नही हो पाता। परिश्रम करके, क्षुधाक्रान्त अवस्था मे, क्रोधाविष्ट स्थिति में, विषमस्थिति में पानी न पीवें। कुछ देर तक विश्राम करने के वाद समस्थिति होने पर जलपान करना श्रेयष्कर है। भोजन के वाद एकदम पानी पीना ठीक नहीं। कम से कम एक घण्टे पहले पानी पीना चाहिए। भोजन के समय (मध्य) में पानी पीने से जठर रस (Gastric Juice) पतला हो जाने से दुर्वल हो जाता है। भोजन के समय जो प्यास लगती है, उसे प्रायः झूठी प्यास मानते हैं। भोजन को गले से उतारने आदि क्रियाओं के लिए लार भी काफी मदद देती है। यदि भोजन मे पानी ही हो तो बीच बीच में घूंट-घूंट और थोड़ा-थोड़ा जलपान करें। भोजन के अलावा जब प्यास लगे तो अवश्य ही थोड़ा यथोचित मात्रा में पानी पीना चाहिए।

पानी की आवश्यकता सर्वविदित है। प्रति व्यक्ति घरेलू कामों एवं म्युनिसिपल सम्बन्धी आवश्यकताओं को मिलाकर कुल २७.०८ गैलन की आवश्यकता दिन भर में पड़ती है। अस्पतालों मे सर्वसाधारण की अपेक्षा लगभग दुगुना पानी व्यय होता है। प्रकृति में पानी घनरूप तरलरूप एवं वायुरूप में पाया जाता है यह ० सेंटीग्रेट या ३२ फारहेनहाइड अंश पर वर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाता है और आकार भी कुछ बढ़ता जाता है। इसकी अधिक-से-अधिक

घनता (Density) ४° सेण्टीग्रेड पर होता है १००° सैंटीग्रेड या २१२° फारहेनहाइट पर पानी उबलने लगता है। यह उत्क्वथन बिन्दु (Boiling point) वायुमण्डल के भार पर निर्भर रहता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार पानी एक रासायनिक यौगिक है। जिसमें दो भाग हाइड्रोजन व एक भाग आक्सीजन होती है, इसे रसायन शास्त्र की सांकेतिक भाषा के अनुसार H2 सूत्र से प्रदर्शित करते हैं। विशुद्ध जल मे चूना, मैग्नेशियम आदि की राशि प्रति गैलन ८ ग्रेन से अधिक न हो। किसी प्रकार के नाइट्रोजन युक्त सेन्द्रिय पदार्थ भी न हों। जीवाणु तो होने ही नहीं चाहिए। कठिन जल (Hard water) अधिक खर्च होता है, पर मृदु पानी (Soft water) अधिक उपयोगी रहता है।

प्रश्न—सद्वृत्त की विवेचना करते हुए व्यवाय नियम निर्देश कीजिए। (१९६५, ६६, ६७)

उत्तर—एकादश इन्द्रयों के अनुपात के लिए विकार रहित होने में सद्वृत्त को पालन करना चाहिए। अतः स्मृतिपूर्वक सात्म्य विषयों के इन्द्रिय संयोग से बुद्धिपूर्वक अच्छी तरह विचार कर कार्य सम्पादन एवं देशकाल प्रकृति के अनुसार आहार सेवन का प्रयत्न करना ही आयुर्वेद में सद्वृत्त (Good-Conduct) है अर्थात् सदाचार, सुचरित्रता है। सद्वृत्त का अनुष्ठान् आरोग्य एवं इन्द्रिय विजय दोनों को सम्पन्न करता है। सद्वृत्त के अन्दर विभिन्न शास्त्रों के अनुसार इन नियमों का समावेश होता है। गुरु, वृद्ध, ब्राह्मण, पितृ की पूजा करना, अग्नि में हवन, तीनों बार स्नान, मलमार्ग एवं हस्तपाद की शुद्धि, पक्ष में तीन बार क्षौर कर्म व नख कर्त्तन, असंकुचित वस्त्र धारण पुष्पीय सुगन्धि युक्त रहना, केश प्रसाधित साधु वेश में रहना, सदैव शिरनासा पाद में तैल का सेवन करना, धूम्रपान करना (शास्त्रीय नियमानुसार), मिलन के समय पूर्व भाषी होना, विपत्तिग्रस्तों की रक्षा करना, यज्ञ दान पिण्ड आतिथ्य सत्कार करना, अवसरानुसार उचित मात्रा में मधुर भाषण, इन्द्रियों को वश में करना, ईर्ष्या किसी के फल में न करके कारण में करना, चिंता मुक्त, धैर्य रखना, महान् उत्साही एवं क्षमावान् इन सबका पालन होना चाहिए। विश्व को कुटुम्ब मानना (वसुधैव कुटुम्बकम्), प्रतिज्ञा का पालन करना, शान्तिप्रियता, गुण देखने वाला (अछिद्रान्वेषी), कठोर से कठोर वचन को सहन करना, ब्रह्मचर्य, मैत्री, कारुण्य, हर्षयुक्त रहना, अनाशक्त रहना,

धर्म परायण रहना, जीविका रहित, रोगी व शोकाकुल की यथाशक्ति सेवा करना, जो जिस प्रकार संतुष्ट हो उसी प्रकार व्यवहार करना—सद्वृत्त के अन्तर्गत आवश्यक सिद्धान्त हैं।

अकृत्य कर्मों का भी संक्षेपतः निर्देश करेंगे—असत्य बोलना, परस्त्री व धन की इच्छा, पाप करने वाले के प्रति पाप करना, दूसरे के दोषों को कहना, नीच अधर्मी दुष्ट आदि बुरे लोगों की संगति, विषम शय्या पर शयन, पेड़ पर चढ़ना, तेज जल में स्नान, अट्टहास कर हँसना, दांत नख हड्डी चटकाना, तृण तोड़ना, अपवित्र वस्तु व अग्नि को देखना, गुरु पूज्य वृक्ष की छाया लाँघना, निर्जन स्थान श्मशान आदि में जाना, पापकर्मा स्त्री मित्र-नौकरों से व्यवहार, हिंसक जीवों के पीछे अनुगमन, झगड़ा, नंगा स्नान करना, अप्रसन्न बाहर निकलना, मंगल वस्तु एवं पूजनीय के बाएँ चलना, वेगावरोध, स्त्रियों की उपेक्षा, स्त्रियों को विश्वासपात्र बनाना या अधिकार देना; सज्जनों व गुरुओं से विवाद करना, अपवित्र होकर सुकार्य करना, अधिक समय नष्ट करना, गुप्त रहस्योद्घाटन, वेश्या संग, रहस्यज्ञाता या मित्र को अपने से पृथक् करना, स्वजनों पर अविश्वास करना, धर्म अर्थ काम से रहित कर्म प्रारम्भ करना, सुख-दुःख में एक-सा न रहना, परस्त्री सेवन आदि कुकृत्यों का सेवन करना। सद्वृत्त नियमों का काफी विस्तार है। स्वबुद्धि से पाठकों को विस्तार कर लेना चाहिए। इस सद्वृत्त का पालन करने से मनुष्य अपने उत्तम गुणों से युक्त ईश्वर द्वारा रक्षित एवं निश्चिन्त पुण्यात्मा मनुष्य १०० वर्ष से भी अधिक जीवन प्राप्त कर मृत्युपरान्त सुगति प्राप्त करता है।

व्यवाय के शास्त्रीय नियम

ब्रह्मचर्य नियमों पर जोर देने का तात्पर्य यह नहीं कि संभोग क्रिया ही न की जावे, नहीं तो शरीर में प्रमेह, चर्बी की वृद्धि, शिथिलता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सोलह वर्ष की स्त्री और बीस वर्ष के पुरुष दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करके और पित्र्य कार्य, धर्म अर्थ काम और सन्तान प्राप्ति की इच्छा से—शास्त्रीय नियमानुसार यदि संभोग करें तो हानि नहीं होती है।

अतः जब मैथुन की तीव्र अभिलाषा हो तो अपनी पत्नी के साथ संग करें। सोलह वर्ष तक स्त्री बाला, बत्तीस वर्ष तक तरुणी, पचास वर्ष तक प्रौढ़ा मानी गयी है। इस आयु के बाद वृद्धा होने के कारण मैथुन की अभिलाषा कम हो

जाती है। विषयी पुरुषों के लिए ग्रीष्म व शरद में बाला, शीत काल में तरुणी और वसन्त में प्रौढ़ा हितकर कही है। यदि नित्य बाला, तरुणी, प्रौढ़ा का सेवन किया जावे तो क्रमशः बलवर्द्धन, शक्ति का ह्रास, वृद्धावस्था उत्पन्न होते हैं। बाला स्त्री सद्यः प्राण (बल) दायक है। शीत में संभोग रात्रि को, ग्रीष्म में दिन में, वसन्त में दिन या रात्रि दोनों में ही, वर्षा में बादल गरजने के समय और शरद में जब काम की प्रबलता हो तभी मैथुन करना चाहिए। हेमन्त ऋतु में वाजीकरण औषधियाँ खाकर बल व इच्छानुसार स्त्री सेवन करें। इसी भाँति शिशिर में भी यथेच्छ संभोग का विधान है। वसन्त तथा शरद काल में तीन-तीन दिन के बाद, वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में एक-एक पक्ष के बाद और हेमन्त शिशिर में बिना किसी नियम विशेष के संभोग करना उचित है।

मैथुन करने के योग्य पुरुष को स्नान किए हुए, शरीर में इत्रादिक सुगंधित द्रव्य लगाये हुए, वीर्यवर्धक पदार्थों को खाते हुए, तम्बाकू सेवन किए हुए प्रसन्न चित्त युक्त एवं पत्नी के विषय अधिक अनुराग और कामचेष्टा से युक्त होना चाहिए और स्त्री को रूप सद्‌गुणों से युक्त अपने समान शील वाली, अच्छे कुल में उत्पन्न, अत्यन्त कामासक्ता, प्रसन्न चित्त एवं सुन्दर अलंकारों से युक्त, विवाहित होना चाहिए। रजस्वला, संन्यासिनी, गुरुपत्नी, अपने गोत्र में उत्पन्न, गर्भिणी, वृद्धा आदि ऐसी स्त्रियों से पुरुष को संभोग नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान को ऋतु के बाद संभोग करना चाहिए। अधिक भूखे, अधिक भोजन किए, दुःखी, प्यासा बालक, वृद्ध, वेगों से पीड़ित मनुष्य को प्रत्येक विकारों की उत्पत्ति के भय से मैथुन नहीं करना चाहिए। तिर्यग् योनि, अयोनि, पट्ट होकर (उत्तान के विपरीत), पार्श्वगत (बगल में लेकर), रुग्ण योनि आदि विकारों से बचाव रखते सुन्दर शय्या पर पुरुष दाहिने पैर से और स्त्री बांये पैर से चढ़कर—'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ। भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्र वीरं दधातु मे॥' मन्त्र का प्रयोग करके संभोग करें। समाप्त के समय स्नान, चन्दनादि लेप, दूध जल आदि का सेवन करके शयन करना चाहिए। इस प्रकार नियमानुसार संभोग से आयु-बल वर्ण की हानि नहीं होती।

प्रश्न—वेग विधारण से उत्पन्न लक्षण एवं चिकित्सा लिखो।

उत्तर—अष्टांगसंग्रह सूत्र स्थान अध्याय ५ को वहाँ पर "रोगानुत्पादनीय' अध्याय के नाम से वर्णित किया गया है। इसका तात्पर्य है कि जिससे रोगों

की उत्पत्ति ही न हो। इस अध्याय में अधारणीय वेगों को न धारण करने का उपदेश किया गया है और बताया गया है कि वेग विधारण से ही रोगोत्पत्ति होती है अन्यथा व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। प्रकरण में वेग न रोकने का उपदेश करते हुए लिखा है कि—

"(१) अपानवायु, (२) पुरीष, (३) मूत्र, (४) छींक (क्षव), (५) तृट् (तृषा), (६) क्षुधा (भूख), (७) निद्रा (नींद), (८) कास (खांसी) (९) श्रमश्वास, (१०) जृम्भा, (११) अश्रु, (१२) छर्दि (वमन), (१३) रेतस, (शुक्र) के वेगों को नहीं रोकना चाहिए।"

इसी प्रकरण में इनके लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है जो यहाँ दिया जा रहा है।

(१) अपानवायु के रोकने से विकार और उसकी चिकित्सा—अपानवायु के वेग को रोकने से गुल्म रोग, उदावर्त्त, शूल, शरीर भर में वेदना तथा ग्लानि की उत्पत्ति हो सकती है और अपानवायु, मूत्र और पुरीष का निरोध, दृष्टि नाश या दृष्टिविकृति, मन्दाग्नि तथा हृदय विकृति हो सकती है।

इस दशा में स्नेहन-स्वेदन का सेवन, मल प्रवर्त्तिनी वर्ति का गुद में प्रवेश और वायु का अनुलोमन करने वाले भोजनों, पानों तथा अनुवासन एवं निरूहण वस्तियों का प्रयोग प्रशस्त होता है।

(२) पुरीष का वेग रोकने से उत्पन्न विकार और उसकी चिकित्सा—पुरीष का वेग रोकने से पिण्डलियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, शिरःशूल, या शिरोरोग, उद्गारों की प्रवृत्ति, परिकर्तिका, हृदय का उपरोध, तथा आगे चलकर मुख मार्ग से पुरीष की प्रवृत्ति तथा अपानवायु के वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले विकार उत्पन्न होते हैं।

इस अवस्था में मल प्रवर्तिनी वर्त्ति का गुद में प्रवेश करावें शरीर भर में विशेषतः उदर पर एरण्ड तैल अथवा नारायण तैल आदि किसी वातनाशक तैल अभ्यंग करें। उष्ण जल अवगाहन करें। स्वेदन-वस्तिकर्म तथा मलभेदक अन्नपान का सेवन करें।

(३) मूत्र के वेग को रोकने से उत्पन्न रोग एवं उनका शमनोपाय—मूत्र के वेग को रोकने से शरीर में टूटने की सी पीड़ा, अश्मरी तथा मूत्राशय, मूत्रमार्ग, वंक्षण में वेदना-शूल और प्रायः अपानवायु एवं पुरीष के वेग रोकने से उत्पन्न होने वाले पूर्वोक्त रोग हो सकते हैं।

पुरीष को रोकने पर हुए रोगों की जो चिकित्सा कही गई है वह सब करें तथा भोजन के पूर्व तथा भोजन के पच जाने पर उत्तम मात्रा में घृतपान करें। इस प्रकार दो बार किए गये घृतपान का शास्त्रीय नाम 'अवपीड़क' है। यह मूत्र के वेग को रोकने से उत्पन्न विकारों के लिए प्रशस्त है।

(४) उद्गार के वेग को रोकने से उत्पन्न रोग एवं उनकी चिकित्सा—उद्गार के वेग को रोकने से अरुचि, कम्पन, हृदय एवं फुफ्फुस की गति में रुकावट, आध्मान, कास, हिचकी की उत्पत्ति हो सकती है।

इस अवस्था में हिक्कारोगनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। (सुश्रुत-मतानुसार)।

(५) छींक के वेग रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा—छींक का वेग रोकने या रुक जाने से सिर में शूल श्रोत्र आदि इन्द्रियों में दुर्बलता, मन्या-स्तम्भ तथा अर्दित, रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

इसकी चिकित्सा में अथवा रुकी हुई छींक को तीक्ष्ण धूम्रपान से, तीक्ष्ण अंजन से, तीक्ष्ण नस्य से, स्नेहन नस्य से अथवा सूर्य की ओर देखकर पुनः २ प्रवृत्त करने की व्यवस्था करें। इतना करने पर भी यदि छींक न आवे तो सिर माथा पर स्नेहाभ्यंग करके स्वेदन का प्रयोग करावें। तत्पश्चात् पुनः तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करने से छींक आ जाती है। इसमें वातनाशक अन्न—आहार का प्रयोग करावें तथा भोजन के अनन्तर घृतपान करावें।

(६) तृषा रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा—तृष्णा को रोकने से मुखशोष, शरीर एवं मन में शिथिलता, बधिरता, मोह एवं मूर्च्छा, भ्रम तथा हृद्रोग की उत्पत्ति हो सकती है। इस दशा में सब प्रकार के शीतल उपचारों का प्रयोग करें।

(७) क्षुधा रोकने से हानि एवं उसकी चिकित्सा—भूख के वेग को रोकने से शरीर में टूटने की सी वेदना, अरुचि, मानसिक अवसाद, कृशता, उदर में शूल तथा भ्रम की उत्पत्ति हो सकती है। इस दशा में लघु स्निग्ध, उष्ण एवं स्वल्प भोजन का प्रयोग करना चाहिए।

(८) निद्रा के वेग को रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा—निद्रा को रोकने से मोह, सिर एवं नेत्रों में भारीपन का अनुभव, आलस्य, जम्भाई एवं शरीर में दर्द की सी वेदना हो सकती है।

इस दशा में सुखपूर्वक सोना तथा संवाहन लाभदायक होता है।

(९) **कासरोध से हानि और उसकी चिकित्सा**—कास के वेग को रोकने से कास बढ़ जाती है। तथा श्वास-अरुचि तथा हृद्रोग की उत्पत्ति हो सकती है। शोष तथा हिचकी रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

इस दशा में कासनाशक सब उपचारों का प्रयोग करना चाहिए।

(१०) **श्रमश्वास के रोध से हानि और उसकी चिकित्सा**—श्रमश्वास को रोकने से गुल्मरोग, हृद्रोग अथवा मोह या मूर्च्छा की उत्पत्ति हो सकती है। इस दशा में विश्राम आराम करना तथा कासनाशक उपचार करना लाभप्रद होता है।

(११) **जृम्भा रोध से हानि और उसकी चिकित्सा**—जम्भाई का वेग रोकने से छींक के वेग के रोकने के समान रोगों की उत्पत्ति होती है। इस दशा में वातनाशक चिकित्सा का सब प्रकार से प्रयोग करना चाहिए।

(१२) **अश्रुरोध से हानि और उसकी चिकित्सा**—आँसुओं के वेग को रोकने से पीनस-नेत्ररोग, शिरोरोग-हृदयरोग, मन्यास्तम्भ अरुचि, भ्रम अथवा गुल्मरोग हो सकता है। इस दशा में सोना मादक द्रव्यों का पान तथा मनोहर कथा कहानियों का श्रवण करना चाहिए।

(१३) **छर्दि के रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा**—छर्दि का वेग रोकने से विसर्प रोग, कुष्ठ, शीतपित्त, नेत्ररोग, कण्डु पाण्डु, ज्वर, कास, श्वास, हृल्लास व्यंग, तथा शोथ रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

इस दशा में उपयुक्त द्रव्यों का गण्डूष एवं धूम्रपान करना चाहिए तथा रूक्ष आहार का सेवन करना चाहिए। भोजन खाकर वमन करें, व्यायाम करें रक्तस्रावण करें, और यवक्षार-नौशादर मिलाकर एवं लवण मिलाकर तैल का अभ्यंग करें।

(१४) **शुक्ररोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा**—शुक्र का वेग रोकने से मूत्र के साथ आगे पीछे अथवा सर्वदा शुक्र का स्राव होने लगता है। गुह्य अंग में वेदना एवं शोथ हो जाती है। ज्वर-हृदय में व्यथा, मूत्र में रुकावट शरीर में टूटने की सी स्थिति, अंगड़ाइयाँ, अण्ड-वृद्धि, अश्मरी तथा नपुंसकता की उत्पत्ति हो सकती है।

इस दशा मे मुर्गे का मांस एवं मुर्गी के अण्डों का भक्षण, सुरापान, शालि चावलों का भात, वस्ति प्रयोग, अभ्यंग. विशेषतः शिश्न पर सूअर की चर्बी का अभ्यंग तथा जल में अवगाहन हितकारक होता है। गोखरू एवं शिलाजतु आदि

बस्तिशोधक द्रव्य के योग सिद्ध दूध का सेवन तथा प्रिय स्त्रियों के साथ सह-वास करना चाहिये।

इस प्रकार इन अधारणीय वेगों को धारण नहीं करना चाहिए—इनके धारण करने से 'स्वस्थ' नहीं रहा जा सकता।

प्रश्न—निन्दित अनिन्दित पुरुष की विवेचना कीजिए और मादक पदार्थों के सेवन पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—आयुर्वेद में निम्नांकित आठ प्रकार के पुरुष निन्दित माने गये हैं—अति दीर्घ (लम्बे) अतिह्रस्व (छोटे), अतिलोमा (रोमवाले) अलोमा (रोम-रहित), अतिकृष्ण (काले), अतिगौर (गोरे), अतिस्थूल (मोटे), अतिकृश (पतले)। तात्पर्यतः मनुष्यों को उपरोक्त लक्षणों से युक्त न होना चाहिए। यदि उक्त लक्षणों से रहित होंगे तो उनको ही अनिन्दित कहा जा सकेगा।

सामान्यतः स्थूल एवं कृश मनुष्यों की सीमावद्धता न होना 'निश्चित मनुष्य' के अभिप्राय में आते हैं। अतिस्थूल पुरुष में अश्रु की हानि, वेग की रुकावट, दुःख व मैथुन अक्षमता, दौर्बल्य दुर्गन्धि, स्वेदाधिक्य, भूख अधिक लगना प्यास लगना (अधिक) यह आठ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अब शास्त्र में इसके कारण भी बताये हैं। अत्यन्त भोजन करना गुरु मधुर-शीतस्निग्ध वस्तुओं का सेवन, व्यायाम न करना, मैथुन न करना, दिन में सोना, हमेशा सुखी रहना, निश्चित रहना और मातृ-पितृ बीज के स्वभाव से होता है।

यह समझना आवश्यक है कि अतिस्थूल पुरुष में जितनी मेद की वृद्धि होती है, उतनी धातुओं की वृद्धि नहीं होती। बस, इसी कारण आयु का ह्रास मेद के सुकुमार और शिथिल होने से (गुरु भी) स्फूर्ति या वेग का अवरोध होता है। मेद के कारण धातुओं का मार्ग बन्द होता है। इस प्रकार शुक्र की न्यूनता के कारण मैथुन की कठिनता फिर तो स्वाभाविक है। धातुओं की समानता के कारण दुर्बलता, मेदा के दोष-स्वभाव व मेद के स्वेद गुण के कारण दुर्गन्ध की व्याप्ति हो जाती है। कफ के भी संसर्ग से अभिष्यन्दि होने से गुरु होने से स्वेदाधिक्य से एवं व्यायाम की असमर्थतावश—कष्ट बढ़ जाता है। अग्नि की तीव्रता एवं कोष्ठस्थ वात की अधिकता से भूख और उत्साह (कर्म शक्ति) यथावत् नहीं हैं, उस मनुष्य को वस्तुतः मेदस्वी कहा जाता है।

इसी प्रकार रूक्ष अन्न-पान सेवी, उपवास, नपातुला भोजन, वमनादि क्रिया का अधिक सेवन चिंता, शोक, निद्रा के वेग का अवरोध, प्रकृति, वृद्धावस्था

क्रोध, निरन्तर रोगी रहना इन कारणों से मनुष्य कृशता को प्राप्त होता है। नितम्ब, उदर, स्तन, शुष्क, सारे शरीर में धमनियों का जाल फैला और त्वचा अस्थि मात्र शेष रहता हुआ शरीर में बड़ी-बड़ी गांठों से युक्त मनुष्य आयुर्वेद में अति कृश माना गया है।

मादक द्रव्य सेवन

आयुर्वेद मतानुसार मादक द्रव्यों के अन्तर्गत सभी प्रकार के मद्य, धतूरे का बीज, भांग, अफीम, गांजा, चण्डू, चरस, तम्बाकू, कुचला, संखिया और सिंगिया, वत्सनाभ, सुपारी, कोदोमद आते हैं। कोकीन, चाय, काफी भी अब मादक द्रव्यों में आने लगे हैं। उत्तम स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य इन द्रव्यों का खान-पान धूम्रपान आदि में कभी प्रयोग न करें।

सामान्य रूप से मद्य अति गुणकारी बताई गई है। विधिपूर्वक सेवन की हुई शराब अमृत के समान (मद्यं स्यादमृतं युक्तया पीतं विषमन्यथा) और विपरीत विधियों से प्रयोग करने पर विष के समान होने में भी विलम्ब नहीं होता। नवीन शराब गुरु, त्रिदोषहर और प्राचीन मद्य के गुण इसके विरुद्ध बताये गये हैं। गरम वस्तु के साथ भी शराब नहीं पीनी चाहिए। विरेचन लिए हुए और भूखे मनुष्य को भी शराब निषिद्ध है। बहुत अधिक तीक्ष्ण या मृदु और थोड़े साधन के साथ एवं मलिन मद्य न पीवें। भारतवर्ष में मद्य चावल, महुआ, खजूर, ताड़ इत्यादि से बनाया जाता है। विदेशी मद्य के अलकोहल की मात्रा के अनुसार स्प्रिट-ब्रांडी-रम व्हिस्की-जिन प्रथम भाग में द्वितीय विभाग में वाइन (बोर्डो, हाइन, वाइन, बर्गंडी, शेरी, मद्यपोर्ट, मारडे आदि) और अन्तिम विभाग में माल्ट, हाप्स, बार्ली का समावेश होता है। मद्यों का हल्की मात्रा में ही प्रयोग करने से आमाशय में पहुँचकर जठर रस के स्राव को बढ़ाकर आमाशय की गति में वृद्धि कर देता है और दीपन पाचन गुण सम्पन्न होता है परन्तु अति मात्रा में सेवन कर लेने से गेस्ट्रिक ज्यूस का स्राव कम होकर श्लेष्मा का स्राव (Mucous) अधिकता को प्राप्त होता है और लगातार सेवन से तो अग्निमांद्य को उत्पत्ति हो जाती है। मद्य रक्त में मिलकर आक्सीजन का रक्त रंग (हीमोग्लोबीन) के साथ विशेष परिस्थितियां उत्पन्न कर देता है। परिणामतः मेद की वृद्धि होती है। यद्यपि शराब हृदयोत्तेजना उत्पन्न करती है तथा प्रभाव समाप्त होते ही पूर्व से भी अधिक श्रम की अनुभूति होती है। मद्य का मुख्य प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है।

अधिक काल तक सेवन करते रहने से शरीर के मुख्य वृक्कों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। अन्त में मद्यसेवी की प्राणशक्ति दुर्बल हो जाती है। आयुर्वेदानुसार मद्य में लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल व्यवायि, सूक्ष्म, रूक्ष, विकासी, विशद यह प्रसिद्ध (स्मरणीय) दस गुण होते है। मनुस्मृति. के अनुसार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु शास्त्रोक्त नियमों के मध्य में उपर्युक्त है। सारांशत: विधिवत् पान से जितने लाभ प्राप्त होते है, उससे कहीं अधिक हानियाँ अविधिवत पान से उठानी पड़ती हैं।

तम्बाकू, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि द्रव्य मादन के लिए सर्वसाधारण में प्रयोग किये जाते हैं।

तम्बाकू का आदि स्थान अमेरिका है। तम्बाकू एक क्षुप (Nicotiana tobacum) का पत्ता है। इसको अनेक प्रकार से नशे के लिए उपयोग करते हैं। इसमें निकोटीन (Nicotine) नामक विष पाया जाता है। यही तीव्रमारक घटक है। सिगरेट, तम्बाकू, बीड़ी के धूम्र मुख से श्वास नलिका द्वारा फुफ्फुसों में जाकर श्वास यन्त्रों की कला (Membrane) मे चिरकारी शोथ उत्पन्न करता है। मुख दुर्गन्ध, मस्तिष्क दौर्बल्य तथा तम्बाकू जन्य अन्धता (Tobacco-ambiyopia) हृद्ग्रह्य, हृत्स्पन्द, अवसाद, शिर:शूल, कार्य में अनिच्छा भी शनैःशनैं हो जाते हैं। तम्बाकू को हम गुडाखू, सिगरेट, बीड़ी, दोखता, गोली, जरदा, सुरती, नस्य पक्की तम्बाकू, सूखी तम्बाकू के रूपों में प्रयोग करते हैं। इनके सेवन करने वालों की प्रकृति रूखी, दिमाग खराब, आँखें लाल रहती हैं।

भारत में अफीम खाने की भी प्रथा प्रचलित है। वास्तव में यह बड़ी निन्दनीय प्रथा है। अफीम इतना बुरा व्यसन है कि एक बार इसका सेवन प्रारम्भ कर देने पर फिर बिना अफीम के कुछ कार्य संचालन करना कठिन हो जाता है। यह भी ठीक ही है कि अफीम से रोगी पर औषधियों का पूर्ण कार्य परिलक्षित नहीं हो पाता। अफीम खाने वालों को यद्यपि आँखें बन्द कर किसी अपार हर्ष का अनुभव होता है तथापि यह भी निश्चय है कि ऐसे व्यक्ति युवावस्था में बुढ़ापे का अनुभव करते है।

चरस-भांग का भी प्रयोग खूब होता है। इसकी ठंठाई बना कर सेवन करते हैं। पृथक् रूप में भी सेवन करते हैं। यद्यपि भाँग का सेवन करके भोजन

अधिक मात्रा में किया जा सकता है, यह विधि पर्याप्त हानि पहुँचाती है। इससे समाज को बचना चाहिए।

चाय और कॉफी अंग्रेजों की प्रसिद्ध देन है। जोकि आज भारतीय समाज में विस्तृत रूप से व्याप्त है और वे इन स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद पेयों का अधिकाधिक प्रयोग करते हैं। चाय 'कैमेलिया थिया' नामक क्षुप की पत्तियाँ और काफी 'कॉफिया-अरेबिका' नामक वृक्ष के बीज होते हैं। चाय से काफी का प्रभाव कुछ भिन्न होता है। काफी का मुख्य प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है। संक्षेपतः चाय और काफी अत्यन्त हानिकर है, यदि कुछ लाभ हैं तो अल्पमात्रा में कभी-कभी लेने से।

इस प्रकार मादक-द्रव्यों का सेवन सामाजिक बुराई है। जहाँ तक हो सके मानसिक व शारीरिक आरोग्य के लिए इनसे बचना चाहिये।

प्रश्न—रोग और आरोग्य से आप क्या समझते हैं ? रोग और आरोग्य के क्या कारण हैं ? (१९७०)

उत्तर—शरीर और मानस दोषों, रसादि धातुओं, उपधातुओं तथा मलों की समता का नाम ही आरोग्य है। इनकी विषमता को रोग या दुःख कहा जाता है। पुरुष को शरीर और मन में जिसके संयोग होने से दुःख अनुभव होता है, उसे व्याधि कहते हैं।

चरक-संहिता के प्रारम्भ में बताया गया है कि आरोग्य धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का श्रेष्ठ मूल है। रोग आरोग्य तथा जीवन को नष्ट करने वाला है तथा मानव जगत में बहुत विघ्न करता है। व्याधि के रोग, आमय, गद, आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, पाप्मा आबाध तम तथा दुख पर्याय हैं।

शरीर तथा मन के आश्रयभूत व्याधियों की उत्पत्ति होने में काल, बुद्धि तथा इन्द्रियों के विषयों का मिथ्यायोग, अयोग तथा अतियोग—तीन हेतुओं का संग्रह है। इसी प्रकार त्रिविध रोग आयतन बताये गए हैं। इनके त्रिविध विकल्प हैं—असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम। असात्मेन्द्रियार्थ संयोग इन्द्रियार्थो के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग—तीन भेद होते हैं।

(क) **इन्द्रियार्थों का अतियोगादि**—नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना, त्वक् इन्द्रियों के त्रिविध योगों का उल्लेख यहाँ होता है। उदाहरणतया, नासा से अत्यन्त तीक्ष्ण उग्र गन्धों का अधिक मात्रा में संयोग होना अतियोग है। गन्ध का

नासा से सर्वथा संयोग न होना अयोग है। बुरी, प्रतिकूल विषैली अप्रिय गन्ध का नासा से संयोग होना मिथ्यायोग है। यही अन्य चार इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिये।

इस प्रकार चक्षुरसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, घ्राणसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, कर्णासात्मेन्द्रियार्थ संयोग तथा रसनासामेन्द्रियार्थ संयोग—पाँच के १५ प्रकार हो जाते हैं।

(ख) **कर्म का मिथ्यायोगादि**—वचन, मन तथा शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहते हैं। इनकी अति प्रवृत्ति को अतियोग, सर्वथा अपने कार्यों में न लगाना अयोग तथा अनुचित क्रियाएं करना मिथ्यायोग कहलाता है। उदाहरणतया—अधिक बोलना, अधिक सोचना, शारीरिक कार्यों को अधिक करना, वाणी, मन तथा शरीर का अतियोग है। कदापि न बोलना, कभी कुछ न सोचना तथा शरीर को किसी भी कार्य में न लगाना अयोग है। इसी प्रकार मलमूत्रादि के वेगों को रोकना, बुराई करना या अनुचित वचन कहना वाणी का मिथ्यायोग है। अतियोग तथा अयोग के अतिरिक्त वचन, मन तथा शरीर से किया जाने वाला कोई भी अहित कारक कर्म मिथ्यायोग कहलाता है।

शास्त्र में कहा गया है कि त्रिविध विकल्प (अतियोग), अयोग तथा मिथ्या योग और त्रिविध कर्म (वाणी, मन तथा शरीर से सम्पादित कर्म) प्रज्ञापराध है। प्रज्ञापराध में बुद्धि में विकृति आ जाती है। अतः प्रज्ञा में विकार आ जाने पर मनुष्य अनुचित कार्यों को करता है।

(ग) **काल का अतियोगादि**—काल से ऋतुओं का ज्ञान होता है। हेमन्त में अधिक शीत, ग्रीष्म में अधिक गर्मी तथा वर्षा में अधिक पानी बरसना क्रमशः हेमन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा के काल का अतियोग होता है। इसी प्रकार हीन तथा मिथ्या योग समझना चाहिए। काल को ही परिणाम कहते हैं क्योंकि काल ही समस्त अच्छे तथा बुरे कार्यों को धर्म-अधर्म रूप में परिवर्तित कर समय पर फल देता है।

इस प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम रोग के कारण होते हैं।

रोग के तीन मार्ग होते हैं—शाखा, मर्मास्थि सन्धियाँ तथा कोष्ठ। रोगों के बाहरी मार्ग शाखा हैं। इसमें रक्तादि धातुएं तथा त्वचा का समावेश है।

मध्यम मार्ग में मूत्राशय, हृदय, मूर्धा आदि से कण्ठ, नाभि तथा गुदा-मर्म, अस्थियों की संधियाँ (अस्थियों के जोड़) तथा इन सन्धिस्थानों पर स्थित स्नायु तथा कण्डरायें समाविष्ट होती हैं। कोष्ठ मार्ग में महास्रोत, शरीर का मध्यम भाग और आमाशय, पक्वाशय को समझना चाहिए।

प्रकार

रोग तीन प्रकार के होते हैं—निज, आगन्तुक तथा मानस।

(क) निज रोग शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ की विकृति से उत्पन्न होते हैं।

(ख) आगन्तुक रोग भूत-प्रेत या कीटाणु-जीवाणुओं के आक्रमण, विषयुक्त वायु के स्पर्श, अग्नि से जलना तथा शस्त्र आदि के अभिघात से होते हैं।

(ग) मानस रोग मन को प्रतिकूल वस्तुओं की प्राप्ति, अनुकूल वस्तुओं का प्राप्त न होना—कारणों से होते है।

कारण भेद से रोगों के मुख्य दो भेद शास्त्र में बताये गये हैं—निज (शरीर) तथा आगन्तुक रोग। सामान्यतः रोगों को चार विभागों में भी विभक्त किया जाता है—

१. **स्वाभाविक रोग**—सहज स्वभाव से अनिवार्य रूपेण होने वाले क्षुधा, तृष्णा, वृद्धावस्था, निद्रा, मृत्यु आदि को स्वाभाविक रोगों में समाविष्ट करते हैं। इस वर्ग के दो भेद किये जा सकते हैं—स्वाभाविक या दोषज। स्वभाव से आने वाली वृद्धावस्था, निद्रा आदि का उपचार नहीं किया जाता है। दोषों से उत्पन्न रोगों का समावेश शरीर रोगों मे कर लेते हैं। इस प्रकार रोगों के तीन भेद रह जाते है—शारीर, मानस तथा आगन्तुक।

२. **निज शारीरिक रोग**—वात, पित्त तथा कफ की विषमता से उत्पन्न रोग यथा ज्वर, कास आदि इस वर्ग में समाविष्ट है। इनके कारण तथा अन्य परिचय पूर्व में लिखा जा चुका है।

३. **आगन्तुक रोग**—इस वर्ग के रोग आगन्तुक या बाहरी कारणों से उत्पन्न होते हैं—उदाहरणतया—अभिशाप, अभिसंग, क्रोध, पतन, प्रहार, वेष्ट, हिंसा, सविष या निर्विष प्राणियों के नख, दन्त आदि विषों के कारण, चोट लगना, भग्न आदि इस प्रकार के रोग हैं।

४. **मानस रोग**—रज तथा तम नामक मानसिक दोष-उद्रेक वशात् या

अन्य आगन्तुक कारणों से मन को प्रथम पीड़ित करते हैं। वे मानस रोग कहलाते हैं। क्रोध, मोह, विषाद, काम, लोभ, चिन्ता प्रभृति मानस रोग के उदाहरण हैं।

उक्त चार रोगविभागों का समावेश पूर्वोक्त भेदों में किया जा सकता है।

शास्त्र में बताया गया है कि व्याधियाँ असंख्य हैं। सबकी गणना तथा परिचय देना कठिन कार्य है। इसीलिए स्थूल रूपेण प्रकृति सामान्य देकर रोगों के वर्ग बनाने का शास्त्रों में प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार सर्व रोगों का नामकरण (निदान) भी कठिन है। यदि चिकित्सक किसी नवीन रोग के नामकरण में असमर्थ है तो धैर्यपूर्वक कुपित दोष कारण की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रोग भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर उत्पन्न होते हैं। ऐसा समझकर रोग की आकृति अधिष्ठान तथा समुत्थान विशेष को ध्यान में रखकर चिकित्सा करना चाहिए।

प्रश्न—सार्वजनिक आरोग्य क्या क्या हैं? पानीय जल एवं उसकी व्यवस्था पर विचार कीजिए। (१९६५-६६)

उत्तर—सार्वजनिक आरोग्य से तात्पर्य समाज के मनुष्यों के सम्मिलित स्वास्थ्य से है। सार्वजनिक आरोग्य (Public-Hygiene) के अन्तर्गत ऐसे नियमों का अध्ययन होता है, जो सर्वजनता के लिए समान रूप से उपयोगी हों। वर्तमान काल में प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि प्राचीन चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद में 'हायजीन' न होने से वह आधुनिक स्वास्थ्य-समस्या का समाधान करने में समर्थ नहीं है। यह कथन कभी भी माना नहीं जा सकता है। यह आक्षेप तो यह प्रदर्शित करता है कि वे भारत के कर्णधार अथवा कटु आलोचक महानुभाव आयुर्वेद से भली-भाँति परिचित नहीं हैं। वस्तुतः यह आयुर्वेद विज्ञान पहले स्वास्थ्य, विशेषतः सार्वजनिक आरोग्य का समाधान करता है। उसके बाद और कुछ।

पानीय जल (१९६५,६७) दिव्य जल-तुषार जल (१९७१)

जल सार्वजनिक आरोग्य में महत्वपूर्ण स्थान रखने के साथ जन-जीवन के लिए अनिवार्य है। शास्त्रीय मतानुसार जल के दिव्य (धाराज, तौषार, करकाभव, हैम) एवं भौम (जांगल, आनूप, साधारण, नदिय, औद्भिद, निर्झर, सारस ताडाग, वाप्य, कौप्य चौंच्य, पाल्वल, विकिर, केदार, वृष्टि जल)—भेद होते

मुख्य आधार समझना सरल है। सर्वप्रथम शहर में जल को किसी विशाल कूप, नदी या तालाब से मशीन फिट कर जल खींचते हैं। यह जल पहले शुद्धि के यन्त्र से संचित कर लेते हैं। यह गन्दा भी हो सकता है और शुद्ध भी होता है। परन्तु फिर भी प्रमाणित करने हेतु सबको शुद्ध किया जाता है। जब यह पानी शुद्ध होकर पीने और व्यवहार करने योग्य हो जाता है तो शहर के निचले भागों में स्वतः (भूम्याकर्षण शक्ति द्वारा) और ऊँचे स्थानों में मशीन द्वारा ले जाते हैं। जल संचय का पात्र काफी वृहत् होना चाहिये। कम-से-कम एक सप्ताह तक नगर के उपयोगानुसार जल रह सके। तीन-तीन मास पर संचय यन्त्र या विशाल पात्र को स्वच्छ किया जाता है। विशाल शुद्ध जल-स्थान (पात्र) से निकालने वाला नल (प्रमुख) कम-से-कम साढ़े चार अंगुल मोटे लोहे का, अन्तःस्निग्ध होता है। यह नल मार्ग के धरातल से दो-तीन हाथ नीचे विस्तृत किये जाते हैं। इसी से प्रत्येक गृहों में जाने वाली लोहे अथवा शीशे की नली निकलती है। प्रायः शीशे का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कुछ विशेष ध्यान भी रखना होगा। अन्यथा अनेक हानियों की सम्भावना होती है। ये शुद्ध पानीय जल सवाह नलियाँ मल-मूत्र वाहक नालियों के समीप स्थित न हो अन्यथा उनसी अशुद्ध वायु के कारण शुद्ध जल भी दोषयुक्त हो सकता है।

यह भी आधुनिक प्रवन्ध उचित ही है कि जनता के लाभ और कल्याणार्थ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर जल मशीन (Water Pipe) का प्रबन्ध है। परन्तु यह कल स्वयं बन्द होने वाली होना, अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा भी किया जा सकता है कि जल की कमी के कारण शुद्ध व अशुद्ध जल—उनके पृथक्-पृथक् उपयोगों के लिए जनता को वितरित किया जावे। शहरों में जल के प्रवन्ध की विधियों में अनेक विकास हो रहे हैं। शीतल, उष्ण सभी प्रकार का जल विज्ञान ने यन्त्रों द्वारा सुलभ किया है।

प्रश्न—स्वास्थ्य नाशक व्यवसाय कौन-कौन से हैं ? स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से उनकी स्थिति के सम्बन्ध में सामान्य नियम क्या है ? (१९६९)

उत्तर—स्वास्थ्य नाशक व्यवसाय एवं नियमः—

कितने ही व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें काम करने वाले कर्मचारियों के स्वास्थ्य का नाश होता है। बहुत दुःख का विषय है कि उस ओर विशेष ध्यान नहीं

जाता था और जब कभी कोई झगड़ा-हड़ताल आदि ऐसे कर्मचारियों द्वारा आयोजित होती थी—उसमें वेतनवृद्धि एवं काम करने के समय में कटौती की माँग रखी जाती थी—स्वास्थ्य की ओर किसी का ध्यान नही दिया जाता है। बीमा पद्धति के लागू होने से कर्मचारियों के रोगी होने एवं चोट-फेंट लगने के बारे में कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। सम्प्रति कितने ही व्यवसायों-कारखानों में विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाने लगा है, जिनके वाष्प एवं रेत आदि गले एवं नाक से प्रवेश कर जाते हैं और स्वास्थ्य का नाश करते हैं। यह एक्सीडेन्ट (चोट लगना आदि) से भी अधिक खतरनाक सिद्ध हुए हैं।

इस तरह की रासायनिक प्रतिक्रियाओं से तथा चोट आदि से बचने के लिए कितने ही सरकारी एवं गैरसरकारी नियम बनाए गए हैं, जिनका पालन करने से उतनी हानि की संभावना नहीं रहती। इसी तरह बीमा कम्पनियाँ भी इस दिशा में सहायक सिद्ध होती हैं। व्यवसाय (कारखानेदारी) बीमा का प्रादुर्भाव उस समय से हुआ जब से कर्मचारी मुआवजा कानून (Workmen's Compansation Act) बना और उसमें रोगावस्था में उसे विशेष मुआवजा देने का नियम बनाया गया। इसी तरह मृत्यु होने पर उस कर्मचारी के आश्रितों को सहायता देनी होती है।

व्यवसायों में स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए कितने ही नियम हायजीन में बताए गए हैं। ऐसे कार्य (व्यवसाय) जो स्वास्थ्यनाशक हैं उनमें—खानों में काम करना (Mines), कारखानों में काम करना (Factories), दुकानों और गोदामों में काम करना, चिनाई का काम करना, परिवहन में काम करना या घरेलू काम में लगा रहना, महत्त्वपूर्ण है। जिन व्यवसायों में गर्दा (Dust) वाष्प (Fumes) अतिताप; आर्द्रता; प्रकाश; सैनीटेशन; कार्यावधि सीमा; कारखाने के विष तथा चोट आदि का अवसर रहता है—इनकी विकृति से स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है। ये ऐसे कारण हैं, जिन के किसी भी व्यवसाय में होने पर स्वास्थ्य का नाश हो सकता है। हम इन व्यवसायों में स्वास्थ्य-नाशक इन कारणों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) स्वास्थ्यनाशक गर्दा (Dust)—शरीर की रोग क्षमता के कारण कुछ गर्द इस तरह की होती हैं कि उनसे स्वास्थ्य का नाश नहीं होता। कुछ

तरह के गर्दे ऐसे हैं, जो खतरनाक होते हैं और स्वास्थ्य का नाश करते हैं। ऐसे गर्दे या तो क्षोमक (Irritents) होते हैं अथवा उनके साथ रोगोत्पादक कीटाणु साथ रहा करते हैं। कुछ में 'सिलिका (Silica) और एसवेस्टीज (Asbestos) होते हैं—वे भी स्वास्थ्यनाशक हैं। इनसे फुफ्फुस सम्वन्धी विकार होते हैं।

'सिलिकोसिस' नामक रोग 'सिलिका' के कणों के फुफ्फुसों में पहुँचने पर होता है—इसे ही वहुत वार भूल से 'ट्यूबरक्लोसिस' समझ लिया जाता है जो ठीक नहीं है। यह रोग उन्हीं को होता है जिनको एक लम्वी अवधि तक ऐसे कणों का श्वास मार्ग में खेंचने का अवसर पड़ता हो। जो लोग पत्थर फोड़ने, रोड़ी पीसने के कारखानों—मशीनों पर काम करते हों; या काँच जैसे धातु को काटने-रंगने या खुदाई करने का काम करते हों अथवा ऐसे खानों में काम करते हों जहाँ पत्थर आदि निकाले जाते हों—उनको यह विकार अधिक होता है। इस तरह के व्यवसाय वालों को जो रोग होता है वह वर्षों तक तो ज्ञात ही नहीं हो पाता, परन्तु एक वार रोग हो जाने पर वह वृद्धि को प्राप्त होता जाता है और उसे ट्यूवरक्लोसिस भी हो जाता है।

इस तरह के गर्दे द्वारा स्वास्थ्यनाश होने की स्थिति में प्रधान नियम ये हैं कि गर्द को वाहर फेंकने के लिए पंखे हों (Exhaust system); कर्मचारियों के नाक एवं मुख पर कपड़े आदि की पट्टी (Mask) लगाने की व्यवस्था हो; वहां पर वार-वार पानी छिड़कने की व्यवस्था हो ताकि वह रजकण एकत्रित न हों और हवा के साथ उड़कर श्वास पथ में न पहुँच सकें। ऐसे नियमों का पालन करने से इससे स्वास्थ्य को वचाया जा सकता है।

(२) शीशा विष (Lead Poisoning)—यह स्वास्थ्यनाशक व्यवसायों में एक प्रधान कारण है। यह शरीर में शीशा अथवा उससे वने योगिकों का संचय होने से होता है। निम्न व्यवसायों में इस विष के कारण स्वास्थ्य की हानि होती है

(क) पैन्टर (Painter)

(ख) चीनी के वर्तन वनाने वाले

(ग) छापाखाना के कर्मचारी

(घ) वैटरी के कारखानों में काम करने वाले

है । यह मोटर गाड़ियों के धुएँ में भी होती है । यह शरीर में आक्सीजन नहीं रहने देती । इस ,से मृत्यु तक हो सकती है ऐसे स्थानों पर उचित वातायन (Ventilation) होना आवश्यक है ।

५. कपड़ा मिल—कपड़ा मिलों में काम करने वालों में जहाँ बुनताखाता रहता है वहाँ पर गर्द उड़ती है जो श्वास पथ को विकृत कर देती है । ऐसे कर्मचारियों को कास-श्वास राजयक्ष्मा के होने की अधिक सभावना रहती है! यदि ऐसी व्यवस्था की जाए कि गर्द कर्मचारी के नाक आदि के अन्दर न जाए तो बहुत लाभ पहुँच सकता है और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता । इसके लिए कर्मचारी के नाक एवं मुख पर कपड़े की पट्टी (Mask) हो और गर्द को पानी छिड़क कर दबाया जाए ।

६. रासायनिक विष—ऐसी फैक्टरीज में जहाँ रासायनिक विष उत्पन्न होते हैं—काम करने वालों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है । खान से निकाला कच्चा धातु जलाने में; पंखों को जलाने मे और त्वचा आदि जलाने में संखिया विष की उत्पत्ति होती है । थर्मामीटर बनाने; बेरोमीटर बनाने में पारद के विष का प्रभाव पड़ सकता है । इसी तरह जिस भी रासायनिक पदार्थ का उपयोग होता हो, उसके दोष स्वास्थ्यनाशक हो सकते हैं ।

७. डिस्पोजल सीवेज—जैसे ही मल-मूत्र गन्दा सारे शहर से एकत्रित होकर एक स्थान पर पहुँचता है वहाँ उसे साफ करने तथा खाद बनाने एवं पानी को नदी में मिलने की व्यवस्था की जाती है बड़े-बड़े शहरों में ऐसी व्यवस्था होती है और वहाँ पर काम करने वालों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि वहाँ की वायु दूषित होती है ।

इन सब कारखानों—फैक्टरीज में काम करने वालों के स्वस्थ्य पर विभिन्न प्रकार के विषों, दूषित पदार्थों—गैसों का स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है और उसके कारण सम्बन्धित व्यक्तियों के स्वास्थ्य का नाश होता है । ऐसी स्थिति में कुछ आवश्यक नियम बनाए गए हैं जिन का पालन ऐसे व्यवसायों के लिए आवश्यक कर दिया गया है, वे निम्न प्रकार हैं—

(१) उन रोगों की जो कारखानों में प्राय: हो सकते हैं तथा चोट आदि की ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए । सिलिकोसिस—शीशा विष—चोट (Accidents) का पूरा ध्यान रखें ।

(२) जिनको कारखानों में नियुक्त किया जाए उनके स्वास्थ्य की पूरी जाँच की जाए। जो कर्मचारी पहले से काम पर हों उनकी सावधिक स्वास्थ्य परीक्षा अवश्य कर दी जाए।

(३) स्वास्थ्यदायक वातावरण—यथा सफाई-वातायन आदि की व्यवस्था सैनीटेशन आदि की व्यवस्था की जाए।

(४) सुरक्षा विभाग से सम्बन्ध स्थापित रहे ताकि चोट फेंट की अवस्था में उनकी सहायता ली जा सके।

(५) कारखाने के कर्मचारियों में छूत की वीमारी न फैल सके इस की व्यवस्था की जाए।

(६) काम का समय तथा आराम का समय निश्चित कर दिया जाए ताकि अधिक कार्य से थकावट (Fatigue) होकर स्वास्थ्य पर बुरा असर न पड़े।

(७) स्वास्थ्यप्रद भोजन आदि की व्यवस्था की जाए।

(८) स्वास्थ्य के विषय में शिक्षा दी जाए इसके लिए परिचर्चा-कान्फ्रेंस-पत्रिका, पत्रक और सिनेमा आदि की व्यवस्था की जाए।

इस तरह इन नियमों का पालन करने से ऐसे व्यवसायों में काम करने वालों के स्वास्थ्य को भी हम बचा सकते हैं जिन व्यवसायों में स्वास्थ्य बिगड़ने की संभावना रहती है।

प्रश्न—वायु संचार और वातावरण शुद्धि पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जीवन के लिए वायु, जल और आहार से भी अनिवार्य पदार्थ है। श्वास के लिए, रक्तशुद्धि के लिए और शारीरिक ताप रक्षा के लिए वायु ही हेतु है। आहार पाचन क्रिया द्वारा आकृष्ट ओषजन पर ही निर्भर है। अतः जन्मकाल से श्वासगति प्रारम्भ हो जाती है। लम्बे काल तक दूषित वायु का सेवन (पूर्वोक्त क्रिया व गुण के विपरीत होने से) अस्वास्थ्य का प्रधान कारण होता है। आयुर्वेद में वायु के अनेक गुणों का वर्णन किया है, जो कि यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

दिशा भेद से वायु के गुणों में अन्तर आ जाता है। पूर्वी हवा दाह प्रधान (रूक्ष), दक्षिणी बलवर्धक, पश्चिमी कफशोषक और उत्तरी वायु दोषप्रकोपक होती है। पाश्चात्य मतानुसार वायु में आक्सीजन २०·९७ नाइट्रोजन ७७.११

आर्गन ०८०, कार्वन डाय आक्साइड ०.०३ और जल वाष्प १.०४ पाया जाता है।

विकृत वायु का वायुमण्डल में शीघ्र दूर होने के कारण हैं, वायु में सदा गति का होना, जिससे शुद्ध वायु आ जाती है। हमारे द्वारा निश्वसित मलिन वायु स्वच्छ वायु में मिल कर गुणकारक होने लगता है। इसमें सूर्य प्रकाश को मूल कारण कहा गया है। इसी प्रकार का क्रम घरों में चलता रहता है। बाहरी और भीतरी वायु की उष्णता में, अन्तर न हो तो फिर ऐसी गति सम्भव नहीं। फिर अधिक घने और बड़े शहरों में इस प्रकार की क्रिया सफल नहीं हो पाती है। अतः शास्त्र में वातप्रविचार प्रकरण पर विचार किया गया है।

वायु संचार में वात विचार (Ventilation) का अभिप्राय है शुद्ध वायु का विना किसी अवरोध के सर्वत्र चलायमान होना। इसके विद्वानों ने दो भेद बताये हैं—वहिर्वात प्रविचार व अन्तर्वात प्रविचार। इसके प्रथम प्रकार के लिए कुछ उपाय करने चाहियें। गृह अलग-अलग बने होने चाहियें। घरों को चारों तरफ खुला न रखा जा सके तो सामने आँगन के रूप में खुला स्थान होना आवश्यक है। सड़कें और गलियाँ खूब चौड़ी और सड़कों पर पानी का छिड़काव होते रहना चाहिये। नालियों का कूड़ा-कर्कट उठाकर जल से सदैव प्रक्षालन करे। कारखाने, आफिस, फैक्टरी, मिल नगर में न बनाकर सदैव वस्ती से वाहर और दूर बनाने चाहिये। इससे उनकी गन्दगी धूम्रादि नगर से बाहर ही निकल जायेगा। इस तरह किसी स्थान पर दूषित वायु के निर्गमन का प्रबन्ध होता है। अब अन्तर्वात व्यवस्था पर भी विचार करके देखें। उसके अन्तर्गत घर के अन्दर शुद्ध वायु का आना और अशुद्ध वायु का वाहर निकलना—आते हैं। शहर या ग्राम में शुद्ध वातावरण है तो अच्छी वायु का घरों में आना होता ही है। अतः गृहों में झरोखे, जंगले, खिड़कियाँ आदि बनाया जाना आवश्यक है। सामान्य रूप से प्रत्येक पुरुष के लिए ३००० घन फीट (प्रति घण्टा) वायु की आवश्यकता है। पशुओं के लिए (उनके पौंड भार के लिए २५ घन फीट वायु की आवश्यकतानुसार शुद्ध वायु की आवश्यकता होती है।

स्वस्थ एवं रोगी पुरुषों की वायु की आवश्यकता में अन्तर होता है। इसी

के अनुसार प्रति मनुष्य निवास के लिए एक हजार घन फीट घनफल की जगह होना चाहिए। कमरों में दरवाजे, खिड़कियाँ आदि सामने होने से आवागमन में सरलता रहती है। श्वास-निश्वास, अग्नि आदि के जलने से वायु उष्ण लघु होकर ऊपर जाती है। अत: इसी खराव वायु के निष्कासनार्थ छत के समीप रोशनदान या झरोखे अवश्य होने चाहियें। इन्हीं से शुद्ध वायु आती है और अशुद्ध वायु निकलती है। परन्तु गर्मियों में जब लू एवं अधिक धूप के कारण बन्द रखनी होती हैं तब अन्त:पथ नामक प्रबन्ध से अन्दर शुद्ध वायु आने के लिए घर में भूमि भाग से ५-६ फीट ऊँचा, इस भाग का ऊपरी मुख की तरफ रखें। इसका क्षेत्रफल २४ वर्ग इंच हो। इससे गृह में प्रवेश करने वाली वायु प्रति सैकिण्ड् ५ फीट से अधिक नहीं होती। इसका मुख शंखाकार (अन्दर की ओर विस्तृत व बाहर की ओर संकुचित) रखें तो अत्युत्तम। अब बहिपथ अशुद्ध वायु के निकालने हेतु तैयार करते हैं। साधारणत: अन्त:पथ के ही तरह है पर बाहरी मुख छत के समीप हो, द्वार ऊपर ही होनी चाहिए। यदि एक दीप रखने की आवश्यकता हो—अच्छा है। दोनों प्रकार के पथों की धूल से बचाव रखना चाहिए।

हवन द्वारा भी वायु की शुद्धि की जाती है। इसके लिए कपूर, देवदारु, धूप, चन्दन, गन्धविरोजा, राल, अगर, नीम, गन्धक, बाकुची, तेजपात, राई, गुग्गुल, सफेद सरसों, सतला प्रभृति द्रव्यों से अग्नि में हवन करने से वायु की शुद्धि हो जाती है। यह प्राचीन विधान है।

प्रश्न—नगर-निर्माण एवं वास स्थान पर विचार कीजिए।(१९६१)

उत्तर—नगर के निर्माण में पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। नगर केन्द्र स्थान पर बनाना चाहिए। राज महल अथवा राजधानी तो नदी के किनारे ही बनाना अच्छा होता है। इसके चारों ओर—सभी दिशाओं में—चार-दीवारी या चार बड़े दरवाजे हों। खरीदने व बेचने के बड़े बाजार एक ओर और छोटे बाजार एक ओर होने चाहिए। मनुष्यों के रहने के लिए बस्ती एक ओर बनानी चाहिए। ये मकान आपस में सटे हुए न हों। मकान सभी प्रकार के छोटे-बड़े बनाने चाहियें।

सार्वजनिक बाजार प्रधान मार्ग (Main road) से किनारे ही रखना चाहिए। ताकि यहाँ जनता का आवागमन सरलता से हो सके। इसका मुख

सड़क की ओर ही रखना चाहिए। मधुर पकवान आदि शीशे के पात्र में सुरक्षित रखना आवश्यक है। इसके लिए राजकीय नियम भी होने चाहिए। फल-शाक आदि के विक्रय बाजार से कुछ दूर ही मांस का बाजार होवे। इसकी स्वच्छता के लिए अन्य बाजारों की अपेक्षा अधिक ध्यान रखना होगा। प्रत्येक बाजार के सामने आवागमन कार्य हेतु न्यूनतम चार हाथ चौड़ा मार्ग हो। चारों ओर सड़कें होना आवश्यक है। दक्षिण भाग में जुलाहों के, उत्तर भाग में कुम्हारों के स्थान (कक्ष) होने चाहिए। साथ ही छोटी कारीगरी के भी स्थान हों। ब्राह्मणों के गृहों से निर्मित एक चतुष्पथ (चौक—चौराहा) भी हो, जिसके अन्तःबाजार में ताम्बूल, फल एवं बहुमूल्य दुकानें हों। वहाँ ईशान कोण से पूर्व के मध्य तक की दुकानों में मछली माँस एवं शुष्क शाक रखे जावें। पूर्व के बीच में अग्निकोण तक खाने-पीने की दुकानें हों। अग्निकोण से दक्षिण मध्य तक मिट्टी के पात्र और दक्षिण से नैऋत्य कोण से पश्चिम मध्य तक अस्त्र-शस्त्र की दुकानें, पश्चिम मध्य से वायव्य कोण तक चावल, दाल, आटा आदि सर्व अन्न व चटाई आदि की दुकानें वायव्य कोण से उत्तर मध्य तक वस्त्र, नमक, तेल, दवा आदि की दुकानें, उत्तर-मध्य से ईशान कोण तक गन्ध, इत्र, पुष्प आदि के विक्रय स्थान हों। इन सबका तात्पर्य यह है कि नगर के चारों ओर नवीन बाजार होना चाहिए और नगर के भीतरी मध्य मार्गों पर रत्न, सवर्ण, वस्त्र, आभूषण आदि की दुकानें हों। परन्तु बाजार के चारों ओर कुछ दूर पर सब लोगों के मकान होंगे। शहर से ४०० गज की दूरी पर पूर्व में चाण्डालों के रहने की व्यवस्था हो।

इसी प्रकार यथायोग्य अन्य व्यवसायियों को समझना चाहिए। गेहूँ आद की दुकानों एवं मीठे पदार्थों के विक्रय स्थानों में प्रकाश और वायु के आने के लिये दीवालों तथा छत में विशेष छिद्र या झरोखे होने आवश्यक हैं। फर्श आदि सुन्दर एवं स्वच्छ बनाना अच्छा है। दुकान के आगे बरामदा भी हो। जलमार्ग मलमार्ग का सुप्रबन्ध करते हुए हरेक बाजारों के भी चारों ओर नाली चाहिए। बाजार के बाहर स्थित बड़े टट्टी के रास्ते से सम्मिलित हों। बाजार में बीच-बीच में कूड़ा, थूकने आदि के लिए विशेष पात्र (ढक्कनदार) हों, पास में ही शौचगृह कुछ अवश्य बना दें। दुकानों के सामने की भूमियों, नालियों, शौचालयों एवं मार्गों की सफाई प्रतिदिन होनी चाहिए। सारा प्रबन्ध

नगरपालिका की देख-रेख में पूर्ण होना चाहिए।

वास स्थान (१९६५, ६६)

आरोग्य के लिए यह आवश्यक है कि रहने के लिए मकान सूखी, कुछ छिद्र युक्त कुछ नीची एवं नरम भूमि पर बनाना चाहिए। जल वहाँ से बिना रुकावट चला जाना चाहिए। इसी कारण चिकनी मिट्टी अग्राह्य मानी गई है। आम, बहेड़ा आदि के पेड़ भी खड़े हों तो काफी सुन्दर रहता है। जिससे मन व नेत्र प्रसन्न हो जावें, वहीं मकान रहने के लिये निर्माण करें। मुख्य बात यह है कि वह स्थान, जहां पर घर बनाने का आयोजन हो खुला हुआ होना चाहिए। गन्दे नाले, धोबी घाट या गड्ढे आदि भी हानिकर होने के कारण इनके निकट नहीं बनावें। शास्त्रों के अनुसार किसी पर्वत के आसपास छायादार स्थान उत्तम होता है। गड्ढों में मल या कूड़ा कर्कट भरकर निर्मित भूमि में भी वास स्थान न बनाएं। घर के चारों ओर खुला हुआ स्थान, वायु के आवागमन के लिए पर्याप्त आयाम और मकान का द्वार पूर्व या उत्तर दिशा में होवे। यह सूर्य की किरणों के आने के लिए होता है।

मकान की नींव सीमेंट पत्थर आदि के स्तरों से निर्मित भार-वहनशील हो। भूमि के गीलेपन में मकान खम्भों पर भी बनाया जा सकता है। मकान की दीवारें, ईंट पत्थर या लकड़ी से निर्मित हों, जो पानी सोखने के भय से दोनों पर्तों पर सीमेंट या चूना से युक्त हों। साथ ही चूना भी एक-दो बार होता रहे। यदि मिट्टी की दीवाल हो तो भी गोबर से लेप करें। दीवाल के निचले भागों के बनते समय कुछ पदार्थ अलकतरा आदि मिलाकर बनवाते हैं, क्योंकि गीलापन प्रवेश न कर सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि दो मंजिल मकान में नीचे की दीवाल अधिक मोटी तथा ऊपर की पतली होनी चाहिए।

प्रत्येक कमरे में चार हाथ ऊँचा और दो हाथ चौड़ा (कम से कम एक) द्वार और एक वायु मार्ग रहे। फर्श सरलता से साफ हो सकने वाला रहे। छत खपरैल, कुश आदि की अथवा समतल बनानी चाहिए। नालियों से युक्त एवं रोशनदानों सहित छत उत्तम मानी गई है। रसोईघर ऐसा हो कि उसका धुआं सब घर में न फैले और दक्षिण कोण में स्थिति हो। मूत्र गृह एवं पाखाना घर के एक किनारे बनाना चाहिए और सदैव स्वच्छ भी रहे। गोशाला भी अपनी आवश्यकतानुसार गृह के अत्यन्त निकट हो, ऐसी बनाएँ।

शयनागार (१९६३)

यहाँ पर वास स्थान के निर्माण को ध्यान में रखते हुए वास स्थान का निर्माण करना चाहिए। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शयनागार घर के दूसरे भाग में ऊपर होना चाहिए। उसका द्वार उत्तर या पूर्व दिशा में हो, जिसमें वात-संचार का प्रबन्ध हो। दिन में प्रकाश भली प्रकार जाकर उसे प्रकाशित कर सके। रात्रि मे शीतकाल के दिनों में शीतल वायु सीधी न लगे, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए।

रात्रि में निद्रा सेवन करने के लिए सुशय्या होनी चाहिए। आयुर्वेद में बताया गया है कि इस प्रकार सोना हृदय को बल देने वाला, पुष्टिकारक, शुक्रकरी, निद्रा देने वाला तथा धैर्य रखने वाला होता है। इससे श्रम, वातरोग नष्ट होते हैं तथा इसमें वाजीकरण कर्म सम्पन्न होता है। खाट या चारपाई त्रिदोषनाशक, रुई के गद्दे की खाट वात कफ नष्ट करने वाली होती है। पृथ्वी की शय्या धातुवृद्धि करने वाली, वाजीकरण गुण युक्त है। इसके विपरीत शैया पर सोने से विरुद्ध परिणाम होते हैं।

रात्रिचर्या में भोजन ग्रहण करने का तथा अन्य आचरण उल्लेख किए गए हैं। इस प्रकार प्रसन्न मन तथा शारीरिक स्वच्छता करके पवित्र तथा उचित विस्तार वाले स्थान पर शयन की तैयारी करनी चाहिए। पलंग या शय्या की ऊँचाई जानु के बराबर होनी आवश्यक है। इस अविषम तथा सुखदायी शय्या पर पूर्व या दक्षिण को सिर करके सोना चाहिए। शास्त्रों का मत है कि रात्रि को शयन करते समय गुरुओं, देवस्थान या दक्षिणपूर्व की ओर पैर नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—मल-मूत्र दूरीकरण विधि पर विचार प्रकट कीजिए। (१९६८)

उत्तर—अभिप्राय—सार्वजनिक स्वास्थ्य में मलादि की सफाई विशेष महत्त्व रखती है। सामान्य रूप से शास्त्रीय परिभाषानुसार मल दो प्रकार का कहा जा सकता है। पहला संकर मल और दूसरा किट्ट मल। संकर मल में तो घर की राख, सड़कों का कूड़ा करकट तथा गोबर आदि और किट्ट मल में असली मल-मूत्र (टट्टी पेशाब) पाखानों की गन्दगी शामिल की जाती है।

कूड़े करकट आदि अर्थात् संकर मल को दूर करने के लिए पहले उसे किन्हीं उचित पात्रों में इकट्ठा कर लेते हैं। ये पात्र सीमेंट या टीन के बनाए

जाते हैं और नगर में विभिन्न स्थानों पर रख देने चाहियें। अनुभव द्वारा यह देखा गया है वे कूड़ेदान बड़े की अपेक्षा छोटे अधिक लाभकर होते हैं। दो-तीन घरों या दुकानों के बीच अगर एक-एक पात्र रख दिया जाये तो काफी लाभप्रद एवं सुविधाजनक होगा। अब यह कूड़ा इकट्ठा हो जाने पर किस प्रकार साफ किया या फेंका जावे। यह प्रश्न उठता है कि इस कूड़े को कैसे और कहाँ डाला जावे। इसके प्रज्वालन और प्रपूरण दो प्रकार बताये हैं। प्रज्वालन विधि वर्षा ऋतु के अलावा अन्य कालों में अच्छा कार्य करती है। इस पद्धति से कूड़ा-करकट को जलाकर राख जल जाने पर फेंकने में सरलता हो जाया करती है। यह विधि अच्छी उपयोगी सिद्ध हुई है।

अब किट्टमल निष्कासन की समस्या बहुत लम्बी है। पहले इस प्रकार के मल को संचय विधि पर लिखते हैं। मेहतर लोगों को चाहिये कि ठीक समय पर प्रतिदिन प्रत्येक घर और शौचालयों (जो कि सार्वजनिक होते हैं) में जाकर सफाई करके मल उठा लायें। पाखानों में मल-मूत्र के पात्र यदि अलग-अलग रखे होते हों, तो बड़ा सुन्दर रहता है। इस टट्टी को उठाकर एक गाड़ी में रखकर नगर से बाहर की ओर उठाकर उसे ले जाना चाहिए। इस मल को दिन में दो बार नगर से निष्कासन हेतु मल की गाड़ी में डाल देना चाहिए। यह भी हो सकता है कि मल-पात्रों को ही धीरे-धीरे चलने वाली गाड़ी में रख कर नगर के बाहर पहुँचा दिया जावे, इससे दुर्गन्ध कम फैलती है।

खातप्रपूरण

अब इस एकत्रित मल को निक्षेपण करने के लिये इन विधियों को काम में लाया जाता है। पहली विधि खातप्रपूरण है।

पद्धतियाँ

यही तरकीब अच्छी मानी गई है। इस विधि को सिद्ध करने की भूमि नगर से १२०० हाथ दूर और जलाशय से ६०० हाथ दूर कम से कम हो। साथ में यह भी ध्यान रखें कि उधर से वायु न बहती हो। अन्यथा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होगा, यह भूमि पर्याप्त लम्बाई, चौड़ाई, की निश्चित कर लेनी चाहिए। इसमें विधि अनुसार गड्ढे खोदे जाते हैं। गड्ढों का फर्श गीला या जलपूर्ण न होना चाहिए और पास की भूमि से कुछ ऊँचा हो तथा सूखा भी हो तो सुन्दर रहता है। जब ऐसी भूमि नहीं मिलती है तो पाट कर

इस योग्य बना ली जाती है इस भूमि को समतल कर १२ भागों में विभाजित करके प्रत्येक पात्र को एक महीने को मल भरने के लिए पर्याप्त समझा जाता है। इस खातप्रपूरण की तीन विधियाँ हैं।

गम्भीर खातप्रपूरण में गड्ढे २ फीट चौड़े और २ फीट लम्बे, सीधी समान्तर रेखायें ३ फीट की दूरी पर खोदे जाते हैं। पुनः इसमें ११ अंगुल तक मल-मूत्र भरकर मिट्टी छोड़ दी जाती है। लगभग ६ मास के बाद खाद के रूप में वितरित कर सकते हैं। इस प्रकार मूत्र को भी इन गड्ढों में डालना चाहिये। ऊपर मूत्र डालकर हल चला देना भी अच्छा रहता है।

अगम्भीर खातप्रपूरण विधि में गड्ढे की गहराई केवल ८ अंगुल रह जाती है। दो पंक्तियों की अन्तर दूरी १ फीट की रह जाती है। गड्ढे का दो पूर्व भाग मल से भरकर शेष भाग शुष्क मिट्टी से भर देना चाहिये। इस भूमि में खेती की जा सकती है। यह विधि अच्छी न होने का यह भी कारण है कि इसमें गम्भीर खातप्रपूरण की अपेक्षा चौगुना स्थान लगता है।

तीसरी विधि यह भी है कि ८ अंगुल के अन्तर पर भूमि में १६ × ५ फीट और १ फीट गहराई के गड्ढों में मल-मूत्र डालकर इन्हीं गड्ढों में से निकली मिट्टी को महीन कर भर देते है। पतले मल के लिए यह तरकीब प्रायः अच्छी कहते है और ऐसी भूमि में ४ वर्ष तक खाद बनी रहती है।

यह विधि मूत्र व मलिन जल मिश्रित मल के निष्कासन के समय प्रयुक्त होती है। १६ × ५ फीट के स्थान पर २-३ पूर्व गहरा खात खोदा जाता है। फिर १२ अंगुल तक फर्श की मिट्टी छिद्रयुक्त बना ली जाती है। पुनः उसी में किट्ट मल छोड़ दिया जाता है। मिट्टी में मल सूख जाने पर ऊपर से ४ अंगुल मिट्टी बिछा दी जाती है। मल प्रायः एक सप्ताह में विघटित हो जाता है। परन्तु इसके लिए अगम्भीर खात की अपेक्षा चौगुनी भूमि चाहिए।

गर्त्तपूरण

अब एकत्रित मल के निष्कासनार्थ दूसरी विधि गर्त्तपूरण के विषय में लिखते हैं। विधि पुरानी है फिर भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। २० वर्ग फीट क्षेत्रफल की भूमि में ५ फीट गहरा खात खोदते हैं बीच-बीच में मिट्टी और मल की सतहों को बिछाकर एक फीट ऊँची मिट्टी डालकर बन्द करने से ३ मास में खाद बन जाती है। यदि बहुत देर तक रखा

जायेगा तो जनन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह विधि सावधानीपूर्ण है।

प्रज्वालन विधि

यह अन्तिम पद्धति है। इसके लिए यह अनिवार्य है कि मल द्रवांश रहित होने के साथ लकड़ी अच्छी सुगमता से जलने लायक पर्याप्त मात्रा में मिलती हो। साथ ही शुष्क प्रदेश अच्छा हो तो और भी अच्छा है। वही एक हरिजन के तत्वावधान में मल को नगर के बाहर (समीप) ही जला देते हैं, यही प्रज्वालन विधि है।

जलवाहन विधि

अब तक हम किट्टमल (टट्टी-पेशाब आदि) के संचार विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। अब जलवाहन विधि का भी मल दूरीकरणार्थ परिचय प्राप्त करना चाहिए। जलवाहन विधि अर्थात् पानी में मल-मूत्रादि-फेंकने में लाभ और हानि दोनों ही हैं। इस विधि मे सर्वप्रथम मल इकट्ठा किया जाता है अतः इसमें कुछ नुकसान भी होते हैं। असुरक्षित नल से मक्खियों की संख्या बढ़ती है। फिर जल-लाने के लिए आर्थिक खर्चों में भी वृद्धि हो जाती है। कम जल वाले नगर में यह विधि अनुपयुक्त है। फिर भी इस पद्धति से कुछ लाभ होने के कारण इसे निम्न विधियों मे विभाजित कर सचालित किया जाता है।

(१) प्रथम विधि जलसंवाहक मल-पात्र द्वारा क्रियान्वित होती है। किसी कमरे में मल के लिए विशेप मशीन होती है। मल बहाने के लिए छोटा पानी का हौज भी होता है। जहाँ मल छोड़ा जाता है वह चिकने पत्थर आदि से निर्मित होता है। यह यन्त्र घर के कोने में मुख्य दीवार के बाहर या कुछ दूर बनाया जाता है। शौचालय की दीवारें चिकनी होनी आवश्यक है। मध्य का हिस्सा मल-पात्र के चारों ओर ढालू होना चाहिए। मलगृह का क्षेत्रफल ३ वर्ग फीट तो होता ही है ! जैसे ही मल गिरता है, सिकड़ी खींचने पर काफी जल एकदम गिर पड़ने से मल किट्ट नाली से निकलता है।

(२) द्वितीय विधि किट्ट नल के नाम से सम्बोधित है। एक सिरा विपाश और दूसरा सिरा मल-पथ से संयुक्त होता है। यह लौह आदि में से किसी धातु का बना गोल ४ पर्व व्यास का होता है। इसमें घर के पाखाने का मल बहता है।

(३) अब तीसरी पद्धति पर प्रकाश डालेंगे। जो नल किट्टनल के मल को किट्टवाह में ले जाता है, इसे गृहमल पथ कहते हैं। भीतरी भाग इसका समतल होने से मल भी इकट्ठा नहीं हो सकता है। सभी शाखाओं के मिलने वाले भाग में निर्मित कोण इस नल की प्रवाह दिशा में हों। इनका बीच-बीच निरीक्षण करते रहना चाहिए।

(४) यह अन्तिम तरकीब है। जहाँ पर कई घरों का मल, गृह-मल-पथ द्वारा आकर बहता हो, उसे किट्टवाह नाम दिया गया है यह दो प्रकार का होता है—वर्षा के जल को बहाने के लिए और घर का शेष मल निकालने के लिए। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों कामों के लिए पृथक्-पृथक् नल लगे हों। जमीन में नीचे १० फीट की गहराई पर बिछा देते हैं। ढाल इस प्रकार बढ़ाते जाना चाहिए कि जिससे बहाव गति प्रति ढाई विपल में तीन फीट हो सके। यह यन्त्र छोटे चीनी मिट्टी या लोहे के और बड़े आकार के सीमेंट या ईंट से निर्मित होते हैं। यदि किट्टवाहक में मल किसी कारण न बहता हो तो पम्प लगाते हैं। वायु के प्रबन्ध के लिए (Ventilators) लगाने चाहिये।

जलवाहन विधि के द्वारा जो सारा किट्ट एकत्रित हो जाता है उसे अन्तिम निक्षेपण रूप देने के लिए किट्ट को समुद्र में डालकर, नदी में डालकर, शुद्धि करके, खेतों में डालकर खाद बनाकर क्रिया सम्पन्न करते हैं।

प्रश्न—रोगी गृह तथा रोगों के भोजन पर प्रकाश डालें।

उत्तर—रोगी के लिए खुला, ऊँचा व हवादार मकान हो। उत्तम वायु संचार होने से रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करता है। कमरा घर से अलग या ऊपरी मंजिल पर हो तो सुन्दर। संक्रामक रोगी के लिए तो पृथक् रखने की व्यवस्था होती है। दिशा दक्षिण या पश्चिम की ओर प्रकाश-युक्त हो। गन्दे द्रव या जल निष्कासनार्थ नालियों का प्रबन्ध हो। गृह का तापमान ७०% फा० हो, गर्मियों में ठंडक के लिए खस की टट्टियों का प्रबन्ध करें, आर्द्रता को गर्मी देकर नियमित करते हैं। खिड़कियों आदि से यह प्रबन्ध करें कि कमरे की पूरी गन्दी वायु व्यवस्थित रूप से निकलती रहे और ताजी हवा आये परन्तु शीतल हवा न लगे। रोगी गृह की प्रतिदिन स्वच्छता आवश्यक है। कमरे को कुछ आर्द्र झाड़न से पोंछ देना चाहिए। झाड़ू लगाते समय धूल न उड़ने पावे। जमीन पर गलीचे या फर्श, अगर बिछे हों तो हटा दें। कमरे में अना-

वश्यक सजावट का सामान न रखें। केवल कुछ गन्धहीन सुन्दर फूलों के गुल-दस्ते तो रख सकते हैं। परन्तु वनस्पतियों आदि को रात्रि में न रखें। कमरे में दौड़भाग, वार्तालाप से अनावश्यक शान्ति भंग न होने पावे। प्राय: देखा गया है कि रोगी के कमरे में लोग कानाफूसी करते हैं, तो इससे रोगी को शंका हो सकती है। अत: बिल्कुल धीरे बातें भी निषिद्ध हैं। रोगी गृह के बाहर ही वार्तालाप करें।

रोगी की शय्या लकड़ी की न होकर लोहे की हो। जोकि कृमिहीनता के लिए विशेष सहायक है। चारपाई बिछाने का स्थान नियत हो अर्थात् सीधी हवा न लगे। जरा खिड़की के पास रखने से वह बाहर के दृश्य भी देखता रहेगा। चारपाई पर गद्दा, कम्बल, निचली चादर, तह की हुई चादर, आवश्य-कतानुसार ओढ़ने के वस्त्र एवं एक आरामदायक तकिया रखना चाहिए। ये कपड़े आवश्यकतानुसार एवं रोग, रोगी की स्थिति के आधार पर बदलते रहना चाहिए। चादर को लपेट कर बदलने की विधि का प्रयोग करें। मलेरिया प्रधान देशों में मसहरी लगायें। चिकित्सक की आज्ञा से उसे चार-पाई के नीचे उतरना चाहिये। शय्या पर टेक लगाने के उपकरण (Bed-Rest) भी लगाए जाते हैं। जब रोगी बैठने योग्य हो जावे तब इनका प्रयोग करना चाहिए। तब गद्दे अथवा तकिये लगाकर बैठने का आरामदायक प्रबन्ध करना होता है। शय्यावृणों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। रोगी को उठाने या बैठाने (आवश्यकता के लिए २-३ आदमियों की सहायता से) में सावधानी के साथ कार्य करना चाहिए।

रोगी का भोजन

स्वस्थावस्था में मनुष्य जितनी मात्रा में भोजन के विभिन्न घटकों का सेवन करता है, रोगी होने पर उसमें परिवर्तन आवश्यक है, रोगियों को भोजन मुख-आमाशय प्रणाली, नासिका नलिका तथा गुदा द्वारा दिया जाता है। यह देखा गया है कि केवल भोजन प्रयोग की सुन्दर विधि द्वारा ही रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न रोगों में विशेष भोजन दिये जाते हैं। रोगी भोजन कितना पचा सकता है या खाना खा सकता है, वह बाद की चीज है। रुग्णावस्था में रोगी के शरीर में निर्बलता, अपच, हृदयविकार एवं रक्त विषमता उत्पन्न हो जाते हैं। अत: इन का ध्यान रखकर भोजन प्रयोग करायें।

भोजन द्रव, पौष्टिक एवं सामान्य हो दूध भी इसमें अच्छा है। वय के अनुसार सेवन करायें। रोगियों को एकदम भोजन भी करना हानिकर है। थोड़ा-थोड़ा भोजन आराम से खिलायें। अतः ३-३ घण्टे के बाद आहार सेवन करायें। रोगी को जगाकर खिलाने से निद्रा में हानि पहुँचती है। अनियमित भोजन कभी प्रदान न करें। लगातार एक ही भोजन देते रहने से रुचि नहीं बढती, अतः परिवर्तन कर खिलाने से रोगी को भी आनन्द अनुभव होता है। भोजन के सम्बन्ध में रोगी के परिचारक का पर्याप्त उत्तरदायित्व है। रोगी के अधिक भोजन माँगने पर आराम से समझाकर थोड़ा और उचित मात्रा में अधिक दें। भोजन का तापक्रम, स्वाद आदि स्वयं जानकर तब रोगी को आहार प्रदान करना चाहिए। ब्रांडी, चाय आवश्यकतानुसार ही देना चाहिए।

रोगी के असाधारण खाद्य पदार्थों में अरारोट, साबूदाना एवं दूध चावल का समावेश किया जा सकता है। इन सबको यथाविधि बनाकर कम मात्रा में खिलाना लाभप्रद है। अण्डे का पानी, कांजी, जौ का पानी, चूने का पानी भी प्रशस्त है। सुपाच्य आहारों में आजकल प्रायः मूंग की पतली दाल या उसका पानी पतली खिचड़ी, परतल दलिया, खीलें दी जाती हैं। फिर भी विभिन्न रोगों में कुछ विशेष भोजन की व्यवस्था करनी होती है। इसके लिए चिकित्सक बताता है। परन्तु सामान्यतः ज्वर में सुपाच्य, दूध, चाय देते हैं। ज्वर कम होने पर या उतर जाने पर कुछ ठोस पदार्थ दिया जा सकेगा, लगभग २-१॥ सेर दूध २४ घण्टे में पहुंच जाना चाहिए। टायफाइड में कड़े छिलके कदापि न खाने चाहिये। अतिसार भी साथ में हो तो दूध में चूने का पानी मिलाकर दें टायफाइड जरा सा अच्छा होते ही रोगी खाने को माँगने लगता है। पर कोई ठोस चीज नहीं दें। डिफ्थीरिया में गले के कष्ट के कारण पोषक भोजन वस्ति या गुदावर्ती से देना पड़ता है। डायबिटीज में प्रोटीन अधिक देनी चाहिए। दस्तों में दही, पतला भोजन दें। इसी प्रकार अन्य रोगों में व्यवस्था करनी चाहिए।

पादचतुष्टय (१९६४, ६८)

आयुर्वेद में रोग की चिकित्सा करने के लिए पाद चतुष्टय का उल्लेख किया गया है। इन चार पादों में वैद्य, औषधि, उपचारक तथा रोगी की गणना

की जाती है इनके सम्यक् रूप से योग होने पर व्याधि का उपचार होता है। इनको चिकित्सा के उपकरण भी कह सकते हैं।

इस पादचतुष्टय में वैद्य को प्रधानता दी गयी है, क्योंकि वैद्य के बिना औषधि, परिचारक और रोगी किंचित् कार्य नहीं कर सकते, जिस प्रकार कुम्हार के बिना मिट्टी, दंड, चक्र, धागा आदि उपकरण घट निर्माण में समर्थ नहीं हो सकते।

वैद्य (१९६३)

चरक संहिता में जीवनदान को सर्वश्रेष्ठ दान के रूप में स्थान दिया गया है। भयानक रोगों से ग्रस्त मृत्युमुख में जाते हुए रोगी को वैद्य जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार वैद्य जीवनदाता है और चूंकि जीवनदान सर्वोच्च है, इसलिए धर्म व अर्थ देने वाले चिकित्सक का स्थान महत्वपूर्ण है (धर्मार्थं दाता सदृशस्तस्य ने होपलभ्यते न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥—चरक संहिता, चिकित्सक, स्थान, अ० १—६१)। जो चिकित्सक उपचार करते हुये अर्थ तथा काम को दृष्टिगत न करके प्राणिमात्र पर दया के लिये उपचार कार्य करता है, उसे सर्वश्रेष्ठ वैद्य कहा जाता है।

शास्त्र का मत है कि आयुर्वेद जीविका मात्र नहीं है, इसको व्यवसाय समझकर व्यवहार करना परम लक्ष्य की सिद्धि में बाधक है। चिकित्सा का उद्देश्य भूतदया है, अतः इसी ध्येय से अपने कार्य में वैद्य को प्रवृत्त होना चाहिए। प्राणाचार्य की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—अच्छा स्वभाव, बुद्धिमत्ता, चिकित्सा कार्य में तत्परता, द्विजाति, शास्त्र का भली प्रकार अध्ययन-प्रभृति गुणवान प्राणाचार्य कहलाने योग्य है। वैद्य जन्म से नहीं माना जा सकता है, उसे कर्मणा ही मानना चाहिए, क्योंकि विद्या के सम्पन्न हो जाने पर उसकी दूसरी जाति हो जाती है।

चरक संहिता सूत्र स्थान में वर्णित पादचतुष्टय में वैद्य का वर्णन किया गया है। यहाँ पर चिकित्सक के चार गुणों का उल्लेख है। इसके अनुसार वैद्य को अच्छा शास्त्रीय ज्ञान होना चाहिए। कर्म को कई बार प्रत्यक्ष रूपेण अभ्यास किया हुआ हो। उसमें चतुरता तथा शुद्धता गुण होने चाहिए। वैद्य द्वारा रोगनाशन में रोगी, परिचारक तथा औषधि उपकरण माने जाते हैं।

रोगों के कारण लक्षण, रोगशमन तथा रोग को पुनः उत्पन्न न होने के

उपाय करने वाला इस चतुर्विध ज्ञान युक्त वैद्य को राजवैद्य कहा जाता है। विद्या, मति, कर्मदर्शन, कर्माभ्यास, सिद्धि, आश्रय—इन गुणों से युक्त वैद्य उत्तम माना जाता है।

रोगी एवं परिचारक

आयुर्वेद में रोगी के चार गुण बताए गए हैं—स्मृति अर्थात् रोग कब स प्रारम्भ हुआ है, इसकी स्मृति रखना, निर्देशकारिता अर्थात् चिकित्सा का पालन करना, अभीरु होना तथा रोग को अच्छी तरह वर्णन करने वाला होना। चरक ने वैद्य तथा रोगी के परस्पर कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला है। रोगी को चाहिए यदि स्थिर आयु का लाभ करना है तो प्राणाचार्य, विद्वान् तथा वैद्य के धन आदि के विषय मे स्पृहा न करे और न उसकी निन्दा करे।

परिचारक को रोगी का निरीक्षण का काम भी करना चाहिए। अतः उसे रोगी की स्थिति, मुख की आकृति, मुख की स्थिति, त्वचा की अवस्था, श्वास क्रिया, नाड़ी, तापमान, मानसिक प्रवस्था, निद्रा, रक्तस्राव, रोगी का अनुभव, रोगी का स्वर, भोजन, भूख, वमन, कम्पन आदि नोट करना चाहिए। इनसे चिकित्सक को विशेष सहायता मिलती है।

औषधि प्रयोग (१९६५)

औषधि का प्रयोग त्वचा, मुख, गुदा, श्वास क्रिया तथा सूचीवेध द्वारा होता है। त्वचा में प्रभाव करने के उद्देश्य से ऐसी वस्तुओं का वाह्य उपयोग करते हैं। दवाई या मलहम लगाते समय अभीष्ट स्थान की सफाई कर लेना चाहिए। फिर लगा चुकने के वाद परिचारक को भी अपने हाथ धो डालने चाहिए। प्रातः औषधियों का मुख के द्वारा ही प्रयोग किया जाता है। इससे द्रव्य आन्त्रों में पहुँचकर शरीर में विलीन हो जाता है। यह चूर्ण, गोली, पानक मिश्रण, आसव, अरिष्ट, अवलेह रूपों में होती है। जहाँ तक हो सके औषधि प्रयोग में रोगी को कष्ट नही होना चाहिए। खराव स्वाद का चूर्ण केपसूल में वन्द कर देते हैं। यदि रोगी सेवन न करता हो और तरल औषधि पिलानी हो तो उसके लिए नलिका का प्रयोग करते हैं। आवश्यकतानुसार औषधि सुंघाकर अथवा गुदा में सिरिंज अथवा वस्ति से औषधि पहुंचाते हैं। मांस, शिरा या त्वचान्तर्गत इन्जेक्शन लगाया जाता है। औषधि सेवन कराते समय परिचारक को ठीक मात्रा से, यथासमय और शुद्धपात्र में, शीशी हिलाकर निकालना

आदि नियमों का पालन करना चाहिए।

परिचारक

परिचारक के गुण, कर्त्तव्य, कार्य आयुर्वेद में काफी महत्त्व के हैं। 'चिकित्सा चतुष्पाद' में परिचारक का ठीक होना चिकित्सा की सफलता के लिए आवश्यक होता है। परिचारक स्वस्थ, फुर्तीला, एवं सूक्ष्मनिरीक्षक धैर्यवान् और समय का पालन करते हुए प्रत्येक कार्य करे। परिचारक का स्वभाव भी नम्र सहानुभूतिमय, कोमल तथा उच्चकोटि का हो। चिकित्सक की समस्त आज्ञाओं का उसे पालन करना चाहिए। साथ ही परिचारक को अपने समाज में स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों का प्रचार करना चाहिए। परिचायक का शान्तिप्रिय होना महत्त्वपूर्ण है। साथ में चाबी व गुच्छे आदि अनावश्यक आवाज पैदा करने वाली वस्तुओं को न रखे। जूते ऐसे पहने कि उनमें आवाज उत्पन्न न होने पावे। रोगी दवाई न खाता हो तो समझाकर सेवन करवाना चाहिए। रोगी का परिचारक में पूर्ण विश्वास हो। साथ ही परिचारक भी रोगी को प्रेम करने वाला होना चाहिए। इन सब गुणों से युक्त परिचारक वस्तुत. रोग नाशक है।

प्रश्न—रोगी परिचर्या एवं परिचारिका के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—रोगी परिचर्या एक विशेष कला है। इसका पालन परिचारिका द्वारा होता है। हम यहाँ इस विषय में विस्तृत विवरण पाठकों के ज्ञान वर्धन के लिए दी सेंट जान एम्बुलेंस एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित नर्सिंग नामक पुस्तक से उद्धृत कर रहे हैं।

परिचारिका (नर्स) परिचर्या एक ऐसी क्रिया है जिससे किसी भी ऐसे व्यक्ति की जो कि बीमार हो जाता है देखभाल की जाती है जिससे उसे चिकित्सक के बताये गये उपचार से अधिक से अधिक लाभ पहुँच सके। इस देखभाल में रोगी के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य का कल्याण भी सम्मिलित है। अधिक बीमार रोगी साधारण रूप से चिकित्सालयों में भर्ती कर लिये जाते हैं जहाँ उन्हें शिक्षित नर्सों की सेवाएं प्राप्त होती हैं। और जहाँ नई-नई वैज्ञानिक सामग्रियाँ उनके उपचार के लिए उपलब्ध रहती हैं, फिर भी ऐसे बहुत से रोगी हैं जिनकी परिचर्या घर में ही हो सकती है, क्योंकि या तो उनका रोग ऐसा गम्भीर नहीं होता जिसके उपचार हेतु उन्हें चिकित्सालय में भर्ती किया

जाए या वह किसी चिकित्सालय से इलाज करवाने के पश्चात् अपने घर में शान्तिम्य वातावरण तथा आराम में अपने खोये स्वास्थ्य को पुनः पा सकते हैं।

इन लोगों को विशेष रूप से सहायता पहुँचा सकते हैं। इसीलिये इस पुस्तक का उद्देश्य जो परिचर्या के मूल नियम को सीखना चाहते है उनकी सहायता करना है ताकि इससे रोगी उनके ज्ञान से अधिक लाभ उठा सकें। चाहे उनके घर में परिचर्या करें और चाहे वह चिकित्सालय के रोगी कक्ष में सहायक कर्मचारी हों।

परिचर्या चिकित्सक की देख रेख में की जाती है। और उसकी आज्ञा का पूर्ण रूप में पालन करना आवश्यक है। प्रथम सहायता (First Aid) में अन्तर यह है कि इसके लिए जब कि दुर्घटना से या अकस्मात् कोई रोग उत्पन्न हो जाता है तो चिकित्सक के आने से पूर्व ही शीघ्र रोग का पता लगा कर झटपट उपचार की प्रक्रिया करनी पड़ती है। नर्स चिकित्सक के लिए हाथ और आंखों का काम देती है। उसके ध्यानपूर्वक तथा ठीक कथनानुसार ही रोगी की हालत में जब से चिकित्सक ने देखा अथवा जो भी तबदीली आई, चिकित्सक रोगी की प्रगति और उपचार का अनुमान लगा सकता है। इसके पश्चात् जो उपचार चिकित्सक सोचे वे या तो उसे स्वयं नर्स की सहायता से करता है। या कई बार केवल नर्स ही उसे चलाती है।

एक अच्छी परिचारिका (नर्स) के गुण

१. धैर्यता, सहानुभूति और ज्ञान शक्ति—जिससे रोगी को अपने कष्ट एवं नैराश्य तथा रोग की सीमाओं को भली प्रकार समझने में सहायता मिल सके। उसे रोगी तथा उसके सम्बन्धियों से सम्पर्क बढ़ाने में सावधानी से काम लेना चाहिये। और जो वे पसन्द अथवा घृणा (Like or dislike) करते हैं, उन्हें सहन करना आवश्यक है।

२. सानुशीलता—सभी प्रकार के परिचर्या सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करने में चाहे वे कितने ही तुच्छ क्यों न हों आत्मशासन से हर समय शान्त तथा विनीत पूर्वक करना।

३. विश्वस्त—परिचारिका के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे

आज्ञाओं का पालन ठीक तथा पुण्यशीलता से करे और अपने कार्य एवं कथन में पूर्ण सत्यता तथा ईमानदारी बरते।

४. साधन पूर्णता—जिससे वे किसी आकस्मिक घटना में रोगी को शीघ्र अपने व्यावहारिक ज्ञान द्वारा हानि से बचा सके।

५. चिकित्सक भक्ति—उसके आदेशों का हर समय पालन करके ऐसा यत्न करे जिससे रोगी अथवा उसके सम्बन्धियों का चिकित्सक में विश्वास न घटे।

६. अवलोकन करने की शक्ति—वे रोगी का अवस्था में आये हुए परिवर्तन को भली प्रकार बतला सके तथा रोगी की आवश्यकताओं को तुरन्त ही पूरा कर सके।

परिचारिका (नर्स) के कर्तव्य

नर्स के तीन कर्त्तव्य हैं :

१. रोगी की ओर;

२. चिकित्सक की ओर;

३. अपनी ओर।

१. रोगी की ओर

रोगी, उसके सम्बन्धियों तथा मित्रों के साथ व्यवहार करते समय नर्स को दृढ़ एवं चतुर रहना चाहिए। उसे विश्वास जमाने के लिए प्रसन्न रहना चाहिए। न कि उत्कट और विशेषकर अधिक चुप तथा साधारण चाल-ढाल रखनी आवश्यक है। कई व्यक्ति अपने शरीर पर दूसरों का हाथ लगवाने से घृणा करते हैं, इसीलिए नर्स को सभी वे कार्य करने चाहिए जिससे रोगी के विश्वास को कभी भी ठेस न पहुंचे, नर्स को सदैव अपने रोगी के हित में रहकर उसके रोग अथवा चिकित्सा के सम्बन्ध में घर या चिकित्सालय के बाहर जाकर दूसरों से कदापि बातचीत न करनी चाहिए। और उसमें विश्वास डालकर जो भी उसे बताया गया है उसे दूसरों को नहीं बताना चाहिए। यदि रोगी मूर्च्छित अवस्था में कुछ कह जाये और उसका सम्बन्ध उसके रोग से हो तो उसे चिकित्सक को बताना आवश्यक है।

रोगी की देखभाल करते समय नर्स को रोगी के सम्बन्धियों तथा मित्रों से मिलना पड़ता है। इसलिए उनकी ओर भी उसके कुछ कर्त्तव्य है।

उनकी चिन्ताओं तथा भय को धैर्यता से सुनना आवश्यक है। जब वे रोगी के कष्ट एवं चिकित्सा सम्बन्धी अधिक पूछताछ करना चाहें तो उन्हें चिकित्सक के पास भेजना चाहिए। परन्तु कुछ साधारण व्यवस्थायें उसके भय को दूर करने के लिए बताई जा सकती हैं। भय बहुधा अज्ञानता के कारण ही उत्पन्न होता है।

रोगी सामान्य रूप से सम्बन्धियों तथा मित्रों से मिलकर बहुत प्रसन्न होते है, परन्तु जो अधिक रोगग्रस्त होते हैं वे तुरन्त थक भी जाते हैं। जब रोगी विश्राम कर रहा हो, तब नर्स को देखना चाहिए कि कोई मिलने वाला उसे व्याकुल न करे और मिलाप न तो लम्बे समय के लिए तथा न अधिक बार ही होना चाहिए।

रोगी को पुनः रोग निवृत्त करना नर्स का कार्य है और ऐसा करने के लिए निम्नलिखित मुख्य बातें हैं।

(क) विश्राम—स्वास्थ्य की रक्षा करने तथा उसे पुनः प्राप्त करने के लिए विश्राम अत्यन्त आवश्यक है। रोगी के मानसिक एवं शारीरिक पर्याप्त विश्राम का उत्तरदायित्व नर्स पर है। उसे सभी अनावश्यक चिन्ताओं से अवश्य बचाना चाहिए। और यद्यपि मिलने वालों को रोगी के कमरे में आने दिया जाये तब भी इन भेंटों से रोगी को थकने से बचाना चाहिए। पर्याप्त नींद से ही शारीरिक विश्राम होता है परन्तु रोगी जनों को नींद कम ही आती है।

नर्स निम्नलिखित नियमों का पालन करके रोगी को सोने में सहायता दे सकती है।

(१) ध्यान रखिये कि रोगी सर्वथा आनन्द में हो तथा न उसे अधिक गर्म न अधिक ठण्डा होना चाहिए। यदि रोगी अधिक गर्म हो तो मुख एवं हाथों पर स्पंज कीजिए, अथवा मस्तक पर ठण्डी पट्टी लगाइए, या फिर कम्बल उतार दें। यदि वह अधिक ठण्डा हो तो गर्म पानी की बोतल विशेषतः पैरों पर रखना लाभदायक हो सकता है।

(२) ध्यान रखिये कि यदि पेशाव करने की इच्छा हो तो इससे व्यग्रता न होनी चाहिए।

(३) देख लें कि कमरा अन्धेरा, शान्त, और हवादार होना चाहिए।

(४) रोगी को पीने के लिए गरम दूध दें।

(५) यदि पीड़ा हो रही हो तो रोगी के लेटने की दिशा को बदल दें, या यदि आज्ञा हो तो पुट्ठों को ढीला कर दें, अथवा गरम पानी की बोतल का प्रयोग करवायें।

यदि ये सभी विधियाँ लाभ न पहुँचायें तो औषधि देनी चाहिए। और वह भी जब चिकित्सक ने उसके लिए आदेश दिया हो।

(ख) शृंगार तथा स्वच्छता—शारीरिक सुख शरीर को स्वच्छता एवं न्यूनता पर निर्भर है। रोगी की चमड़ी को साफ तथा स्वस्थ रखना नर्स का प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य है।

प्रतिदिन स्नान कराना मुँह, बाल तथा नाखून की देख-रेख करना परिचर्या का आवश्यक नियम है। यदि रोगी ताजा और साफ-सुथरा अनुभव करता है एवं उससे इसे अधिक विश्राम प्राप्त होता है।

(ग) भोजन—खाद्य पदार्थ स्वास्थ्य के यिए आवश्यक हैं और यद्यपि चिकित्सक रोगी के भोजन सम्बन्धी आदेश देगा, यह नर्स का कर्त्तव्य होगा कि ये भोजन को प्रलोभन की रीति से रोगी को दे जिससे उसकी भूख चमक सके।

रोगीजनों की पर्याप्त मात्रा में भोजन तथा तरल पदार्थ लेने के लिए फुसलाना पड़ता है।

और ऐसा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि रोगी यह न समझे कि उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध खिलाया पिलाया जा रहा है।

(घ) मलमूत्र—जब रोगी बिस्तर पर पड़ा रहता है तो व्यायाम न होने के कारण साधारण शौच सम्बन्धी स्वभाव में बाधा पड़ जाती है। रोगी को बिना अधिक प्रयत्न किए प्रतिदिन अपने स्वभाव अनुसार पाखाना कर लेने का पूरा व्यवसाय कर लेना चाहिए। ऐसा करने में यदि आज्ञा हो तो ठीक प्रकार का भोजन तथा अधिक तरल पदार्थ देना औषधियों के प्रयोग से अधिक लाभदायक है। इसी प्रकार गुरदे के कार्य को देखते रहना चाहिए कि मूत्र का निकास और आकार प्राकृतिक है या नहीं ?

(ङ) मानसिक प्रवेक्षण—जब रोग का जोर कम हो जाए तो रोगी को प्रसन्न एवं चित्त रंजक रखने के लिए कुछ न कुछ कहना आवश्यक है, क्योंकि बेकार रहने से पुनः स्वस्थ होने में देर लग जाने की संभावना रहती है।

रोगियों की रुचि एवं योग्यता अनुसार क्रीड़ा के लिए कई व्यवसाय हैं। जैसा कि पढ़ना तथा साधारण खेल, बुनना, टोकरी बनाना, सीना, पिरोना, एवं काढ़ना इत्यादि जो सब रोगी के बिस्तर में पड़े रहने पर भी किए जा सकते हैं।

२. चिकित्सक की ओर कर्त्तव्य

नर्स को चिकित्सक की आज्ञा तथा प्रत्येक आदेश का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि वे सब आदेशों को समझें, और जब भी कभी कोई आदेश स्पष्ट न हो तो उसको समझने के लिए कदापि न हिचकिचाये। उसकी एक भी भूल रोगी को दुर्भाग्य हानि पहुँचा सकती है। उसे किये गये प्रत्येक उपचार तथा आये परिवर्तन का पूरा तथा ठीक विवरण लिख देना चाहिए। और यह विवरण कई बातों को छूट जाने से बचाता है। निम्नलिखित विषयों के बारे मे लिख लेना चाहिए।

(क) तापक्रम, नाड़ी एवं श्वास क्रिया।

(ख) मलमूत्र की स्थिति, मल की प्रकृति तथा बनावट

(ग) मूत्र की मात्रा तथा प्रकार

(घ) नींद की मात्रा तथा प्रकार

(च) भूख तथा कैसा भोजन खाया गया

(छ) पीड़ा की कोई शिकायत और उसको हटाने का उपचार जो किया गया हो।

(ज) कै यदि कोई की गई हो तो किस प्रकार की तथा कितनी मात्रा में हुई।

(झ) कोई खांसी की शिकायत तथा किस प्रकार की कफ निकली।

(ट) कोई औषधि जो दी गई हो।

(ठ) तरल पदार्थ जो दिये गये हों और जितना पेशाब किया गया हो—उसका आवश्यकतानुसार नक्शा बनाना।

३. स्वयं अपनी ओर कर्त्तव्य

वे सभी बातें जो रोगी के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती हैं, नर्स पर भी लागू होती हैं। इसलिये व्यक्तिगत आरोग्य ज्ञान के नियमों को बुद्धिमानी से

पालन करना चाहिये। जिससे उसकी अपनी निपुणता अधिक से अधिक बनी रहे।

(क) स्वच्छता—यदि हो सके तो नर्स को प्रतिदिन गर्म पानी से स्नान करना चाहिये। हाथों को विशेषकर साफ रखना आवश्यक है। रोगी की परिचर्या के पूर्व तथा पश्चात् अथवा किसी खाने की वस्तु को छूने से पूर्व अपने हाथों को भली प्रकार धो लेना चाहिये। चमड़ी को स्वस्थ रखने के लिए हाथों का लोशन उपयुक्त रहता है और यदि कोई खटपट हो गई हो तो उसे उचित चिपकने वाली पट्टी से ढक देनी चाहिये। हाथों के नाखूनों को साफ छोटे और बिना रंगे ही रखना उचित है।

दाँतों की देख रेख भली प्रकार करनी चाहिये। और उन्हें कम से कम दो बार प्रातः तथा सायकाल साफ करना चाहिये। श्वास सदा सुहावना होना चाहिये। और विशेषकर धूम्रपान की गन्ध नहीं आनी चाहिये। बाल साफ और कंघी किये रहनी चाहिये और सिर तक उचित टोपी से ढका रहना श्रेष्ठ है।

(ख) वस्त्र—वस्त्र हल्के तथा आनन्ददायक होने चाहिये, जो सरलता से धुल सकें। एक श्वेत ओवर लाल बाकी कपड़ों को बचाने के लिए उचित रहता है परन्तु इसे केवल रोगी के कमरे में ही पहनना चाहिए।

इसे बार-बार धुलाने से नर्स हमेशा नई दिखाई पड़ती है। जूते कष्ट देने वाले न हों, और पांव को पर्याप्त सहारा दें। शोर को घटाने के लिये रबड़ की ऐड़ी वांछित है। जूतों को दिन में एक बार बदल लेने से पांव की थकान कम हो जाती है।

मोजे भली प्रकार पूरे आने चाहिये तथा प्रतिदिन धोने भी चाहिये।

अधिक सजावट करना ठीक नहीं, परन्तु नर्स को अपनी दिखावट पर गर्वित होना चाहिये। कार्य करते समय विवाह की अंगूठी के सिवा और कोई गहने या कलाई की घड़ी पहनना उचित नहीं।

(ग) भोजन—साधारण संतुलित भोजन खाकर नर्स को आनन्द लेना चाहिये और रोगी के कमरे से दूर ही उसे खाना चाहिये। खाना युक्त समय देकर खाना तथा हो सके तो उसके पश्चात् थोड़े समय के लिये विश्राम करना अच्छा है।

(घ) **विश्राम तथा व्यायाम**—स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये विश्राम आवश्यक है। और नर्स को अपना कार्यक्रम इस प्रकार बनाना चाहिये कि उसे कम से कम ७ या ८ घण्टे लगातार नींद के लिये मिल सकें। व्यायाम भी लाभदायक है, क्योंकि इससे दूसरे पुट्ठों को उत्तेजना मिलती है, तथा मन को आनन्द। दिन रात पर्याप्त मात्रा में ताजी हवा मिलनी चाहिये रोगी के कमरे के बाहर मनोरंजन तथा प्रिय व्यवहार लाभदायक है जिससे मन चुस्त और नींद अच्छी आती है। परिचर्या के सभी कर्त्तव्य करते समय ठीक आसन तथा स्थिति रखने से शारीरिक थकान कम की जा सकती है।

प्रश्न—जनपदोध्वंस से क्या तात्पर्य है? संक्रामक रोगों पर सामान्य प्रकाश डालिये। प्रज्ञापराध क्या है? (१९६८)

उत्तर—आयुर्वेद में जनपदोध्वंस का विशिष्ट विवरण दिया गया है। पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को बताया कि प्रकृतिस्थ नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि एवं दिशाओं के ऋतु विकार करने वाले भाव निश्चय रूप से देखे जा सकते हैं। पृथ्वी भी उस समय शीघ्र ही औषधियों के यथोचित रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव को उत्पन्न नहीं करती। फिर रोगों का बाहुल्य निश्चित है। अतः जनपदोध्वंस और पृथ्वी की नीरसता के पहले ही औषधियों को उखाड़ लो और अपने मित्रों के लिए उपयोग हेतु रख लें। औषधियों को भली-भाँति ग्रहण करने, भली-भाँति उनकी कल्पना करने तथा सोच-समझ कर उनका भली-भाँति उपयोग करने से जनपद मारक रोगों के प्रतिकार में कोई कठिनाई नहीं होती।

अब यह प्रश्न उठता है कि विभिन्न प्रकृति, आहार, देह, बल सात्म्य तथा आयु वाले मनुष्यों के रहने पर भी एक ही व्याधि से एक ही समय में जनपदोध्वंस कैसे हो जाता है? इसका उत्तर भगवान् आत्रेय के अनुसार यही है कि मानवों के प्रकृति आदि भावों के समान रहने पर भी जो अन्यान्य भाव समान होते हैं, उनकी विकृति से एक ही समय एक ही लक्षण वाली अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होकर जनपद को नाश करती हैं। इस प्रकार से जनपद में निम्न समान भावों से व्याधियाँ फैल कर नाश होने लगना ही जनपदोध्वंस होता है।

सर्वप्रथम वायु विकृति-जनक होता है। वायु का अत्यन्त मन्द, अत्यन्त तीव्र, ऋतु विपरीत, अत्यन्त कर्कश, अत्यन्त शीतल, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त रूक्ष,

अत्यन्त अभिष्यन्दी, अत्यन्त भयंकर शब्द करने वाला, परस्पर एक-दूसरे की गति से टकराने वाला, ववण्डर से युक्त, असात्म्य (अप्रिय), गन्ध, वाष्प, बालू, धूलि और धुएँ से युक्त होना दुष्टि का लक्षण है।

अत्यन्त विकृत गन्ध, रंग, रस और स्पर्श वाला अत्यन्त क्लिन्नता (चिप-चिपाहट) से युक्त, जलचरों तथा पक्षियों से रहित, हीन जल वाले जलाशयों का हीन तथा अप्रिय, गुण रहित हो, वही रोग कारक होता है।

अब इनके बाद देश की विकृति को जानना चाहिए। विकृत वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला, सड़न की अधिकता से युक्त सर्पहिंसकों से व्याप्त मच्छर-टिड्डी-चूहा-उल्लू गिद्ध-स्यार आदि जन्तुओं से युक्त हो, तृण और गुल्म युक्त झाड़ियों वाले उपवन से युक्त पृथ्वी, धुएं के समान वायु होना, शोर करने वाले पक्षियों सहित, रोते हुए कुत्तों से युक्त, विभिन्न प्रकार के और दुःखी पशु-पक्षियों वाला, धर्म-सत्य-लज्जा-आचरण शील आदि गुणों से रहित होकर परि-त्यक्त मनुष्यों से युक्त देश, लगातार क्षुभित और कुपित जलाशय वाला, लगा-तार उल्कापात व भूकम्प युक्त, अत्यन्त भयंकर शब्द और रूप से युक्त, रूक्ष, ताम्र, लाल श्वेत रंग बादलों के जाल से ढके हुए सूर्य चन्द्र तारों वाला, घबराहट, बेचैनी युक्त, रुदन से युक्त, अन्धकार युक्त पिशाच आदि से आक्रान्त होने के समान विलाप युक्त शब्दों की अधिकता वाला देश सभी को अहितकर समझना चाहिए।

तदुपरान्त ऋतु के दूषित होने का नम्बर आता है। इसके लक्षण ऋतु के अनुसार ही समझना चाहिए। यदि किसी ऋतु में उसके आवश्यक लक्षण उत्पन्न न होकर विपरीत लक्षण उत्पन्न हो जावें तो ऋतुओं की दुष्टि हो चुकी हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार इन चार प्रकार के दोषों से युक्त भावों अर्थात् वायु, जल, देश व काल को जनपदनाशक (जनपदोध्वंसक) कहा जाता है। इनके विपरीत भावों को हितकर कहा जाता है। जनपद का नाश करने वाले इन भावों के विकृत होने पर भी औषधियों द्वारा प्रतिकार करने वालों में रोगी से निर्भयता होती है। विकृत जल, देश, काल, वायु में जो प्रधान होगा, वही कारण कहा जायेगा। विशेषतः वायु से जल, जल से देश व देश से काल को स्वभावतः कठिनाई से ठीक होने वाले कारणों को मुख्य जानना चाहिए। जनपदोध्वंस में

काल से लघु देश, देश से लघु जल और जल से लघु वायु मानी गई है।

जनपदोध्वंस के कारणों में वायु प्रमुख है और वायु आदि की विकृति का मूल कारण अधर्म है अथवा इस अधर्म का हेतु पूर्वकृत कुकृत्य है। अधर्म एवं पूर्वकृत कर्मों का हेतु प्रज्ञापराध है।

प्रज्ञापराध—अब प्रज्ञापराध क्या है ? इस पर भी विचार करना यहाँ पर प्रासंगिक ही होगा। अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित होकर कर्म करना ही प्रज्ञापराध है। बुद्धि स्मृति तथा धैर्य के विलुप्त होने पर मनुष्य जो कार्य करता है, वह इस सीमा में अन्तर्भूत है। बुद्धि विनाश के कारण मनुष्यों को पदार्थों का सत्य (यथार्थ) ज्ञान नहीं रहता। वह इस परिस्थिति में सर्प जैसी विनाशक वस्तु को भी रज्जु (रस्सी) समझता है, और रस्सी को सर्प। धृतिविनाश से मनुष्य आपत्तिकाल में आत्मरक्षा के उपाय नहीं कर पाता है, इस पर मनुष्य अहितकर पदार्थों के फेर में पड़ जाता है। फिर अहितकर आहार-विहार से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है। पुनः इस प्रकार के रोगों को सम प्रज्ञापराध जन्य विकार की संज्ञा देते हैं। यही नहीं, संसार के समस्त संक्रामक रोगों का मूल हेतु भी प्रज्ञापराध ही होता है। ससार के सभी मनुष्योचित बातों की अवहेलना में इसका समावेश करते हैं। आयुर्वेदाचार्य चरक ने प्रज्ञापराध को तीन प्रकार का कहा है—वाचिक, शारीरिक व मानसिक। आगे इन वाचिक आदि के तीन उपविभाग हीन, मिथ्या एवं अतियोग कर दिए गये हैं। मूलतः प्रज्ञापराध ही सब रोगों का प्रधान कारण माना गया है।

हाँ, तो फिर अब जनपदोध्वंस के मुख्य स्थल पर आ जाइए। पूर्वोक्त पैराग्राफ में प्रज्ञापराध को एक महत्वपूर्ण हेतु निश्चित किया गया है। यथा प्रान्त, नगर या ग्राम के अधिकारी वर्ग जब अधर्म को बढ़ाते हैं तो जनता भी अधर्म की वृद्धि करती है। यहाँ धर्म की समाप्ति से देवता भी उनको त्याग देते हैं तो इस प्रकार के अधर्मी जनपद में ऋतुएँ विकृति को प्राप्त करती हैं। इन्द्र वर्षा करते ही नहीं, यथा समय पर जल नहीं बरसाते अथवा विकृत जल उपलब्ध करते हैं। वायु उचित प्रकार से प्रचलित नहीं होती। फिर पृथ्वी भी विकृत हो जाती है। जल शुष्कता को प्राप्त होता है। औषधियाँ भी अपने संसर्ग और आहार दोष से जनपदध्वंस (उजड़) हो जाते हैं।

यही नहीं, शस्त्र द्वारा उत्पन्न जनपदोध्वंस का भी कारण अधर्म माना

गया है। लोभ, क्रोध, मोह अहंकार और काम अत्यधिक बढ़ जाने पर (ऐसे पुरुष) दुर्बलों की अपेक्षा करते हैं। साथ ही अपने स्वजनों, स्त्री-पुरुषों, पुत्र आदि को अथवा दूसरे मनुष्यों के नाश करने के लिए आपस में आक्रमण प्रारम्भ होते हैं। इसी प्रकार अधर्म, अस्वच्छता आदि से मनुष्य भी क्रमियों आदि द्वारा नष्ट होने लगते हैं। अभिशाप जन्य, जनपदोध्वंस का भी कारण अधर्म है। धर्म लुप्त मनुष्य ही गुरु, ऋषि आदि की उपेक्षा कर अभिशाप को प्राप्त करते हुए कुल या प्रजा नष्ट हो जाते हैं। जिनके लिए शाप निश्चित होता है और निश्चित कारण की उपलब्धि से अभिशप्त लोग ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पूर्वकाल में भी विना अधर्म में-कारण किसी भी अशुभ की उत्पत्ति नहीं हुई। आदिकाल में देवाताओं के समान अनेक गुण सम्पन्न सज्जन मनुष्य .(जो सभी प्रकार की बुराइयों से रहित थे) अमित आयु वाले हो चुके हैं। सतयुग के प्रारम्भिक काल में इन सुन्दर पुरुषों में धर्म और गुणों के कारण पृथ्वी आदि गुणों सहित सम्पन्न हुई। सतयुग का कुछ समय बीतने पर अधिक धन सुख के कारण शरीर भारी हो गया, फिर थकावट, आलस्य, संचय, इच्छा, परिग्रह (किसी प्रकार धन ग्रहण करना), लोभ इनकी क्रमशः उत्पत्ति होती गयी। फिर त्रेतायुग में और भी बुरा हाल हुआ। अब कलियुग में व्याप्त अधर्म आदि से जो जनता पीड़ित है, सभी जानते हैं। यही सब जनपदोध्वंस माना गया है।

रोगों का संक्रमण (१९६२, ६३, ६४, ६५, ६६)

परिचय—वर्तमान काल में उपरोक्त काल, देश, प्रकृति के कारण अनेक संक्रामक रोग (Infectious Discases) उत्पन्न हो गये हैं। आयुर्वेद के मतानुसार संक्रमण के साधन बताये गये हैं—यथा मैथुन, अंगस्पर्श, निश्वास, सह भोजन, साथ में शयन एवं बैठना, वस्त्र, माला एवं अनुलेपन से कुष्ठ-ज्वर-शोप-नेत्राभिष्यंद और औपसर्गिक रोग (उपदंश, फिरंग आदि) रोग मनुष्य से मनुष्यों में संक्रामित (Infection) हो जाते हैं। अनेक विकार इस प्रकार के हैं जो मनुष्यों से मनुष्य और पशुओं से मनुष्यों में संक्रामित होते हैं। यह सब कार्य जीवाणुओं द्वारा होता है। इनकी स्थिति पर ही रोगों का संक्रमण निर्भर करता है। जब तक जीवाणु शरीर के बाहर रहते हैं तो विचारणीय नहीं होते, पर जीवित प्राणी शरीर के अन्दर पहुँचते ही संख्या का विभाजन वृद्धि प्रारम्भ

कर देते हैं। जीवाणु विष की उत्पत्ति विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार उत्पन्न कर रोगोत्पत्ति करते हैं। अपने प्रभाव या अवस्थानुसार किसी अंग विशेष में फैलता है अथवा सर्वांगी भी हो जाता है।

क्षेत्र—आचार्य सुश्रुत ने जो ज्वर शब्द का संक्रामक रोगों के उल्लेख के मय व्यवहार किया है उसका अर्थ व्यापक है। आयुर्वेद सूत्र रूप कहना सर्वत्र विद्यमान है। ज्वर से यहाँ संक्रमण के स्थल में इनका बोध करना चाहिए—आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever), ग्रंथिक ज्वर (Plague), श्लेष्मिक ज्वर (Influenza), सन्धिक ज्वर (Rheumetic fever), श्वसनक ज्वर (Pneumonia), आक्षेपक ज्वर (Cerebrospinal fever)' विषम ज्वर (Malaria), काल ज्वर (Kalazar), दण्डक ज्वर (Dengue) कर्णमूलिक ज्वर (Mumps)। औपसर्गिक विकारों के अन्तर्गत मसूरिका Small pox), (Chicken pox और Measles) अर्थात् वृहत् मसूरिका एवं लघुमसूरिका, रोमान्तिका का समावेश होता है।

वे रोग पृथ्वी, वायु और जल के दोष से प्रायः होते रहते हैं। रक्त में जो कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, ये छोटे-छोटे होते हैं और सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य होते हैं। फिर भी अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से (By Microscope) प्रयोगशाला में देखे जा सकते हैं। ये जीवाणु आकार में तीन प्रकार के होते —अणुकीट (Micrococi), शलाकादण्डाणु (Bacilli) वक्राणु (Spirilla व Vibrio) परन्तु स्थिति के अनुसार जीविताश्रयी, मृताश्रयी और उभयाश्रयी-विभाग कर दिए हैं। जीवाणुओं की सामान्य लम्बाई तथा विस्तार एक पर्व के पांच हजारवें भाग से लेकर पांच सौवें भाग तक होता है। ये वायु, जल, पृथ्वी, मनुष्यों तथा अन्यान्य प्राणियों की त्वचा, पाचन संस्थान एवं मुखगर्त में प्राप्त होते हैं।

विधि—जो मनुष्य किसी विशेष संक्रामक व्याधि से ग्रस्त हैं, उनके रक्त व लसीका में उसी व्याधि के विशिष्ट जीवाणु मिलते हैं। यदि वे उस शरीर के बाहर उचित भोजन आदि के सुव्यवस्थित प्रबन्ध से सुरक्षित करके रखे जावें और बढ़ाकर किसी स्वस्थ प्राणी के शरीर में प्रविष्ट करा दिए जावें तो जीवाणु जिस रोग का है, वह उस प्राणी के शरीर में वही रोग उत्पन्न कर देता है। शरीर में जीवाणु प्रवेश—क्षण से प्रारम्भ कर विशेष रोग के लक्षण

की उत्पत्ति करने तक जो समय होता है वही सम्प्राप्ति काल तक होता है। इस अवस्था में रोगी द्वारा स्वस्थ मनुष्य पर संक्रमण हो सकता है। अतः इसे गंभीर माना जाता है। उपसर्जनकाल का अर्थ यह है कि रोगी मुक्ति के क्षण से जितने समय तक स्वस्थ पुरुषों में वही रोग की उत्पत्ति करने लायक हो सकता है। इन दोनों को इन उदाहरणों से भली प्रकार समझ लेना चाहिए। विषूचिका (कालरा)—१ घंटा से ५ दिन एवं दो सप्ताह, आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड)—५ दिन से २० दिन एवं ६ सप्ताह, ग्रन्थिक ज्वर—३ दिन से २० दिन एवं ३ सप्ताह, शीतला (चेचक)—१२ दिन एवं ६ सप्ताह, श्लेष्मिकसन्निपात (इन्फ्लूएञ्जा)—एक दिन से चार दिन तक एवं २ सप्ताह—क्रमशः सम्प्राप्तिकाल एवं उपसर्जनकाल समझना चाहिए।

विभिन्न रोगों का संक्रमण विभिन्न साधनों द्वारा होता है। खाद्यपेयादि द्वारा—आंत्रिक ज्वर—विषूचिका—अतिसार; वायु द्वारा मसूरिका—यक्ष्मा श्लेष्मिक ज्वर—रोमांतिक; साक्षात सम्बन्ध द्वारा—जलसंत्रास, धनुस्तम्भ (टिटनिस), उपदंश आदि; पिपीलिका द्वारा—अतिसार, विषूचिका, आंत्रिक ज्वर; मत्कुण (खटमल) द्वारा, कुष्ठ, कालाजार, त्वचा के रोग; क्षुद्रपतंग (पिस्सू) द्वारा—ग्रन्थि ज्वर (प्लेग) मक्षिका (मक्खी द्वारा)—अतिसार प्रवाहिका, विषूचिका, आंत्रिक ज्वर, नेत्राभिष्यन्द; दंशमशक द्वारा—विषम-ज्वर; यूका (जूं) द्वारा—पुनरावर्तक ज्वर (Relapsing fever) फैलते हैं।

इन रोगों में अनेक जनपदोध्वंस कारक (महामारी) हैं। मसूरिका आदि जो पृथ्वी व जल, वायु दोष जन्य हैं, समय-समय पर फैलकर मनुष्यों का ध्वंस करते चले जाते हैं। अन्य कुछ रोग विष से भी फैलते हैं। वस्तुतः महामारी से जनपद का पर्याप्त नाश हो जाता है।

प्रश्न—संक्रामक रोगों का सामान्य प्रतिषेधोपाय लिखते हुए उन पर स्पष्ट प्रकाश डालिए।

उत्तर—संक्रामक रोगों से संक्रामक (Infection) का प्रतिषेध करना अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विषय है। आयुर्वेद भी इन विषयों में पीछे नहीं। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि महामारी के समय अविकृत औषधियों अदूषित जल का उपयोग करना चाहिए। स्थान-त्याग, शांति-कर्म, प्रायश्चित्त, मंगल, जप, होम, बलि, यज्ञ देवताओं को हाथ जोड़कर प्रणाम करना, नियम,

दया, दान, दीक्षा आदि करते रहना चाहिए। साथ ही गुरु की भक्ति करनी चाहिए।

संक्रामक रोगों के लिए- प्रतिषेधोपाय में निम्न शीर्षकों के अन्दर कार्य करना चाहिए—

१—घोषणाप्रकाशन (सूचना)।

२. एकान्त वास

३. सूचना, उपदेश प्रसारण (विज्ञापन)

४. जीवाणु विनाशन

५. रोग प्रतिरोध क्षमता (Immunity)

(१) सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति को महामारी का संक्रामक रोग फैलने के प्रति पर्याप्त सावधान रहने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कदापि आलस्य न करना चाहिए। यदि कोई मनुष्य ऐसे रोग से पीड़ित हो अथवा रोगों या रोग (महामारी) से किसी की मृत्यु हो जाये तो शीघ्र ही स्थानीय स्वास्थ्य विभाग को सूचित कर देना चाहिए। इससे स्वास्थ्य अधिकारी वर्ग तुरन्त रोक-थाम एवं चिकित्सा की व्यवस्था करेंगे।

(२) अब अत्यन्त आवश्यक प्रतिषेध-उपाय आता है। रोगी को भीड़ से अलग करना नितांत आवश्यक होता है। इसके अन्तर्गत दो प्रकार का समावेश रोगी को यदि निवास—(क) गृह में ही पृथक् रखना हो तो जहाँ तक हो सके रोगी को ऊपरी मंजिल पर स्थान देना उचित है। रोगी के कमरे में केवल जरूरी ही वस्तुएँ रखनी चाहिए। खिड़कियों की उचित व्यवस्था आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिए कि खिड़कियाँ शुद्ध हवा के लिए खुली हों और उनके द्वारों पर किसी कीटाणुनाशक पदार्थ युक्त पर्दों का प्रबन्ध होना चाहिए इस व्यवस्था से हवा भी आती रहेगी और जीवाणुओं से भी रक्षा होगी। जहाँ तक हो सके रोगी के परिचारक अथवा परिचारिका के अतिरिक्त अन्य वैसे ही फालतू मनुष्यों के आने-जाने पर रोक लगा देनी चाहिए। परिचारक को चाहिए कि कार्य करने के बाद हाथ-पैरों को कृमिघ्न द्रव्यों से भली प्रकार धोकर और वस्त्रों को बदलकर फिर बाहर आवे। सदैव रोगी के मल, मूत्र आदि को कृमिघ्न पदार्थों वाले बर्तनों में रखकर बाहर फैंकना चाहिए। साथ ही रोगी के कमरे से बर्तन एवं वस्त्रों को भी शुद्ध करके ही बाहर से जाना चाहिए।

ऐसा तो होता नहीं कि सभी द्रव्यों (सामान) उबाल डाला जावे, इसके लिए भी कुछ विसक्तीकरणों की आवश्यकता है। रेशमी कपड़े, ऊनी कपड़े, रजाइयां आदि द्रव्यों के लिए वाष्प का प्रयोग कराया जाता है। अब भौतिक जीवाणु नाशन के बाद रासायनिक जीवाणु नाशन को भी समझना आवश्यक है! जब चूर्ण के रूप में इस विधि द्वारा जीवाणुओं का नाश करते हैं तो बुझे हुए चूने को पुरीषादि पर डालकर बचाव करते हैं। जल में भी डालकर (कुंओं में) उपयोग करते हैं। यदि द्रवात्मक रसायन का प्रयोग करें तो पारद द्रव, कपूर द्रव, वन तुलसी, दौना, पोदीना, निम्ब पत्र, बाकुची का पत्ता, देवदारु का क्वाथ बनाकर रखते हैं। साथ ही गन्धक, राल आदि कृमिनाशक पदार्थों का घूपन (धूनी) देकर जीवाणुओं का नाश किया जाता है। यह शास्त्रीय विधान है।

निर्जन्तुकीकरण विधि की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। टाइफाइड में मल-मूत्र, विषूचिका में वमन, अतिसार, संग्रहणी में पुरीष; यक्ष्मा एवं फुफ्फुस (Lungs) के विकारों में थूक, रोमान्तिका व श्लैष्मिक सन्निपात (Influenza) मे नासिका और गले के स्राव—यह सब आवस्त्रविक निष्कासित पदार्थ—किसी अच्छे कृमिनाशक द्रव युक्त, अप्रवेश्य पदार्थ के पात्र में डालकर रख लेना चाहिए। १-३ घंटे के बीच में जलाशय से दूर पृथ्वी में गड्ढा करके दाब देना चाहिए। लकड़ी का चूर्ण मिलाकर भी जलाया जा सकता है। तूलिका (रुई) के वस्त्रों को कृमिघ्न द्रव्यों में डालकर फिर आधा घंटा खौलाते हैं। फिर सुखाकर पहनने से कोई हानि होने की सम्भावना नहीं होती है। परन्तु रेशमी वस्त्रों को २-३ दिन तक सूर्य की किरणों में रखना चाहिए। इन्हें खौलाया नहीं जा सकता है। जो शव (संक्रामक रोगों के) इस तरह के हों उन्हें अन्त्येष्टि के लिए जाने से पूर्व जीवाणुघ्न वस्त्र में लपेट कर बाहर निकालना उचित है। जिस समय जो रोग फैला हो या फैलने की सम्भावना हो हमें इसी के वाहकों के प्रतिरोध की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(५) **रोगप्रतिरोध क्षमता** (Immunity)—एक ऐसी सूक्ष्म क्रिया, जो स्वतः मनुष्य में उत्पन्न हो जाती है, और स्वयं लाभजनक है। क्या कारण है कि संक्रामक रोग होने या फैलने के समय आशंका के बाद भी कुछ लोग ही ऐसे रोगों से ग्रस्त होकर हानि उठाते हैं। इसमें विद्वानों ने 'रोगप्रतिरोध क्षमता'

को हेतु वताया है। यह ऐसी क्षमतापूर्ण शक्ति है कि जिसके द्वारा शारीरिक अंगों में रोगोत्पादक जीवाणुओं के अवरोध की सफल शक्ति का उत्पन्न होना अति लाभप्रद है। इसके फल की मुझे पुनरावृत्ति नहीं करनी चाहिए कि जल वायु और खाद्य द्रव्यों में प्रायः जीवाणुओं की उपस्थिति होने पर भी कतिपय मनुष्य उनसे रोग प्राप्त नहीं कर पाते।

यह स्वाभाविक व उपार्जित दो प्रकार की होती है। स्वाभाविक रोग क्षमता जो मनुष्यों व पशुओं में प्राप्य है। इसी कारण कृमियों का रोगजनक प्रभाव होता है। सम्भव है कि परिस्थिति बदलने से मनुष्य रोग से पीड़ित होते हैं। यह स्थिति पर निर्भर होती है। इस पर मनुष्य को श्रमपूर्ण रहना, भूखे रहना, अपथ्य सेवी, शीतलता या उष्णता से ग्रस्त हो वायु का सेवन करता हो।

जो शक्ति कृत्रिम हो (Artificial) अर्थात् किसी प्रकार उत्पन्न की गई हो तो उसे उपार्जित शक्ति (रोग क्षमता) का नाम दिया गया है। यह उपार्जित रोग क्षमता जब सक्रिय होती है तो उस रोग के आक्रमण के बाद रोग-मुक्तावस्था में प्राप्त होती है अथवा कृत्रिम क्षमत मे जीवाणु विष को प्रविष्ट करा कर उत्पन्न की जाती है। परन्तु निष्क्रय अवस्था के अन्तर्गत तो किसी प्राणी से प्राप्त प्रतिविष (Antidote) कृमिनाशक रक्तद्रव (सीरम) को विशिष्ट पद्धति द्वारा अभीष्ट मनुष्य के अन्दर प्रवेश करा देते है। यह प्रायः थोड़े से प्राप्त होती है, अतः निष्क्रय नामकरण किया गया है।

यदि दोनों प्रकार के निष्क्रय-सक्रिय रोग प्रतिरोधक क्षमता शक्ति को समझ लिया जावे तो स्मरणार्थ सुविधा होगी। निष्क्रय क्षमता अल्प समय तक अभीष्ट कार्यकारी ह परन्तु अगर मनुष्य में सक्रिय क्षमता उत्पन्न कर दी जाये तो पर्याप्त समय तक प्रतिबन्धक कार्य चल जाता है। परन्तु यह चिकित्सा रूप में नहीं है, जबकि निष्क्रय क्षमता तो एक चिकित्सा विधि ही है। चाहे उसका प्रभाव अल्प समय तक स्थित रहे अथवा दीर्घ काल तक। अर्थात् यह निष्क्रिय रोग प्रतिरोध क्षमता प्राकृत नहीं।

इस प्रकार संक्रमण के सामान्य प्रतिषेध के अन्तर्गत सूचना, एकान्त वास, विसंक्रमण, जीवाणुनाशक क्रिया और रोग प्रतिरोध क्षमता यह पांच विधियां उपयोग करनी चाहिये।

प्रश्न—प्रमुख संक्रामक रोगों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—संक्रामक रोग अनेक होते हैं। परन्तु हमको यहाँ कुछ प्रमुख रोगों की जानकारी प्राप्त करनी है। इन पर नव्य मत से प्रधान चर्चा करेंगे।

विषमज्वर (Malaria)

मलेरिया प्रायः सभी जगह फैलता है। इस भयंकर रोग की उत्पत्ति अगस्त से दिसम्बर तक भारत में अधिक होती है। कभी महामारी के रूप में भी फैलता है। लगभग १० लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष भारत में इस रोग से मरते हैं। जलीय स्थान की समीपता पर स्थित देश या प्रान्त में अधिक संभाव्य होता है।

यह रोग एनाफिलीज (Anopheles) नामक मच्छर के देश से प्लाज्मीडियम (Plasmodium) नामक जीवाणु द्वारा फैलता है। इस जीवाणु के प्रधान तीन भेद प्लाज्मोडियम वाईवैक्स, मैलेरी, फैल्सीपेरस होते हैं। साथ ही चौथा प्लाज्मोडियम ओवेल जीवाणु भी कारण हैं। मच्छर के काटने से ये जीवाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। रक्तकणों का भक्षण करते हैं और मच्छर के काटने के समय ही इसी मच्छर के आमाशय में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये आकार में सूत्र के समान आवरण रहित अवस्था में होते हैं। पुनः यह मच्छर के शरीर में वृद्धि को प्राप्त होते हैं और अन्य मनुष्य को दंश करके ज्वर उत्पन्न करते हैं। ये जीवाणु मैथुनी (Sporogony) और अमैथुनी (Asexual) चक्रों में भ्रमण करते हैं।

विपमज्वर में शीतज्वर, प्लीहावृद्धि, यकृत की वृद्धि और कामला (पीलिया) पाचन सम्बन्धी गड़बड़ी, हृदयदुर्बलता लक्षण होते है। मलेरिया तृतीयक, चातुर्थिक मुख्य होता है। अन्य भी प्रकार हैं। सर्दी लगकर ज्वर १०६ डिग्री तक पहुँच सकता है।

आन्त्रिक ज्वर (Typhoid)

यह रोग वेसिलस टायफोसस नामक जीवाणु जन्य-मर्यादित स्वरूप का उष्ण प्रदेशीय प्रचलित है। टायफाइड ग्रस्त मनुष्यों के रक्त, मल, मूत्र, पित्ताशय, आन्त्र में यह जीवाणु प्राप्त हैं। एक वार आक्रमण होने के कारण रोग प्रतिरोध शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

इस रोग में आन्त्र व्रण (घाव) वनने के साथ ही प्रथम सप्ताह में

ज्वर धीरे-धीरे बढ़कर १०५ तक पहुंच जाता है। उदर विकार, उदर व छाती पर विस्फोट (दाने) प्लीहावृद्धि होकर चतुर्थ सप्ताह में लक्षणों में मन्दता प्रत्यक्ष आती है। आन्त्रिक ज्वर का संक्रमण रोगियों के मल, मूत्र, थूक, आदि दूषित जल, दुग्ध, खाद्य, मक्खी एव जीवाणु वाहक मनुष्यो द्वारा होता है।

मसूरिका (Small pox)

यह चेचक या शीतला रोग वायु द्वारा संवाहित होता है। चेचक का हेतु श्वास और निश्वास द्वारा शरीर में भीतर घुसता है। इसका विष त्वचा पर होने वाली पिड़िकाओं एवं लार में मिलता है। फिर कालान्तर में ये विष वायु द्वारा दूर तक फैल जाते हैं। जब त्वचा की पिड़िकायें सभी सूखती हैं तो उनका त्वचा वाला हिस्सा वायु द्वारा इधर-उधर संक्रमण करता है। रोगी की शय्या जल, वस्त्र आदि द्वारा भी अन्य स्वस्थ्य मनुष्यों में संक्रामित्त हो जाता है।

इस में ज्वर रहता है। पीड़िकायें निकलती हैं फिर मवाद (पानी) पड़कर सूख जाती है। फिर खुरंड हट जाने पर भी दाग रह जाते हैं। अन्य सूक्ष्म अंगों में भी विकृति होना सम्भव होता है।

विषूचिका (Cholera) (१९६४, ६७)

हैजा पैदा करने वाले विब्रयों कोलरा (Vibrio Cholera) नामक जीवाणु रोगी के मल एवं वमन में असंख्य पाए जाते हैं। कोमा वेसिलस प्रकार की यह चंचल जीवाणु दूषित पात्रादि संसर्ग परिचारक एवं वाहक के हाथों व मक्खियों से संक्रमण करता है। विषूचिकाग्रस्त मनुष्य भी वाहक (Carrier) है। साथ ही व्याधिपूर्व वाहक भी होते हैं अर्थात् रोग के संचय काल में जीवाणु उपसृष्ट मनुष्य के मल के साथ बाहर निकलकर उस मनुष्य का प्रत्यक्ष रोग से पीड़ित होने के पूर्व रोग का प्रसार करना। यह अवस्था कभी-कभी आती है। वाहकों द्वारा हैजा फैलाने की विधि मेलों आदि में प्रचलित हो जाया करती है। आयुर्वेद के मतानुसार अजीर्ण होना हैजे का प्रधान कारण माना गया है। साथ ही शीत प्रभाव, पाचन, संस्थानिक विकार, आन्त्रशोथ, अनशन या अध्यशन, मानसिक विकार, मद्यातिसेवन, श्रम व भग आदि को भी सहायक कारण माना जाता है।

हैजे में चार आवस्थिक लक्षण पाये जाते हैं। सर्वप्रथम अतिसार, मूत्राल्पता,

वमन व हल्लास सौम्य रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह पूर्व रूप की अवस्था (premonitory Diarrhoea) कहते हैं। द्वितीय विवेचन की अवस्था में (In stage of evacuation) सहसा दस्तों का आक्रमण होकर स्पष्टः रोग का प्रारम्भ होता है। पुनः वमन (कै या Vomiting) भी शुरू होने के साथ अतिदौर्बल्य होकर अवसाद की अवस्था (Stage of Collapse) प्रारम्भ होकर मूत्र समाप्ति होकर परेशानी बढ़ जाती है। अन्तिम प्रतिक्रिया की अवस्था (Stage of Reaction) प्रारम्भ होती है।

क्षय (Tuberculosis)

तपेदिक (राजयक्ष्मा Pthisis), शलाकाकार जीवाणु वेसीलस ट्यूबर-क्यूलेसिस से और अन्य कुछ सहायक कारणों से उत्पन्न होता है। वेगों का रोकना, धातुओं की क्षीणता, साहस करना (बल से अधिक कार्य करना) तथा विषमाशन—इनको नव्य मतानुसार सहायक और आयुर्वेद मतानुसार प्रधान-कारण माना जाता है। सारांशतः क्षयरोग में जीवाणु, शारीरिक शक्ति का ह्रास-कारक कार्य और अशुद्ध वायु का सेवन प्रमुख कारण हैं।

राजयक्ष्मा के जीवाणु कफ द्वारा प्रसारित होकर श्वास से फुफ्फुस में इन जीवाणुओं का आगमन होता है। क्षयरोग के जीवाणु युक्त भोजन का प्रयोग अथवा जीवाणु युक्त वस्तुओं का संस्पर्श होकर भी फैलते हैं। व्रण के द्वारा भी रक्त में कीटाणु प्रवेश करते हैं। श्वास के साथ जीवाणु गमन प्रक्रिया प्रमुख है। क्षय की तृतीयावस्था के रोगी के थूक की कितनी मात्रा २४ घन्टे में निकलती है, उसमें विश्व की जनसंख्या के बराबर जीवाणु उपस्थित रहते हैं। रोग का प्रसार थूक के शुष्क कणों द्वारा या खांसने आदि से उत्पन्न बिन्दुओं अर्थात् बिन्दूत्क्षेप पद्धति से बिंदूत्क्षेपोत्सर्ग (Droplet Infection) होता है।

आयुर्वेद में क्षय के ११ लक्षण मिलते है। एलोपेथी के अनुसार लक्षणों को वातनाड़ी प्रत्यावर्तन जन्य, विषमयता जन्य एवं स्थानिक विकृति जन्य—तीन प्रकार के प्रस्तुत किए गये हैं। इन वर्गों के अन्दर लक्षणों का उल्लेख प्राप्त है। खाँसी, बलगम (थूक), खून आना, श्वास में कष्ट, पार्श्व वेदना, ज्वर या सन्ताप, दुबलापन (कृशता), नीलिमा, रात्रि में पसीना, पचन संस्थान की विशिष्ट अवस्था, रक्तभार, (ब्लडप्रेशर) की कमी मूत्र में एलब्यूमिन आदि

(स्त्री में) और मासिक अवरोध एवं अंगुलियों के अग्रभाग की स्थूलता—राज-यक्ष्मा के लक्षण होते हैं।

वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza)

इन्फ्यूलेंजा या फ्लू तीव्र संक्रामक रोग है इसका कारण बेसीलस इन्फ्यूलेंजा या फीवर जीवाणु और मतान्तर से बेक्टेरियम न्युमोसिस्टिस माना जाता है। जीवाणु रोगियों की नासा पश्चिम भाग, नासा, श्वासप्रणाली तथा फुफ्फुस में प्राप्त होते हैं। फ्लू का आक्रमण रोगी से साक्षात् संसर्ग होने, खाँसने, छींकने व वार्तालाप करते समय होता है। संक्रमण रोग की प्रारम्भिक अवस्था में होता है। एक स्थान पर सीमित नहीं रहता है और इससे मारक भी फैला करता है। जब लोग वस्त्र के अभाव में सट कर एक ही कमरे में बिना खिड़कियाँ खोले शीतकाल से बचने के लिए सोते हैं तो इसका प्रादुर्भाव हो जाता है।

जीवाणु के शरीरान्तर्गत प्रवेश होने पर कुछ घण्टे से पाँच दिन में रोग पैदा होकर एक दम दौर्बल्य हो जाता है। शीत, ज्वर, सर्वांग में असहनीय वेदना, शिरःशूल, खाँसी, मुखशोष व लालास्राव होते हैं। रोग के ज्वरयुक्त, फुफ्फुसगत, आंत्रिक प्रकार व वातिक प्रकार—यह चार भेद होते हैं। यदि निरुपद्रव फ्लू हो, तो, प्रायः ७वें दिन उतर जाता है।

ग्रन्थिक ज्वर (Plague)

एक सूक्ष्माण्डाकार जीवाणु बेसीलस पेस्टिस जन्य रोग चूहों द्वारा संक्रमित होता है। मारक दशा में पिस्सू चूहों पर रहती हैं। जेनोप्सिला शोपिस (प्रायः) नामक पिस्सू के काटने से शरीरगत जीवाणु मनुष्य चर्म में प्रविष्ट होकर रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है और चूहे मरने लगते हैं। वे स्थान भी छोड़ देते हैं।

यह, चूहों पर आश्रित और उन्हें रुग्ण बनाकर फिर मनुष्य पर आक्रमण करने वाला, पिस्सू मनुष्य में दंश कर पुरीष त्याग भी करता है। क्षत करके जीवाणु प्रविष्ट होते हैं और स्थानीय लसीका ग्रन्थियां शोथयुक्त होकर जंघा अथवा कक्षस्थल की ग्रन्थियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं। साथ ही ज्वर आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है। प्लेग के स्फोट (ग्रन्थियां) मांस को विदीर्ण करने वाली, प्रज्वलित अग्नि के समान होती हैं। प्लेग चार प्रकार की क्षुद्र, ग्रंथिक,

रक्तगत और फुफ्फसगत होती है। कभी-कभी आंत्रगत व त्वचागत प्रकार भी पाया है। प्लेग में ६०-७० प्रतिशत मृत्यु हो जाती है।

प्रश्न—प्रमुख संक्रामक रोगों का उपाय बतायें।

विषमज्वर (मलेरिया)

मलेरिया को, सौम्य समझकर उपेक्षा करना भूल है। विषमज्वर को रोकने के लिए निम्नांकित विषयों की ओर अग्रसर होना चाहिए।

(१) सर्वप्रथम मच्छर के काटने से रक्षा उत्तमोपाय होता है। मकान कीचड़ रहित ऊँचे स्थान पर बनाना चाहिए। मसहरी लगानी चाहिये। गृह-मार्ग साफ करें। यदि गड्ढे हों तो ऊँचे कर देना चाहिए। कहीं आस-पास जल इकट्ठा न होने देना चाहिये।

(२) जब मच्छर पैदा हो जाते हैं तो उनके नाश करने के लिए विभिन्न उपाय करें। जल के गड्ढे में मिट्टी का तेल डालें। देवदारु, गन्धक, लेशुन आदि की धूनी दें। मच्छर युक्त जलाशयों में मछली छोड़ देनी चाहिए। इस तरह के उपायों से मच्छरों का नाश करें। डी. डी. टी. छिड़का करें।

(३) मलेरिया के लिए कुनैन प्रसिद्ध औषधि है। मात्रा अवस्था के अनुसार रखते हैं। बड़े बुखार में नहीं देनी चाहिये। कुनैन कै ठोस व चूर्ण रूप मे अनेक यौगिक मिलाकर व्यवहृत होते हैं। आयुर्वेदानुसार तुलसी के पत्तों का रस ककरोंधे के पत्तों का कल्क (लुगदी), मदार, काकोली, करंज, नीम आदि योग देना चाहिये। विषमज्वरांतकलौह, ज्वरांकुश रस, ज्वरांतकलौह आदि औषधियों का प्रयोग किया करते हैं।

(४) मलेरिया प्रतिरोधक एवं विनाशक दोनों प्रकार की शिक्षाएं वितरित करनी चाहियें। जनता में निर्देशों का भी विज्ञापन होना आवश्यक है। मलेरिया के दिनों में पथ्यापथ्य, आहार, विहार की सूचनाओं का प्रसार सरकार एवं स्थानीय समाजसेवी संस्थाओं द्वारा अगर किया जावे तो पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

आंत्रिक ज्वर (टायफाइड)

टायफाइड की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है पर सामान्यतः कुछ उपाय इस प्रकार किये जाते हैं। यदि रोगियों के लिये विशेष अस्पतालों की सुविधा न हो सके तो पृथक् कमरे में (घर के) ही रखना पड़ता है रोगी के मल-मूत्र थूक को

निर्जन्तु करके नष्ट कर दें, रोगी के वर्तन वस्त्रों की कृमिहीनता अवश्य करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके मक्खियों को खाने आदि पर बैठने ही न दें। रोग क्षमता (Immunity) प्राप्त करें। विशेषतः इस रोग में स्वच्छता पर नितांत ध्यान रखें। रोगी के कमरे में प्रकाश, वायु का समुचित प्रवन्ध होना भी आवश्यक है। रोगी पूर्ण विश्राम करें।

रोगी के मुख का हाइड्रोजन पैराक्साइड या उदुम्बरसार विलयन से प्रक्षालन करते रहें। रोगी की पीठ, कटि आदि अंग चारपाई से निरन्तर घर्षण करते रहते हैं। अतः उनको उष्ण जल से पोंछ कर स्प्रिट लगाकर डस्टिंग पाउडर छिड़क देना चाहिए। रोगी का आहार लघु तथा द्रवप्राय ही देना चाहिए। स्टार्च अधिक, प्रोटीन मध्यम और स्निग्ध पदार्थ तो जितने कम रहें, उतना ही अच्छा रहता है। फलों का रस, ग्लूकोज, मट्ठा, सोडावाटर प्रभृति पदार्थ हितकर हैं। दूध में सायट्रेट मिलाकर दें। पीने के लिए यथावश्यक जल और दूध लगभग ३ सेर तक देना चाहिये।

टायफाइड में आयुर्वेद की सौभाग्यवटी आधी रत्ती प्रातः सायं दें। पाश्चात्य मतानुसार भी कुछ औषधियाँ दी जाती हैं। परन्तु वस्तुतः डाक्टरों में टायफाइड की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है। रोगी के प्रति यह ध्यान रखना चाहिए कि मलावरोध न होने पावे। यदि पेट फूल गया हो तो जल में तारपीन का तेल मिलाकर सेंक करने से लाभ होता है। शरीर का ताप (Temperature) यदि अधिक हो गया हो तो सर पर वर्फ की थैली रखनी चाहिए। अन्य विशेष लक्षणों की भी लाक्षणिक चिकित्सा करनी होती है। क्लोरम फैनिकाल इस रोग की प्रसिद्ध दवा है।

मसूरिका (चेचक)

चेचक का संक्रमण शीघ्र हो जाता है, अतः एकांतवास का विशेष प्रवन्ध रखना चाहिए। रोग व रोगी सभी सामग्री को पूर्णतया कृमिरहित रखना अच्छा होता है। रोगी के कमरे की खिड़कियों एवं दरवाजों पर लाल रंग के कपड़े का पर्दा लगाने से पूर्ण भवन कम होकर त्वचा पर दाग भी कम होते हैं। प्रारम्भ में रोगी को विरेचन औषधि देकर कोष्ठ शुद्ध कर लेना चाहिए। रोगी के कपड़े हल्के और मुलायम हों। कमरा व खानपदार्थ यदि शीतल रखे जा सकें तो अत्युत्तम। रोगी को यह निर्देश कर देना चाहिए कि वह त्वचा को

खरोंचे नहीं, इससे व्रण बनने का विशेष भय रहता है। परन्तु बच्चों को इस प्रकार रोका नहीं जा सकता, अतः उसके हाथ किसी प्रकार बाँधकर रखना चाहिए। खुरंड उतरने के दिनों में प्रतिदिन में कार्बोलिक घोल लगाने के बाद गर्म पानी से रोगी को स्नान करा देना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक सभी खुरंड न उतरें, अन्य लोगों को रोगी से नहीं मिलना चाहिए।

सारांशतः डाक्टरी मे चेचक के लिए कोई औषधि नहीं है। केवल आहार विहार,परिचर्या, उपादकों के सम्बन्ध में सतर्कता आदि उपायों को काम में लाते है। चेचक वसन्त ऋतु में प्रायः फैलती है। अतः टीका भी लगवा लेना चाहिए। यही उपार्जित क्षमता के नाम से लिखी गई। प्राचीन वैद्यक के आधार पर प्रतिदिन प्रातःकाल ११ नीम के पत्ते, तीन मिरच, एक पाव जल में पीस कर पीने से मसूरिका का भय नहीं रहता।

विषूचिका (कालरा) १९६७

हैजा के फैलने पर अत्यन्त सावधानी व सतर्कता की आवश्यकता है। रोगी की सूचना हैल्थ आफीसर के कार्यालय में देनी चाहिए। जिससे वे उचित कार्यवाही कर सकें। हैजे के पीड़ित को फौरन हैजे के अस्पताल में भेजना चाहिए। रोगी के मल को अच्छी तरह कृमिघ्न द्रव (Disinfectant liquid) द्वारा शुद्ध कर नष्ट कर देना चाहिये अर्थात् पृथ्वी में गाढ़ देना या जला देना आवश्यक है। हैजे के दिनों में जल के विषय में विशेष शुद्धि रखनी चाहिये। कुँए मे जीवाणुनाशक पदार्थ यथा चूना, पोटेशियम परमेगनेट आदि छोड़ते है। जल को सदैव खौलाकर और छान कर पीना चाहिए। भोजन सभी प्रकार से सुव्यवस्थित पकाकर, गरम-गरम ही खाना चाहिये। बासी या अशुद्ध भोजन हैजे के प्रकोप में कभी न खावें। बाजार के बने खाद्य पदार्थ, मिठाई आदि भी जहाँ तक हो सके, कम ही सेवन करनी चाहिये। बाजार की मिठाई से बचने का प्रमुख कारण है, मक्खियों द्वारा उनका दूषित होना। दुकानदारों को निर्देश देना चाहिये कि वे अपना सामान खुला रख कर न बेचें। दूध भी खौलाकर ग्राहकों को पिलाना चाहिये। साथ ही दूध को विशेष ढक्कन बनवा कर सुरक्षा करने मे सहायता मिलती है। भोजन के बर्तनों को गरम पानी से स्वच्छ करना चाहिये। निश्चित समय पर

हित और मात्रा युक्त भोजन सदैव करते रहें। वमन-विरेचन कारक द्रव्यों के प्रयोग से ऐसे समय में बचाना चाहिए।

हैजा भीड़ के स्थान पर अस्वच्छता के कारण प्रायः फैल जाता है। इसी कारण राजकीय नियम द्वारा टीका लगवाने का प्रबन्ध कर दिया जाता है। लाल मिर्च, ईख का रस, सीधु (सिरके के समान एक पदार्थ), प्याज, पोदीना प्रभृति द्रव्यों का सेवन अवश्य करते रहना चाहिये। ये चीजें रोगोत्पत्ति के समय प्रयुक्त होती हैं। हैजे में कपूर सूंघना विशेष लाभदायक रहता है। विषूचिका के फैलने के समय नीम के पत्ते, शुद्ध हींग और कपूर की गोली बनाकर प्रतिदित प्रातःकाल सेवन करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इससे हैजे के संक्रमण भय से मुक्त रहते हैं। हैजे के मृत शव को सदैव आबादी से दूर जलाशय के पास तेज आग पर जलाना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो पृथ्वी के ४ हाथ गहरे गड्ढे में पाट देना चाहिए।

क्षय (ट्यूब क्यूलोसिस) (१९६३)

लोक में टी० बी० (क्षय) को छूत की प्रसिद्ध बीमारी माना जाता है। क्षय के रोगी को अधिक देर तक किसी के पास ठहरना नहीं चाहिए। थूक, खांसी व छींक या उच्च भाषण से मुंह के बाहर निकलने वाले जीवाणुओं से बचाव होता है। थूक सूख कर जमीन में चिपक जाना अनुचित है, ये गन्दगी के कण श्वास के अन्दर पहुँचकर हानि करते हैं। पीकदान को पानी में खौलाकर शुद्ध करते रहना चाहिए। खांसी के वेग को रोक कर कफ को न निगले, अन्यथा अन्तरगल विकृति उत्पन्न हो जाती है।

रोगी के कमरे में मक्खियां न आने पावें, क्योंकि ये ही क्षय फैलाती हैं। धूलि आदि गन्दगी न उड़नी चाहिए। निवास-स्थान की भूमि पर जल छिड़क कर तत्पश्चात् झाड़ू से सफाई करें। रोगी के झूठे आहार को तो किसी को खाना नहीं चाहिए। क्षय रोग से पीड़ित पशुओं का भी दूध निषिद्ध है। दूध खौलाकर ही प्रयोग करें। क्षय युक्त बिल्ली, कुत्तों आदि का भी चुम्बन न करें। मनुष्यों का भी चुम्बन हानि कर सकता है। एक ही थाली में भोजन करना या एक ही पात्र में पानी पीना (गोष्ठी में) हानिकर है।

क्षय रोगी के परिचारक, चिकित्सक और परिवार के सदस्य सभी को सावधान रहना चाहिए। सार्वजनिक भोजनालय (Hotel) स्वास्थ्य के लिए

लाभप्रद नहीं। यक्ष्मा के उपयुक्त अवस्था वहाँ प्रायः करके उत्पन्न होती रहती है। बाल्यावस्था में ही स्वास्थ्य संरक्षण के नियमों का पालन करने लगना लाभप्रद रहता है। मैथुनाधिक्य, मादक द्रव्यों का सेवन, धूलयुक्त कार्यालय इनसे बचना ही अच्छा है। १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से धनोपार्जन सम्बन्धी कार्य के लिए न कहें। शुद्ध वायु का सेवन करना चाहिए।

वातश्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लूएन्जा)

फ्लू बड़ी जल्दी ही फैल जाता है। अतः उचित उपाय करके इससे बचाव के प्रयत्न आवश्यक हैं। रोगी के साक्षात् सम्बन्ध, खाँसना, छींकना आदि से दूर रहकर संक्रमण का प्रतिरोध करना चाहिए। इस रोगी को एकान्त कमरे में रखकर भीड़ आदि में न जाने देना चाहिए। पचास तोले जल में आधा तोला नमक घोलकर मुंह में केवल गण्डूष धारण करने से फायदा होता है। नासागुहा का शोधन दिन में ३ बार करें। तुलसी, अदरक आदि की चाय भी दी जाती है। इस रोग का पात्र आदि के प्रयोग के समय भी संक्रमण होता है। अतः पूर्णरूप से बचाव करें। आयुर्वेद में लक्ष्मी विलास, शृंगाराभ्र और नरसार मिलाकर दें।

ग्रन्थिक ज्वर (प्लेग)

प्लेग के नाश के लिए चूहों की समाप्ति आवश्यक है। सदैव घर भी इस प्रकार का बनावें कि चूहे बिल्कुल उपस्थित न हों। रोगी के लिए निवास-स्थान सर्वदा साफ और प्रकाश युक्त रखना चाहिए। साथ ही मक्खियों का नाश करने के लिये बाकुची, नीम के पत्ते, गन्धक और गन्धाविरोजा की धूनी देनी चाहिए। मक्खियों से बचने के लिए हाथ, पैर, कन्धे आदि में सरसों के तेल की मालिश सदैव लाभप्रद है।

यदि प्लेग से ग्रस्त जन-समुदाय में से कोई मनुष्य दूसरी वस्ती में जावे, तो वस्ती में घुसने के पूर्व ही उसके कपड़े, पात्र प्रभृति सामग्री को निर्जन्तु करना आवश्यक है। उसके बाद वस्ती में जा सकता है।

इसकी कोई विशेष चिकित्सा पाश्चात्य वैद्यक में नहीं, लाक्षणिक चिकित्सा करते हैं। हैफकीन का प्लेग नाशक सीरम देते हैं। गिल्टी को सेंकना तथा उस पर एन्टीफ्लोजिस्टिन लगाते हैं। मक्युरोक्रोम का घोल शरीर में प्रविष्ट करते हैं। आयुर्वेदानुसार चण्डेश्वर रस १ रत्ती, प्रातः सायं मधु से चाटना चाहिये।

गिल्टी पर नागफनी का गूदा उतारकर उसके गूदे पर आमाहल्दी का गूदा लगा कर गरम करके बाँधना चाहिये।

कुष्ठ (Leprosy) (१९६५)

यह रोग सुप्रसिद्ध है तथा इसकी भयंकरता और संक्रमण की स्थिति से समस्या उत्पन्न हो गई है, अतः इसके राष्ट्रीय प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस रोग में विशिष्ट प्रकार के संक्रमण शील ग्रेन्यूलोमेटा (Infective granulomata) बन जाते हैं, जो त्वचा, सबकुटेनियम टिश्यूज, श्लेष्मिक कला तथा पेरीफेरल नाड़ियों को विशेषतः प्रभावित करते है। इसकी उत्पत्ति में मुख्य कारण मायकोबेक्टेरियस लेप्री (Mycobacterium leprae), जिसे हेनसेन दण्डाणु भी कहा जाता है। इसके संक्रमण के विषय में समझा जाता है कि त्वचा के साक्षात् सम्पर्क से प्रसारित होने की अधिक संभावना रहती है, और इसके अपेक्षा श्वास मार्ग से कम। ग्रन्थियुक्त प्रकार में संक्रमण-की अधिक संभावना रहा करती है। कुष्ठ वंशानुगत नहीं है, फिर भी कुष्ठियों की सन्तान में ४० प्रतिशत रोगियों में कालान्तर में कुष्ठ हुआ, ऐसा देखा गया है। इसके कतिपय सहायक कारण होते हैं—

१. वासस्थान (देश)	भारत, चीन, जापान, आदि
२. आयु	अधिकतर १० से ३० वर्ष की आयु वाले रोगियों में उपलब्ध।
३. निवास	अस्वच्छ जीवनयापन तथा भीड़।

इसकी विकृति में जो ग्रेन्यूलोमेटा उत्पन्न होते हैं, उनमें कुष्ठीय कोषाणु (lepra cells) रहते है और इन्हीं में कुष्ठ के दण्डाणु (lepra bacilli) मिल सकते है। इसके विकृति केन्द्र (lesions) कुष्ठ के विविध प्रकारों में विविध रीतियों के उपलब्ध हुआ करते हैं। ये कुष्ठ दण्डाणु रोगी शरीर के निम्न स्थानों में रहते हैं—

१. त्वचीय ग्रन्थियाँ (Skin nodules)
२. व्रण
३. नासागत श्लैष्मिक कला
४. यकृत्
५. प्लीहा

६. रक्त

७. नाड़ियाँ (lesser extent)

इनका संक्रमण काल अधिक रोगियों में दो से पांच वर्ष का होता है तथा तदनंतर शनै-शनैः रोग प्रकट हो सकता है।

रोग के प्रारम्भ होने के पूर्व कुछ सामान्य लक्षण सूचना देने के रूप में प्रकट हो सकते हैं, यथा—मांसपेशियों में पीड़ा, स्वेदाप्रवृत्ति तथा सात से दस दिन तक रहने वाला ज्वर आदि। कुष्ठ के प्रमुखतया तीन प्रकार होते हैं—

१. त्वगीय (Cutaneous or lepramatous)

२. क्षयात्मक (neural, maculo-anaesthatic or tuberculoid)

३. मिश्रित (Inteterminate or mixed)

इस रोग के निश्चित निदान की विशेष आवश्यकता होती है और इस दृष्टि से सापेक्ष विचार किया जाना चाहिए। इसके लिए रोग की संभावना होते ही कुष्ठ दण्डाणु को प्राप्त करना आवश्यकीय है, जो कि रोग का निश्चित परिचायक होगा। इस उद्देश्य से त्वचा का एक खण्ड लेकर अथवा सबकुटेनियस टिश्यू लेना चाहिये, अन्यथा नोड्यूल या नासा में लेखक से प्राप्त स्राव का सूक्ष्मदर्शनात्मक परीक्षण करना चाहिए। इसे प्रसंग क्षय के दण्डाणु से पृथक् करना होता है। इसमें हिस्टेमीन प्रतिक्रिया (Histamine reaction) का परीक्षण भी किया जाता है। कुष्ठ का निश्चित ज्ञान करते समय अन्य त्वच रोगों से सूक्ष्म अन्तर कर लेना भी आवश्यक है।

कुष्ठ की यदि पूर्ण चिकित्सा न की जावे तो वह दस से बीस वर्ष अथवा उससे भी अधिक समय तक चल सकता है। इसमें अनेक ग्रन्थी नाड़ी तथा क्षयात्मक उपद्रवस्वरूप विकृतियाँ हो जाती हैं तथा कुछ प्रकार दो से तीन वर्ष में आरोग्य भी हो जाते हैं। इसकी साध्यासाध्यता में पूर्व समय पर्याप्त अन्तर पड़ गया है, फिर भी दीर्घकाल तक चलने वाला कण्टकर कहा जा सकता है तथा रोग की अवधि का इस पर प्रभाव होता है।

इस रोग में अनागत बाधा प्रतिषेध के रूप में विविध कार्य किये जाते हैं, जिनमें कुष्ठ रोग की संख्या में भी पर्याप्त न्यूनता हो सकती है। जिन रोगियों में इसके लक्षण मिलते हों उनका घर मे पृथक्करण अत्यावश्यक है तथा घर के में रहने वाले व्यक्तियों का समय-समय पर परीक्षण होते रहना

चाहिये। यदि माता कुष्ठी है, तो नवजात-शिशु को पृथक् कर देना चाहिए। परन्तु प्रारम्भ रोग का यथाशीघ्र उपचार हितकारक है।

रोगावस्था में उपचार के लिए सल्फोन औषधियों (Sulphone drugs) का उल्लेखनीय प्रचलन हुआ है। रोग यदि अधिक बढ़ जावे तो ऐसे रोगियों को पृथक् कुष्ठ अस्पतालों में रखकर उपचार देना चाहिए। प्रारम्भ में सल्फोन उत्पादन डेप्रोन (D D S) दी जाती है तथा तदनन्तर सन्तोषजनक लाभ न होने की स्थिति में थायम्बोट्यूसिन (D P T) दी जाती है और लगभग ३ वर्ष के प्रयोग से सहिष्णु या सात्म्य हो जाने की (resisted) संभावित स्थिति में पुनः डेप्रोन का प्रयोग सप्ताह में दो बार के प्रयोग से प्रारम्भ करके शनैः-शनैः बढ़ाया जा सकता है। इनमें अन्य औषधियों का प्रयोग तथा विधि अवस्थानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं।

रोमान्तिका (Measles)

यह ऐसा संक्रामक रोग है, जिसमें नासाकला में शोथ ज्वर तथा विशिष्ट प्रकार के सूक्ष्म दाने (rash) प्रारम्भ में निकलते हैं, जो कि इसके पहिचानने में सहायक हैं। रोग का प्रमुख हेतु एक वायरस है, जो मनुष्य तथा बन्दरों को प्रभावित करता है। इसका प्रसरण साक्षात् सम्पर्क से होता है तथा बिन्दूत्क्षेप प्रकार अधिक संभावित है। दाने आने से पूर्व इसकी संक्रमणशीलता अधिक होती है। इसके अन्य सहायक कारण इस प्रकार हैं—

१. आयु	अधिकतर ८ मास से ५ वर्ष की आयु तक बालकों में
२. पूर्व रोग की स्थिति का आक्रमण—	अभाव (वास्तविक रोमान्तिका का दूसरा आक्रमण प्रायः कम)
३. ऋतु	शीत तथा वसन्त काल में महामारी के रूप में प्रसरण तथा एकान्तर वर्षों की अवधि में अधिक संभावित
४. लिंग, जलवायु तथा जाति	अमहत्त्वपूर्ण

रोगों की विकृति के अनुसार रोगी के पूर्वावस्था में किये शस्त्रकर्म से टॉसिलर या एपेण्डीक्युलर टिश्यूज में विशिष्ट प्रकार की कोषायें (Multi-nuclear giant cells) पायी जाती हैं, जो रोमान्तिका की निश्चित परिचायक

मानी गयी हैं। इसमें मृत्यूत्तर परिवर्तन (P M C) नहीं मिलते और मृत्यु प्रायः उपद्रवों, विशेषतः ब्रांकोन्यूमोनिया से ही संभव है। आजकल रोग पूर्व की अपेक्षा अधिक मारक नही रहा है।

इस रोग की संक्रमण या संचय अवधि सात से चौदह दिन (प्रायः १० से ११ दिनों तक) रहती है। रोगी प्रायः बाल्यावस्था का देखने में आता है। संचय पूरा हो चुकने के उपरान्त संक्रमण की अस्वस्थता (illness of infection) प्रारम्भ हो जाती है और संचयावधि के उपरान्त दाने प्रतीत होने लगते हैं यथा साथ नेत्रकला शोथ, प्रकाशसह्यता, नासास्राव आदि लक्षण मिलते हैं। साथ लेरिंगजायटिस तथा अतिसार भी हो सकते हैं।

रोग प्रारम्भ होने पर, प्रथम दिन ९०-१०० डिग्री तक तापक्रम तथा मुख के अन्दर सूक्ष्म दाने (Koplik's spots) प्रायः ९० प्रतिशत रोगियों में मिलते हैं, जोकि विशिष्ट आकृति तथा वर्ण के होते हैं। ज्वर शनैः-शैनः गिरता है और तीसरे दिन तापक्रम १०२ डिग्री हो जाता है। इस समय दाने (rashes) निकल रहे होते हैं और यह ज्वर (rash fever) दानों की उत्पत्ति के साथ २ दिन रह कर, ४-५ दिन भी हो सकता है। ये दाने पहले मुख, ग्रीवा तथा धड़ पर दिखाई देते है और बाद में शाखाओं पर हस्ततल व पादतल तक प्रसारित हो जाते हैं। २ से ५ दिन के बाद दानों का उपशम स्वतः प्रतीत होने लगता है, जिनका त्वचा पर असमान्य प्रभाव रह जाता है, जिसे एक से दो सप्ताह तक का समय लगता है। रोग के अन्य प्रकारों में विषमयता आदि संयुक्त होकर रोग के तीव्र प्रकार के हो सकते हैं।

जब रोग का आक्रमण हो रहा होता है, उस समय (Invasion Period) में प्रतिश्याय, इनफ्लूएंजा, लेरिंजियल डिफ्थीरिया, ब्रोकायटिस तथा एन्टरायटिस से अन्तर कर लेना अत्यावश्यक है। इस रोग के दाने स्कार्लेट फीवर, सिफालेटिक रोजिओला, सेप्टिकरेश, इण्टेस्टाइनल रेश, पीस्ट-वेक्सोनल इरप्सन तथा टाइफस ज्वर आदि से पृथक् कर लेना चाहिए, जिसमें भ्रम होने की संभावना रहा करती है। वैसे रोमान्तिका के उत्पन्न होने का क्रम, दानों की उत्पत्ति, संक्रमण प्रकार तथा रोगी का इतिहास प्रभृति ऐसी अवस्थाएं हैं जो रोग का निश्चित ज्ञान करने में सहायक हैं।

सामान्यरूप से रोग का जो क्रम है, उसमें भयंकर उपद्रव भी हो सकते हैं,

जिनमें प्रमुखतया ये संभावित होते हैं—

१. ब्रांकायटिस (कास)

२. ब्रांकोन्यूमोनिया (सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपद्रव)

३. लेरिंजायटिस (गले का विकार)

४. लेरिक्स में व्रणोत्पत्ति

५. प्लूरिसी

६. एम्पाइमा

७. रोहिणी

८. नेत्र, कर्ण, नाड़ीसंस्थान, मूत्रवह संस्थान के विविध विकार

इसके अनागत बाधा प्रतिषेध के उपाय दुर्बल बच्चों मे पाँच वर्ष की अवस्था से नीचे तक आवश्यक होते हैं। गमा ग्लोब्यूलीन (Gamma globulin) का मांसगत सूचिवेध संक्रमण के ६ दिनों में देने से रक्षक सिद्ध हो सकता है। इसी औषध के प्रयोग की विभिन्न मात्राएँ रोग की अवस्थानुसार दी जा सकती हैं। इसके क्यूरेन्टाइन तथा इनक्युवेसन पीरियएड्स में विशेष ध्यानपूर्वक उपाय किये जाते हैं, जिनमें रोगी का पृथक्करण भी सम्मिलित रहता है।

रोग के मुख्य उपचार हेतु रोगी को लगभग तीन दिनों की अवधि तक जब तक तापक्रम प्राकृत न आ जावे, पूर्ण विश्राम शैया स्थिति कराके देना चाहिए तथा रोगीगृह उचित तापक्रम तथा वातसंचार की व्यवस्था युक्त हो तथा शैया का मुख प्रकाश की ओर न रहे, क्योंकि रोगी में स्थिति फोटोफोबिया पूर्व निर्देश किया गया है। यदि तीव्र ज्वर तथा क्षोभ हो तो त्वचा पर 'स्पंज' करना चाहिए। दाने ठीक प्रकार से निकलने पर उष्ण स्पंज या बोतल का प्रयोग उचित है।

इसमें नेत्रों का उपचार आवश्यक है। अतः किसी लोशन से नेत्रों का प्रक्षालन मलहर का पक्ष्मों पर प्रयोग किया जाता है। एल्ब्यूसिड (Albucid solution) की १० प्र. श. शक्ति का प्रति चार घण्टों में नेत्रगत प्रयोग किया जाता है। मुख की शुद्धि, विशेषतः भजनोपरान्त, सदैव करते रहना चाहिए। नासा में वायु निकालने की क्रिया बराबर रोगी को करते रहना चाहिए। कर्णसंस्राव में पेनिसिलीन का प्रयोग किया जा सकता है।

रोग में ब्रांकोन्यूमोनिया से रक्षा या उनकी चिकित्सा के लिए उचित

औषधियों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए सल्फाडायमाइडीन तथा पेनसिलीन का उपयोग होता है। रोग से मुक्त हो जाने पर कमरे का अधिक विसंक्रमण आवश्यक नहीं है। परन्तु शीट आदि की शुद्धि कर लेना चाहिए। रोगी का विकार के पूर्ण उपशम के उपरान्त उसे स्नान कराने के बाद बालों की शुद्धि करनी चाहिए।

इस रोग मीजल्स के अतिरिक्त एक जर्मनमीजल्स (German measles) भी पाया जाता है। इसमें साध्यता की स्थिति रहती है।

प्रश्नः—नैसर्गिक आरोग्य से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—प्राकृतिक उपचार (१९६२, ६४, ६५)

परिभाषा—सृष्टि के तत्वों का स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगों की शान्ति हेतु उपयोग करना, प्राकृतिक चिकित्सा का सामान्य अभिप्राय है। इसे प्राकृतिक या नैसर्गिक चिकित्सा विज्ञान या नेचुरोपैथी (Naturopathy or Nature Cure) कहा जाता है। इसके उपादानभूत तत्त्व तथा क्षेत्रों का अंकन इस रीति से किया जा सकता है।

षट्तत्व—१. पृथ्वी
२. जल
३. तेज —त्रैतापों का उपचार
४. वायु
५. आकाश क. आधिदैविक
६. महत्व ख. आधिभौतिक
ग. आध्यात्मिक

इस प्रकार प्राकृतिक उपचार पद्धति को अत्यन्त सरल सुविधाजनक क्रिया रोग नाश तथा स्वास्थ्य परिरक्षणार्थ समझा जाता है, अतः ऐसी स्वाभाविक विधियों का पर्याप्त रूपेण प्रचलन है। वस्तुतः जितना ही प्रकृति के निकट रहा जावेगा, उतनी ही रोगग्रस्तता कम से कम होगी और इसी दृष्टिकोण से केवल प्रकृति के मूल तत्वों के (औषधि रहित प्रायः) उपयोग द्वारा मनुष्य शरीर को आरोग्य प्रदान किया जा सकेगा।

उद्भव

इस पद्धति के मूल उद्भव का अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होगा, यह

सृष्टि की उत्पत्ति के साथ सम्बद्ध है, क्योंकि जन्म से मनुष्य सभ्यता के आदि विकास से ही प्रकृति-साधनों से लाभान्वित होता जा रहा है, अतः किसी-न-किसी रूप में ऐसी नैसर्गिक पद्धति का उद्‌भव हो चुका था। वैदिक साहित्य में पंच-महाभूतों द्वारा आरोग्य प्राप्त करने के कतिपय उद्धरण उपलब्ध होते हैं, तथा यजुर्वेद में अग्नि तत्व का अभिप्राय की प्रार्थना द्रष्टव्य है। तथा इसी ऋग्वेदोक्त वायु तत्व रोगनाशक के रूप प्रशंसित हैं।

इसके पश्चात् पुराण, धर्मग्रन्थ, गीता प्रभृति कालों में विविध रूपों में प्राकृतिक उपचार में उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार सहस्रों वर्षों से ऐसे नैसर्गिक साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। यह उल्लेखनीय तत्व है कि भारतीय देशी पद्धतियों में सर्वाधिक प्रचलित—आयुर्वेद का प्राकृतिक चिकित्सा अंग ही है और उससे अभिन्न है, क्योंकि संहिताओं में नैसर्गिक उपचार के पाँच तथा अन्य उपादानों का स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन आया है, जिससे इसका सम्बन्ध पूर्णरूपेण सिद्ध होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति की आयुर्वेदीय अभिन्नता को प्रमाणित करने वाले कतिपय आधारभूत तथा व्यावहारिक उपादान विभिन्न प्रसंगों में प्रयुक्त हैं और स्वास्थ्य का परिरक्षण प्रथम सिद्धान्त होना नैसर्गिक उपचार के और भी निकट है। आहार-विहार का मिथ्या प्रयोग, आम से रोगोत्पत्ति, लंघन स्नेहन स्वेदन विधान, पंचकर्म वर्णन, नैष्ठिकी विधि तथा उपशय-प्रकार प्रभृति आधारों हिताहित आयु की प्राप्ति द्वारा जीवन को सुखी बनाना प्राकृतिक चिकित्सा के प्राथमिक रूपों में सम्मिलित है।

विकास

इस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा का प्रारम्भ अति प्राचीन तथा स्वाभाविक रहा है और अप्रत्यक्ष रूप में वैदिककाल से संहिता तथा संग्रहकाल तक लगभग इसका प्रचलन रहा। परन्तु आधुनिक साधनों तथा वैज्ञानिक प्रगतियों के साथ इसका स्वतंत्र विकास न हो सका और भारत में देशी चिकित्सा तथा पाश्चात्य विज्ञान का प्रचलन रहा। परिणामतः प्रगति में बाधा उपस्थित हुई, जिससे विविध कारणों की पृष्ठभूमि जुड़ी हुई है। ऐसी अवरुद्ध पद्धति को गतिमान करने का प्रारम्भिक कार्य पाश्चात्य जगत ने किया और निस्सन्देह तदुपरान्त क्रमशः स्वतंत्र विकास देश-विदेश में प्रारम्भ हुआ।

इस क्रम से इंगलैंड निवासी जेम्स क्युरी (१७१७ ई०) तथा सर जॉन फ्लायर (१८०० ई०) दो प्रारम्भिक काल के चिकित्सक हैं, जिन्होंने प्रेरणा प्राप्त कर प्रकृति के तत्वो, विशेषतः जल चिकित्सा का प्रचार किया और विदेश के कई नगरों में अनेक चिकित्सको अथवा अन्य व्यवसाय के महान् पुरुषों ने प्राकृतिक चिकित्सा के विविध पक्षों मे उल्लेखनीय योगदान किया—

१. विनसेंज प्रिस्निज—जर्मन चिकित्सक
२. सीलास ग्रो ग्लीसन—उक्त चिकित्सक के शिष्य
३. जेम्स. सी. जैक्सन—सन् १८११, अमेरिकन चिकित्सक
४. हृगाशन, व्लिज तथा फेल्के—जर्मन प्राकृतिक चिकित्सक
५. जोहान्स स्क्राथ—स्क्राथ चिकित्सा' के आविष्कर्त्ता
६. फादर सेबस्टियन नीप—स्क्राथ के समकालीन तथा प्राकृतिकोपचार के साथ वानस्पतिक प्रयोग
७. आनल्ड रिकली—आस्ट्रिया, सूर्यप्रकाश, वायु चिकित्सा
८. मेलजर, थियोडोरहैन तथा रसे—लुईकुने के चिकित्सक
९. लुईकूने—सन् १८६४, जर्मन चिकित्सक, प्राकृतिक पद्धति; विशेषतः जल चिकित्सा में अग्रणी
१०. होम्स; ओबरानकी, विलसन व क्लार्क—अमेरिकन चिकित्सक
११. हेनरिच लेमैन—जर्मन चिकित्सक
१२. एडोल्फजुस्ट—जर्मन, मृत्तिका तथा अभ्यंग प्रयोग
१३. हेनरी लिण्डल्हार—अमेरिका चिकित्सक, चक्षु विज्ञान का योगदान विशेष
१४. वरनर मैकफेडन तथा ट्रूकर डेवी—उपवास के प्रचारक
१५. रार्बट हावर्ड—प्राकृतिक आहार के विकासकर्त्ता
१६. वेनेडिक्ट लुस्ट—जर्मन, महत्त्वपूर्ण जल तथा अन्य प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी शैक्षणिक तथा प्रकाशन कार्य

इस समय तक प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान की विविध शाखाओं का विकास प्रारम्भ हो गया था और विश्व के अनेक देशों में १९ वीं शती के आगामी दशकों में (भारत में भी) अनेक चिकित्सक, नेता और विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने प्राकृतिक उपचार विज्ञान में योगदान दिया और व्यवस्थित रूप से

इस विज्ञान के शैक्षणिक, अनुसंधान तथा चिकित्सा कार्यों को सम्पादित किया जा रहा है। अधुना जल, विद्युत, आहार, स्नान, मृत्तिका-वर्ण, सूर्य प्रकाश, वायु, उपवास प्रभृति पर आधारित कई ऐसी चिकित्सा पद्धतियाँ बन गयी हैं, जो प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान की उपशाखाओं के रूप में स्वतन्त्रत: प्रयोग में लायी जा रही हैं और विशेषतः भारत में प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के कतिपय संस्थानों तथा संगठन के माध्यम से अनेक योगदानकर्त्ता उपलब्ध होते हैं।

सामान्य सिद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों में रोग तथा उसके उपचार विषयक महत्वपूर्ण पक्षों का उद्घाटन कर, पद्धति का सैद्धांतिक मार्ग व्यवस्थित किया है ऐसे तथ्यों को सारांश रूपेण प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. सर्व व्याधियों का निदान तथा उपचारात्मक एकत्व।
२. रोग का अकीटाणु हेतुत्व
३. रोग का मिश्र रूपत्व
४. प्रकृति का चिकित्सक स्वरूपत्व
५. सम्पूर्ण शरीर का उपचारवाद
६. नैदानिक अविशेषत्व
७. जीर्ण रोगोपचार में पर्याप्त अवधिआवश्यकता
८. रोग के गुप्त रूप का उद्घाटनत्व
९. अनुत्तेजक औषधि प्रयोगवाद
१०. मन, शरीर तथा आत्मा का संयुक्त उपचारत्व

इस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा उक्त आधारों के दृष्टिकोण से शरीरस्थ विविध रोगों का उपचार करती है और जीवनयापन में सुख व स्वास्थ्य के उद्देश्य को सर्वप्रथम सरलता से, विकृति-चिकित्सा के उपचार के पूर्व, सम्पन्न करती है। ऐसी आरोग्यकारक दृष्टिकोण से स्वाभाविकतया प्रकृति और उसके साधनों से निकटतम सम्पर्क रखकर, जो आरोग्य उपलब्ध होता है, वह निश्चय ही विशेष सहज तथा स्थायी प्रकार का होता है और इसी कारण, एक दृष्टिकोण यह भी है कि प्राकृतिक उपचार विज्ञान, चिकित्सा पद्धति (Medical science) नहीं, अपितु जीवनकला (Art of living) है।

प्राकृतिक चिकित्सा की जो समस्त गुणावली है और सुखी जीवन के प्रशस्तमार्ग की जो पथप्रदर्शक सामर्थ्य है, उसको एक ओर रखकर, दूसरे पक्ष पर पूर्णतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से अत्याधुनिक प्रकाश में अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होगा कि इस पद्धति द्वारा समस्त रोगों के उपचार का जो दावा है, वह कहाँ तक सत्यसिद्ध है तथा इसके जो कठिन, संयम साध्य, दीर्घ समयापेक्षित अथवा अविकसित (Crude) कतिपय साधन है, जिनका संचालन कई बार, आडम्बर रूप में 'क्वैक्स' द्वारा होती है, उनकी सर्व स्वीकृति संदिग्ध है और इन्हीं कारणों से संसार में सर्व सामान्य रूप से प्रचलित औषधि तथा शास्त्र विज्ञान के सामने एक छोटा रूप लिये विद्यमान है।

साधन

प्राकृतिक चिकित्सा के जो आधारभूत तत्त्व हैं, उनका संकेत किया जा चुका है, इन साधनों का स्वरूप तथा उपयोगिता की रूपरेखा है, उसका प्रतिपादन अपेक्षित है—

१. पृथ्वी
२. जल
३. तेज
४. वायु
५. आकाश
६. महत्तत्त्व

(१) पृथ्वीतत्त्व (१९६५)

यह अन्यभूतों का सार माना गया है (एषां भूतानां पृथ्वी रसः—छान्दोग्य) तथा पृथ्वी का सम्पूर्ण महत्त्व प्राकृतिक चिकित्सा से सम्बद्ध रहता है। पृथ्वी से अन्न की उत्पत्ति हुई तथा इससे मनुष्य का प्रभव हुआ। इस प्रकार पृथ्वी प्रभाव क्षेत्र है (अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः—गीता) और तदनुसार आरोग्य में अत्युपयोगी है। पृथ्वी या मिट्टी की महत्त्वपूर्ण शारीरिक तथा अन्य व्यावहारिक लाभों की विस्तृत गुणावली है। मिट्टी के विभिन्न प्रकारों के संगठन तथा गुणों में पर्याप्त अन्तर है और मृत्तिका चिकित्सा में कतिपय उपक्रम समाविष्ट किये जाते हैं—

१. मिट्टी की उष्ण तथा शीतल पट्टिका

२. उष्ण मिट्टी की पट्टिका

३. रज स्नान

४. पंक स्नान

५. बालू भक्षण

चूंकि खोजों द्वारा ज्ञात हुआ है, मृत्तिका में चौवीस खाद्य तत्त्व होते हैं, और मनुष्य शरीर में ये ही तत्त्व पाये जाते हैं, अतः खाद्य चिकित्सा का सम्पादन इसी आधार पर किया गया है। आहार नियन्त्रण के साथ दुग्ध, फल, शाक तथा काष्ठौषधि की चिकित्सा पद्धतियों का प्रचलन इसी के अन्तर्गत आता है। इन खाद्य तत्त्वों में प्रमुखतः है—

१. प्रोटीन

२. कार्बोज

३. वसा

४. स्फोक

५. जल

६. खनिज लवण

७. खाद्योज

(२) जलतत्त्व (१९६५)

जब महाभूत में प्रलय के समय सृष्टि निमग्न होती है और सर्गकाल में जल से ही उदय होता है। जल के गुणों को प्राचीन वाङ्मय में स्थान-स्थान पर अंकित किया गया है जल को अमृतदायक कहा गया है (अमृत वै आपः—तैत्तरीय) तथा जल को परम औषधि बताया है। शरीर में विभिन्न अंगों में आनुपातिक मात्रा में जल स्थित रहा करता है जल चिकित्सा (Hydropathy) के लिए शीतल जल के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रयोग किये जाते हैं। शीतल जल के मुख्य प्रयोग कई होते हैं—

१. साधारण दैनिक स्नान शुष्कघर्षणस्नान, क्रमिक दूषित शीत स्नान

२. नदी तैरकर स्नान

३. वर्षा जल से स्नान

४. समुद्र स्नान

५. खनिज जल स्नान

६. लम्बा स्नान

७. झरना स्नान

८. गीली चादर स्नान

९. झंपस्नान

१०. सम्पूर्ण स्नान
११. ब्रँण्ड स्नान
१२. शीतल तौलिया स्नान
१३. तलवा स्नान
१४. पैर स्नान
१५. टाँग स्नान
१६. घर्षणकटि स्नान
१७. प्राकृतिक स्नान
१८. घर्षण मेहन स्नान
१९. पीठ स्नान
२०. धड़ स्नान
२१. नेत्र स्नान
२२. सिर स्नान
२३. शीतल तरेरा

जल में भीगी विविध प्रकार की पट्टिकाओं तथा चादरों का कारण कई रोगों के उपचार में किया जाता है और उनके कतिपय भेद है—

१. शीतल जल पट्टी
२. उष्ण जल पट्टी
३. सम्पूर्ण शरीर पर आर्द्र वस्त्रावरण
४. शीतवर्द्धक चादर स्नान
५, मध्यम तथा उष्ण चादर स्नान
६. स्वदेन स्नान
७. शिर धड़, कटि, सन्धि, वस्ति तथा ग्रीवादि पर पट्टी।

जल का अन्तः प्रयोग विविध रीतियों से पान के द्वारा तथा अस्त्र स्नान (एनीमा व नौलि क्रिया) के विभिन्न रूपों में किया जाता है।

(३) अग्नि तत्त्व (१९६५)

यह दृश्य तत्त्वों में मुख्य है और इसे देवता मानकर विभिन्न स्थलों पर पूजन विधान तथा अर्चनायें की गई है। सूर्य की अनेक प्रार्थनायें तथा रोग नाशन हेतु स्तुतियाँ हैं। प्रकाश का विज्ञान के अनुसार विश्लेषण किया जा सकता है, कि प्रकाश के पुंज में सप्त रंग (vidgyor) का मिश्रण मूलतः रहता है, और इन्हीं विविध रंग वाली किरणों का रोग नाशनार्थ प्रयोग किया जाता है। साधारण रूप से सूर्य के प्रकाश का स्वास्थ्य-रक्षण में विशेष महत्त्व है। सप्तकिरण स्नान या पूर्ण धूप स्नान विविध प्रकार का होता है। सौर्य जल चिकित्सा (chromo-hydropathy) का जलोपचार की भाँति प्रयोग किया जाता है।

सूर्य किरण चिकित्सा सात रंगीन किरणों के विभिन्न रूपों या माध्यमों के द्वारा किया जाता है—

१. रंगीन काँच-शीशियों में प्रवेश करना
२. जल में सम्पुटन द्वारा
३. वायु के माध्यम द्वारा
४. तेल में प्रवेश कराना
५. मिश्री या दुग्ध शर्करा में कराना
६. रंगीन किरण से तप्त लाल से आर्द्रपाटिका
७. उक्त जल से आर्द्रमृत्तिका पट्टिका

रंगीन किरणों के नाम—१. तीव्र लाल ५. हरा
२. लाल ६. आसमानी
३. नारंगी ७. नीला
४. पीला ८. बैंगनी
९. नीलोत्तर

इनके अतिरिक्त रोग निवारण की दृष्टि से सूर्य के प्रकाश की उष्णता से वायु, पृथ्वी तथा जल को तप्त कर, विभिन्न तापक्रमों पर अवस्थानुसार प्रयोग किया जाता है, जिसमें उष्ण वाष्पस्नान (steam bath) तथा वाष्पस्नान (Vapour bath) सम्मिलित हैं। काष्ठौषधियों के संयोग से उत्पन्न वाष्प से स्नान किया जाता है तथा उष्ण जल के एनीमा प्रयोग तथा सम्पूर्ण शरीर के अथवा शरीरांगों के विविध उष्णस्नान किये जाते हैं। उष्णपरिसेक (hot fomentation) के अनेक प्रकार हैं तथा जलनेति, जलधौति, शंखप्रक्षालन प्रभृति कई प्रक्रियायें की जाती हैं।

यदि साधारण से विद्युत को उष्णता के रूप में ग्रहण किया जावे तो विद्युत चिकित्सा (Electrotherapy) इस प्रसंग में प्रतिपाद्य है तथा रोग निराकरण की दृष्टि प्रमुखतया विद्युत प्रयोग की विधियां पांच प्रकार की हैं—

१. गैलवैनिक विद्युद्वाह
२. फैराडिक विद्युद्वाह
३. सिनस्वैडल विद्युद्वाह

४. हाई फ्रिक्वेन्सी विद्युद्वाह
५. स्टेटिक विद्युद्वाह

(४) वायु तत्व (१९६२, ६५)

वायु की प्राणदायक शक्ति तथा सृष्टि के जीवों के लिए इसकी अनिवार्यता सर्वप्रमाणित है तथा दीर्घजीवन प्राप्ति हेतु वायु की अनेक स्तुतियाँ की गयी हैं। स्वास्थ्य रक्षा के लिए वायु स्नान (Air bath) के लिए भ्रमण के विशद गुणों का वर्णन किया गया है। वायु के उपभोग द्वारा कतिपय आरोग्य परिरक्षक तथा व्याधिनाशक विधियों का संचालन होता है—

१. प्राणायाम	यौगिकपट्क्रियायें, ब्रह्मचर्यव्रत, आसन सिद्धि, नियमितता, चित्त की एकाग्रता, सात्विक भोजन तथा प्राणायाम के मंत्र, संध्या आदि की विधि
२. पवन वस्ति	
३. वायु धौति	
४. अपानायाम	
५. स्वर साधन	
६. अभ्यंग	
७. उद्वर्त्तन	
८. व्यायाम (स्वेदस्नान)	सूर्यनमस्कार तथा विदेशी पद्धति के व्यायाम
९. योगासन (योगचिकित्सा)	शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तारासन, हलासन, भुजंगासन, मयूरासन, धनुरासन, चक्रासन, पद्मासन अर्धमत्स्येन्द्रासन आदि।

(५) आकाश तत्व

यह तत्व सर्व तत्वों में प्रथम तथा इसी से अन्य तत्वों की क्रमशः उत्पत्ति हुई है। (आकाशद्वायु···इत्यादि) और आकाश अविनाशी तथा निराकार माना गया है। दीर्घजीवन तथा रोग शांति के लिए आकाश तत्व का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन होता है। ऐसे कल्याणकारी तत्त्व से लाभान्वित होने की दृष्टि

पृथ्वी व जल आधार कारण हैं तथा रस की उत्पत्ति और उनके मधुरादि भेद में आकाश, वायु व तेज ये तीन निमित्त कारण हैं। मूल उत्पत्ति जल से ही समझनी चाहिए। रसों को जो भारी या हल्का बताया जाता है वह केवल सहचारी भाव के कारण है। यथार्थ में गुण होने के कारण में गुणान्तर नहीं होता। अतएव रस लघु या गुरु कह दिये गये हैं। वस्तुतः द्रव्य और रस का सहचरी भाव होता है।

रसभेद (१९६८, १९७१, १९७२)

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वही जलीय रस जलभिन्न भूत चतुष्टय के संसर्ग से विदग्ध होकर ६ प्रकार का हो जाता है। रस मधुर, अम्ल, लवण तिक्त, कटु व कषाय है। इसमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस बल देने वाला होता है।

रस की संख्या के विषय में चरक संहिता में पर्याप्त विवाद का उल्लेख किया गया है। महर्षि आत्रेय की प्रधानता में महर्षि श्री भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, मौद्गल्यपूर्णाक्ष, कौशिकहिरण्याक्ष, भारद्वाजकुमारशिरा, राजर्षि वार्योविद वैदेहराजा निमि, महाराज वडिश, वैद्य कांकायन ने अपने विचार रसों के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये थे। इन ऋषियों ने रसों की संख्या एक से लेकर आठ और अनन्त तक बतलाई। इन मतों में किसी ने रस को जल मात्र माना। रस-छेदनीय, उपशमनीय हैं; रस-स्वादुहित, स्वादु अहित, अस्वादुहित, अस्वादु अहित, रस-छेदनीय, उपशमनीय, साधारण, रस-पार्थिव, औदक आग्नेय, वायव्य, आन्तरिक्ष; रस गुरु, लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार, रस-स्वत सात और एक अव्यक्त; एक अन्तिम मत यह भी है कि रस तो अनेक हैं। इस प्रकार ये ९ मत पूर्वोक्त महर्षियों के थे।

उक्त समर्थक ऋषियों के वचनों के उपरान्त आत्रेय पुनर्वसु ने सभी मतों का पृथक्-पृथक् खण्डन किया। विस्तृत विवेचना के बाद यह मत स्थापित किया गया कि रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ६ ही है, न अधिक और न कम। यही मत आज तक सर्वमान्य है।

आचार्य वाग्भटोक्त रसों के उत्पत्ति क्रम को देखने से ज्ञात होता है कि पृथ्वी जल से मधुर; पृथ्वी, अग्नि से अम्ल; जल, अग्नि तत्त्व से लवण; आकाश, वायु तत्त्व से तिक्त रस; अग्नि वायु से कटु एवं वायु पृथ्वी तत्त्व से

कषाय रस की उत्पत्ति होती है। यहाँ इन तत्वों के आधिक्य की उपस्थिति से अभीष्ट रस की उत्पत्ति समझना चाहिए।

विभाग

इस जगत् के अग्निषोमीय (शीतोष्ण) होने से रसों के सौम्य और आग्नेय दो सामान्य विभाग भी किये जाते हैं। मधुर, तिक्त, कषाय-सौम्य और कटु अम्ल, लवण-आग्नेय हैं। अग्नि वायु की प्रधानता वाले रस प्रायः ऊर्ध्वगामी (वामक) और जल पृथ्वी की अधिकता वाले रस प्रायः अधोगामी (विरेचक) माने गये हैं। जो रस दोनों प्रकार की शक्ति से सम्पन्न हों वे उभयतोभागहर कहलाते हैं। इन रसों का दोषों पर प्रभाव भी समझना आवश्यक है। मधुर, अम्ल, लवण वातशामक, कटु, तिक्त, कषाय वात प्रकोपक; मधुर, तिक्त, कषाय पित्त शामक, कटु अम्ल, लवण पित्त प्रकोपक; होते हैं। सौम्य रस शीतवीर्य, पित्त शामक, मूर्च्छाहर एवं आग्नेय रस उष्णवीर्य, पित्तल, मूर्च्छा-कारक विदाही माने गये हैं।

उपलब्धि

रसों की उपलब्धि के विषय में शास्त्र में निर्देश किया है कि कहीं स्वाद से, कहीं कार्य देखकर अनुमान से और कहीं शास्त्रोपदेश से रस ज्ञात होता है। एक स्पष्ट उदाहरण भी दिया गया है। नीबू के अम्ल रस का ज्ञान प्रत्यक्ष से, सुवर्ण के कषाय मधुर रस का ज्ञान शास्त्रोपदेश से तथा सुवर्ण के कार्य को देखकर अनुमान से होता है।

१. मधुर रस धातु, ओजवर्धक, आयुष्य, मन—पांच इन्द्रियों को प्रसन्नता दायक, बल्य, कान्तिप्रद, पित्त विष-वायु नाशक, तृषा-दाह शामक, बृंहण, दृढ़ता कारक, केश्य, स्निग्ध, शीत, गुरु, बाल क्षतक्षी-वृद्धों के लिए हित-कारक, भग्न अस्थि सन्धान कारक तथा भौंरों-चीटियों को अत्यन्त प्रिय होता है। जैसे मिश्री।

२. अम्ल रस रोचन, दीपन, शरीर वृद्धिकर, उत्साहवर्धक, मनोत्तेजक, वातानुलोमक, लालस्राव कारक, हृदय को तृप्तिकर, पाककर, लघु-उष्णस्निग्ध गुण युक्त, व्रण शोथ का पाककारी, वातहर, पित्त रक्त प्रकुपित कारक, क्लेदक तर्पण, प्रीणन, व्यवायी होता है। जैसे आंवला।

३. लवणरस पाचन, क्लेदन, दीपन, धात्वादि अवयवों को स्थानच्युत कारक,

छेदन भेदन, तीक्ष्ण, अनुलोमन, विकासी स्रोतादि में अवकाश कर स्तम्भ-अव-रोध कठिनता को दूर करने वाला, सब रसों का विरोधी, स्रोतोविशोधक, का मृदु कारक कुछ गुरु-स्निग्ध-उष्ण युक्त, शिथिलता कर शोषण लेहन, अनुलोमन, व्यवायी, कुछ तीक्ष्ण कफ पिघलाने वाला होता है। जैसे सैंधव।

४. कटु रस मुख शुद्धि कर, अग्निदीपन, खाए हुए अन्न का, शोषक नासिका व नेत्रों से स्राव कर, इन्द्रियोत्तेजक, शोथ, मांसादि वृद्धि स्वेद क्लेदहर, व्रणा-वसादन, मांस लेखन-स्रोतों को खोलने वाला, लघुउष्ण, रूक्ष गुण युक्त, कृमिघ्न स्थूलता-आलस्य मेद-शुष्क-विष-कुष्ठ-मुखरोगहर सन्धिबन्ध तोड़ने वाला होता है। जैसे मिर्च।

५. तिक्तरस अरुचि नाशक रूक्ष-शीत-लघु गुणयुक्त छेदन; शोधन, कण्ठ शोधन कोठ प्रशमन लेखन मेध्य स्तन्यशोधन त्वचा मांस दृढ़कर मूर्च्छा दाह कण्डूकु ष्ठ-तृषा नाशक क्लेद-मेद-स्वेद पुरीष-वसा-पित्त व कफ शोषक होता है जैसे नीम।

६. कषायरस संशमन, ग्राही, संधानीय, व्रणपीड़न, रोपण, शोषण, स्तम्भन, शरीर क्लेद शोषक, आमस्तम्भक, त्वचा प्रसादन कफ-रक्त-पित्त शामक, लेखन, रक्तशोधक होता है। जैसे हरड़।

रस परिवर्तन

रसों का परिवर्तन स्थानात् संयोगात, भावना, परिणामतः, उपसर्गतः विक्रियातः अवस्थाओं से हो जाता है। उदाहरण: चावल का भात मधुर रस होता है, किन्तु उसमें पानी मिलाकर कुछ दिन रखा जाये तो अम्लता आ जाती है (अन्ययात्वगमनं स्थानात्)। इमली के फल पकाने पर अम्लता निकल जाती है। (संयोगतः, अग्ने पाकात्)। काशी के आँवले का अन्य स्थानों का अपेक्षा अधिक मधुर होना, तिलों की मुलैठी-क्वाथ की भावना देने से मधुरता, कषाय केले की फलियों का कुछ दिन रखने से मीठापन आ जाना स्मरणीय है (भावनया, देशकालाभ्याम्)। दूध मीठा होताहै, परन्तु दही बनाने की प्रक्रिया से अम्लतायुक्त हो जाता है (परिणामतः) कटहल के फलों को हाथ से दबाने पर अम्लता का आ जाना विपरीत क्रिया विशेष से रस परिवर्तन है (विक्रियातः)।

प्रश्न—वीर्य का परिचय दीजिए। (१९६३, ६६, ६७, ६८, ७४)

उत्तर—आहार रस में जो कार्य सम्पादन शक्ति होती है, वही संक्षेप में वीर्य कहलाती है। चरक ने कहा है—'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्'। द्रव्य अपनी वीर्य शक्ति के बिना कुछ करने में समर्थ नहीं होता। इसी कारण वीर्य का महत्त्व द्रव्य के कार्यकारी होने में मुख्य सहयोगी है (नावीर्यं कुरुते किंचित्, सर्वा वीर्यकृता क्रिया)। साथ में रस वीर्य बल पर ही अपना कार्य करते हैं। विपाक क्रिया भी इसी की शक्ति पर आश्रित है।

सारांशतः द्रव्य की वह विशेष शक्ति, जो रस, विपाक तथा प्रभाव से पृथक् रहकर द्रव्य का कर्म शरीर पर करती है उसे वीर्य कहा जाता है।

शास्त्र में वीर्य दो अर्थों में आता है—शक्ति रूप वीर्य तथा पारिभाषिक वीर्य। शक्तिरूपवीर्यवादियों का मत है कि संसार में सर्व कार्य शक्ति से ही होते हैं। अतः द्रव्यगत भूत प्रसादांश, जिस कार्यकारिणी शक्ति के द्वारा जीवित मानव शरीर के कर्म करे उस शक्ति को वीर्य कहते हैं। यह शक्ति चाहे द्रव्य स्वभाव रूप हो, विपाक रूप हो या उत्कृष्ट शक्ति सम्पन्न शीत उष्ण आदि गुण किसी भी रूप में हो।

परिभाषा रूप वीर्यवादियों का मत है कि द्रव्य स्वभाव, रस, गुण तथा विपाक का शास्त्र में स्वतन्त्र वर्णन तथा विचार किया गया है। अतः इनके अतिरिक्त उत्कृष्टशक्ति सम्पन्न और प्रभूत-विशेष कार्य करने वाले गुरु, लघु मृदु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों को वीर्य संज्ञा देना चाहिए।

परिभाषा रूप वीर्यवादियों में भी दो मत हो जाते हैं—प्रथम उपरोक्त गुरु, स्निग्ध, शीत मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, अष्टविध वीर्य हैं। दूसरे द्विविधवीर्य-वादियों के मतानुसार दो वीर्य हैं—शीत तथा उष्ण। इस मत के अनुसार जगत में सब द्रव्य पाँच भौतिक हैं। तथापि इनमें अग्नि तथा सोम बलवान होने से समस्त द्रव्यों पर प्रकाश पड़ता है। काल भी दो प्रकार के हैं आदान (आग्नेय) तथा विसर्ग (सौम्य)। अतः वीर्य भी शीत तथा उष्ण मानते हैं।

वीर्य प्रत्यक्ष तथा अनुमनाज्ञेय है। कर्मलक्षण वीर्य (वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते) धातुओं के सम्पर्क में आने पर और कुछ समय तक वास करने पर क्रियाशील हो जाता है। वीर्य का ज्ञान निपात के बाद तथा विपाक के पूर्व होता है।

विविध वीर्यों के कर्म इस प्रकार हैं—

उष्णवीर्य (कटु, अम्ल, लवण)	श्रम, तृष्णा, ग्लानि, स्वेद, दाह-पाक वातकफ शामक तथा पित्तवर्धक ।
शीत वीर्य (मधुर, तिक्त, कषाय)	आल्हादनं, जीवन, स्तम्भन, रक्तप्रसादन, पित्तशामक तथा वातकफवर्धक ।

प्रश्न—विपाक की विवेचना कीजिए। (१९६१, ६३, ६८, ७१)

उत्तर—मनुष्य जो भोजन करता है, उसका रस बनता है। वह रस अपने द्वारा जठराग्नि और पित्ताशय की गर्मी की सहायता से पुनः पाक होता है। इससे एक नवीन रस का निर्माण होता है। शास्त्रीय भाषा में द्रव्यों (आहारोषध) के पाचकाग्नि के संयोग से उत्पन्न रस का पुनः-पुनः रसान्तर होकर (धात्वग्नि में) जो परिपाक होता है, यही विपाक कहा जाता है।

आयुर्वेद में भुक्त पदार्थ के दो प्रकार के पाक माने जाते हैं—अवस्थापाक और निष्ठापक। खाते हुए अन्न को प्राण वायु ग्रहण करते हुए कोष्ठ में ले जाता है। यहाँ कोष्ठ में क्लेदक कफ के द्रव्य से उसका संघात नष्ट होता है, स्नेहांश से मृदु नरम होता है तदुपरान्त समान वायु से संक्षिप्त उसकी जठराग्नि (पाचक पित्तक) उसका पाक करती है। समस्त रसों के आहार के प्रथम पाक में उद्भुत रस से मलरूप कफ उत्पन्न होता है। पश्चात् आमाशय में पाक होते समय और आंत्रों में नीचे जाते समय विदग्ध अवस्था में अम्ल रस से पित्त, तदुपरान्त पक्वाशय में गये हुए जठराग्नि से शोष्यमाण व पक्व पिण्डीभाव को प्राप्त आहार से उद्भूत कटु रस से मलरूप वात की उत्पत्ति हो जाती है। रस अवस्था पाक में मुख-कण्ठ, आमाशय, ग्रहणी, आन्त्र इन स्थानों में स्थित बोधक कफ, क्लेदक कफ, समान वायु और जठराग्नि रूप पाचक पित्त के द्वारा भोजन का परिपाक होता है। इन अवस्थाओं से छहों रसों के आहार गुजरते हैं।

उक्त आमावस्था, पच्यमानावस्था, पक्वावस्था अर्थात् अवस्थापाक के अनन्तर अन्त में आद्य धातु रस में, जो रस विशेष की उत्पत्ति होती है, यही निष्ठापाक होता है। इस निष्ठापाक में रस व मल के विवेक (पृथक् होना),

के समय में उद्रेक, होने से जो भी मधुर रस उत्पन्न होता है तो इससे धातु रूप कफ की, रस निर्माण क्रिया के समान उद्भूत अम्ल रस से धातु रूप पित्त की और कटु रस से धातु रूप वायु की उत्पत्ति हो जाती है।

रसों का पाक होकर अन्तिम रस निर्माण को ही विपाक कहते हैं। इसमें ६ रसों का स्वाद प्राप्त नहीं होता। केवल मधुर कटु प्राप्त किये जाते हैं। सुश्रुत के मत से मधुर एवं कटु दो विपाक होते हैं (आगमे हि द्विविध एवं पाको, मधुरः कटुकञ्च)। आचार्य वाग्भट के अनुसार. कटु मधुर व अम्ल—तीन प्रकार के विपाक होते हैं (त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः) चरक, जतूकर्ण, पाराशर आचार्य भी इनका समर्थन करते हैं। प्रायः यह होता है कि कटु तिक्त कषाय रसों का विपाक कटु, अम्ल का अम्लविपाक और मधुर लवण का विपाक मधुर होता है।

आजकल व्यवहार में कटु, मधुर विपाक प्रचलित हैं। जिन द्रव्यों में पृथ्वी जल की गुरुता अधिक होगी उसका विपाक मधुर और जो द्रव्य अग्नि, वायु आकाश तत्त्व वाले उनका विपाक कटु होता है।

सुश्रुत मतानुयायी भदन्त नागार्जुन 'परिणामलक्षणो विपाक' द्वारा द्रव्यों से शरीर में होने वाला प्रभाव विपाक माना गया है। इस विपाक का प्रभाव सारे शरीर में होता है। यह कार्य अनुमानज्ञेय होता है। विपाक का बलाबल भी रस की शक्ति पर आधारित रहता है। कटु विपाक शुक्रघ्न, बद्धविट्, वातल, लघु, मधुर विपाक—मल सृष्टिकर, कफकर, शुक्रल एवं अम्ल विपाक—लघु पित्तकारक, शुक्र नाशक होते हैं। द्रव्य के विपाक में विपर्यास होने में द्रव्य का प्रमाण, संस्कार, सात्म्य, देश, अग्निबल, काल, संयोग और पाक—इन विशेषों से विपाक में विपरीत गुण-दर्शन हो जाता है।

प्रश्न—प्रभाव का परिचय दीजिए। (१९६१, ६८)

उत्तर—द्रव्यगत कार्यकारिणी शक्ति को वीर्य कहा जाता है। आगे चल कर यह शक्ति दो प्रकार की होती है। एक चिन्त्य शक्ति और द्वितीय अचिन्त्य कहलाती है। प्रथम प्रकार की शक्ति बतला ही चुके हैं कि जिसका द्रव्यों के पाँच भौतिक संगठन, रस, गुण या विपाक द्वारा कर्म के साथ कार्य कारण सम्बन्ध प्रदर्शित किया जा सके, वही शक्ति चिन्त्य होती है। इसे वीर्य कहा जाता है। अब यहाँ दूसरी अचिन्त्य शक्ति विचारणीय है। अचिन्त्य शक्ति वह

है जिसका द्रव्यों के पाँच भौतिक संगठन, गुण, रस विपाक से उसके कर्म के साथ कार्यकारण सम्बन्ध न दिखाया जा सके, उसको 'प्रभाव' कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में यों कहिए कि जिस द्रव्य में रस, वीर्य, विपाक सामान्य हो, परन्तु कर्म में विशेषता हो। अर्थात् रसादि की अपेक्षा भिन्न लक्षण स्पष्ट होते हों, तो इसका कारण ही प्रभाव होता है।

किसी द्रव्य के रस के अनुसार विपाक, वीर्य हो और कर्म भी उसके अनुकूल हो तो उसे स्वाभाविक कर्म कहा जाता है। किन्तु जब रस, वीर्य, विपाक के गुणकर्मों में तो तुल्यता हो, लेकिन उसके द्वारा सम्पादित होने वाला कर्म भी भिन्न हो और इस भिन्नता का कारण भी अज्ञात हो तो इस कर्म को प्रभावज कर्म की संज्ञा देते हैं। इसे उदाहरण से समझ लेना चाहिए। चित्रक रसमें कटु और वीर्य उष्ण होता है, इन्हीं के अनुसार इसके कार्य भी सम्पन्न होते हैं। इन सबके अनुसार दन्ती भी एक द्रव्य होता है, परन्तु विरेचक होने का गुण एक विशेष रूप से देखने में आता है, यही प्रभाव है। इसी प्रकार मुनक्का व मधुयष्टि का उदाहरण है। यह दोनों समान होने पर भी मुलैठी विरेचक नहीं है और मुनक्का विरेचन होते हैं। दूध व घी समान होने पर भी दूध दीपन नहीं है पर घी दीपन है।

विशेष अध्ययनार्थ द्रष्टव्य-लेखक द्वारा लिखित 'एवेल्युएटिव स्टडी ऑफ प्रभाव' (अंग्रेजी)।

प्रश्न—गुण पर प्रकाश डालिए। (१९६२, ६६)

उत्तर—जो द्रव्य में आधेय (आश्रित) रूप से रहता है और जो चेष्टा रहित या क्रिया रूप कर्म उससे भिन्न हो, निर्गुण हो, अपने समान गुण की उत्पत्ति में जो कारण भूत (समवायी कारण) हो, उसको गुण कहते हैं। तात्पर्यतः जो द्रव्य में आश्रय करके रहा (द्रव्याश्रयी) हो, गुण रहित हो, कर्म रहित हो जो गुणान्तर की उत्पत्ति में समवायी कारण हो, वही गुण होता है। गुण में स्वयं गुण नहीं होता। गुण को द्रव्य का समवायवान् समझना चाहिए। फिर भी समान गुण में कारण भूत होता है।

शास्त्रों में गुणों के विभिन्न प्रकार के वर्ग मिलते हैं। संक्षेपतः गुण-भेद के चार वर्ग किये जा सकते हैं। सब मिलाकर गुण ४१ होते हैं।

सार्था ५
गुर्वादयो २०
बुद्धि प्रयत्नान्ता: ६
परादय: १०

चिकित्सा की दृष्टि से 'परादय: तथा गुर्वादयो' गुण महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम परादि दस गुण—पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार, अभ्यास होते हैं। गुर्वादि बीस गुण हैं—गुरु, लघु, मृदु कठिन, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, शीत, उष्ण, स्थूल सूक्ष्म, स्निग्ध रूक्ष, विशद पिच्छल, खर, व श्लक्ष्ण, सान्द्र, द्रव।

ये गुण पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों में सामान्यतया रहते हैं, अतः इन १० गुणों को सामान्यगुण नाम भी दिया जाता है। उपरोक्त २० गुणों के १० गुण बनते हैं, ये एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, यथा शीत उष्ण।

गुरु गुण पार्थिव व आप्य है। शरीर अवसादक, पौष्टिक है। साथ ही यह बृंहण व चिरपाकी होता है। इनके विपरीत लघु गुण वायु आकाश, अग्नि की प्रधानता वाला, परमपथ्य, शीघ्रपाकी, रोपण, कृशताकारक, मलक्षय करने वाला होता है। जल प्रधान शीतगुण स्तम्भन मूर्च्छा-तृषा-स्वेद-दाहनाशक है। इसके विपरीत उष्णगुण आग्नेय है। यह शरीर को असुखकर, स्वेदादि उत्पन्न करने वाला। स्निग्धगुण आप्य है—स्नेह, मृदुता, बल, वर्ण उत्पन्न करता है। मन्द गुण मन्द गति से सक्रिय होता है। इसके विपरीत तीक्ष्ण गुण आग्नेय और दाह, पाक स्राव कारक है। स्थिर गुण धारण करने की शक्ति युक्त है। परन्तु सर वातमल की प्रवृत्ति कारक एवं प्रेरक है। आकाशीय व जलीय मृदु गुण दाह पाक, स्राव नाशक होता है। इसके विपरीत कठिन गुण पृथ्वी भूत प्रधान है और कठिन करने की शक्ति से युक्त है। जल प्रधान पिच्छिल गुण अस्थि संधानकर्ता, बलकारक है। अग्नि प्रधान श्लक्ष्ण गुण पिच्छिलवत् ही समझें। परन्तु वायु प्रधान कर्कश गुण लेखन करता है। सूक्ष्म गुण शरीरस्थ आदि सूक्ष्म स्रोतों को खोल देता है। परन्तु स्थूल गुण स्रोतों का अवरोध करता है। सान्द्र गुण शरीर का स्थूल कारक व पौष्टिक है। इसके विपरीत द्रव गुण आर्द्रता करने वाला एवं सर्वत्र व्याप्त हो जाने वाला है।

प्रश्न—विचित्र प्रत्यारब्ध लिखिए।

उत्तर—जिन द्रव्यों में द्रव्यारम्भक (द्रव्य को बनाने वाले) पंचमहाभूत

और रस, वीर्य विपाकारम्भक महाभूत इन दोनों का एक ही प्रकार के उत्कर्ष और अपकर्ष संगठन हुआ हो, उन दोनों द्रव्यों को समान प्रत्यारब्ध द्रव्य कहते हैं। समान प्रत्यारब्ध का तात्पर्य समान कारणों से बनने का समझना चाहिए। इसके लिए उदाहरण देखना चाहिए। दूध को लीजिए। दूध में इसके आरम्भिक महाभूत और रस, वीर्य, विपाकारम्भक महाभूत दोनों का सन्निवेश एक प्रकार का है। इसलिए दूध में रस, वीर्य, विपाक एक-दूसरे के अनुकूल ही होते हैं। अतः इस प्रकार के द्रव्यों के कर्म केवल रस से ही जाने जा सकते हैं।

परन्तु किन्हीं द्रव्यों में द्रव्यारम्भक महाभूत और रस, वीर्य विपाकारम्भक महाभूत इन दोनों का एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के उत्कर्षापकर्ष से संगठन हुआ हो तो उनको विचित्र प्रत्यारब्ध द्रव्य समझना चाहिए। तात्पर्यतः विचित्र प्रत्यारब्ध से भिन्न युक्त कारणों से बने होते हैं। ऐसे द्रव्यों में उनके रस, वीर्य विपाक भिन्नता युक्त होने से उनके कर्म भी भिन्न ही होते हैं। विचित्र प्रत्यारब्धकारी द्रव्यों के कर्म, रसोपदेश से न कहकर स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किए गए हैं। विचित्र प्रत्यारब्ध के उदाहरणों में जो मछली, सिंहमांस आते हैं। इन द्रव्यों के रस विपाक के अनुसार कर्म नहीं होते। गेहूं और जौ दोनों मधुर रस वाले व गुरु हैं, परन्तु गेहू समान प्रत्यारब्ध होने से अपने गुणों के अनुकूल कर्म वायु का शमन करता है और जौ विचित्र प्रत्यारब्ध होने से अपने गुणों से विपरीत वायु को बढाता है। मछली और दूध दोनों मधुर रस वाले हैं, परन्तु दूध समान प्रत्यारब्ध होने से अपने रस के अनुकूल शीत-वीर्य है। अतः दूध के कर्म अपने रस के अनुसार होते हैं और मछली विचित्र प्रत्यारब्ध होने से अपने रस के विपरीत उष्णवीर्य है। अत. उनके कर्म अपने रस से भिन्न प्रकार के होते हैं। सिंह और सूअर दोनों मधुर व गुरु है। परन्तु सूअर का मांस समान प्रत्यारब्धकारी होनेसे अपने रस के अनुकूल मधुर विपाक वाला है अतः उसके कर्म अपने रस तथा विपाक के अनुसार ही होते हैं, किन्तु सिंहके मांस का विपाक अपने रस से प्रतिकूल कटु है। अतः उसके कर्म रस के अनुकूल न होकर विपाक के अनुकूल होते हैं।

प्रश्न—द्रव्य रसादि की प्रधानता बताइये।

उत्तर—द्रव्य रस आदि की प्रधानता का प्रकरण महत्वपूर्ण विषय है। ये

उपादान विषय अपनी कुछ न कुछ विशेषता रखते हैं। द्रव्य की परिभाषा में लिखा जा चुका है कि रस आदि सब द्रव्य के आधीन है, अतः द्रव्य की प्रधानता सर्वप्रथम विचारणीय है।

कतिपय आचार्यों के मतानुसार द्रव्य प्रधान हैं, क्योंकि द्रव्य की परिस्थिति व्यवस्थित, स्थिर और दृढ़ होती है। जैसे मीठे जामुन, खट्टे जामुन होते हैं। परन्तु जामुन का नाम नहीं बदल सकता। इस प्रकार रस का मीठे, खट्टे आदि अवस्था परिवर्तनशील होती हैं। अगली बात यह है कि द्रव्य नित्य है और रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि अनित्य होते हैं। किसी भी एक द्रव्य के क्वाथ, फाण्ट, रस आदि अनेक विभाग किए जाते हैं। इससे इनके रस व विपाक आदि में भी अन्तर पड़ जाता है। परन्तु इतना होने पर भी उस द्रव्य में अन्तर नहीं आ जाता। ऋतुओं में द्रव्य की गुण शक्ति बदलती रहती है। इस पर भी द्रव्य अपरिवर्तनशील रहता है। द्रव्य में जाति दृढ़ता (स्थिरता) विद्यमान रहती है, जो वायव्य द्रव्य है, वह पार्थिव नहीं बन सकता। परन्तु रसादि की अवस्था भेद से जाति व्यवस्था बदल जाती है। यह बात स्पष्ट है कि द्रव्य आकार रखते हैं परन्तु रस, वीर्य, गुण, विपाक को न हम देख सकते हैं न हम पकड़ सकते हैं। यह भी पूर्व सिद्ध कर चुके हैं कि रस, वीर्य, गुण विपाक का द्रव्य आश्रय. केन्द्र या आधार द्रव्य होता है। समस्त क्रियाओं का आधार द्रव्य से ही किया है। पकाना, चूर्ण बनाना, छानना आदि कार्य द्रव्य के ही होते हैं, न कि रसादि किसी के। शास्त्रोंमें उल्लेख के समय के द्रव्य को ही प्रधानता दी गई है। रसादि गुणों के क्रम का द्रव्य के आधीन होना भी उल्लेखनीय है। यथा—द्रव्य की कोमलावस्था, अपक्व पक्व अवस्थाओं में रस, गुण आदि की भिन्नता। द्रव्य विभाजनशील है, जबकि रस, गुण आदि का विभक्तिकरण असम्भाव्य होता है। जहाँ द्रव्य होगा वहां वे अन्य विषय पहुंच सकेंगे। इन सब कारणों से द्रव्य प्रधान होता है।

रस—इतना सब होते हुएभी, रस का महत्व कम नहीं। द्रव्य कुछ कार्य रसके द्वारा करता है। उदाहरणार्थ—मधु अपने कषाय रस से पित्त का शमन करता है। कुछ कर्म वीर्य से करता है, जैसे कषाय व तिक्त रस युक्त बृहत्पंच मूल अपने उष्णवीर्य द्वारा वायु का तो शमन कर देता है परन्तु पित्त का शमन नहीं करता। आहार रसों के ही आधीन है। आहार रस के आधीन प्राण है।

आप्तोपदेश द्वारा भी रसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है, जैसे मधुर, अम्ल, लवण, वायु का नाश करते हैं। अनुमान से भी रस की श्रेष्ठता सिद्ध है। किसी पदार्थ की पहचान रस के द्वारा होती है। वेदों के यज्ञ की सामग्री के उल्लेख करते समय कहते हैं—यज्ञ के लिए मीठा लाओ। इस प्रकार ऋषि वचनों में भी रसों की श्रेष्ठता है। अनेक द्रव्य अपने रस, वीर्य, विपाक प्रभाव से पृथक् कार्य करते हैं इस तरह रस की श्रेष्ठता है।

वीर्य—किन्हीं आचार्यों के अनुसार वीर्य प्रधान मानना चाहिए। औषधि की कर्मशक्ति वीर्य पर आधारित है। रसायन, वाजीकरण, अधोगामी, ऊर्ध्व-गामी आदि कार्य करने की शक्ति वीर्य प्राधान्य से ही प्राप्त होती है। कार्य करने में वीर्य रस को पीछे छोड़कर अग्रणी हो कार्य करता है। जो रस वायु को शांत करने वाले हैं, यदि उनमे रूक्षता-लघुता गुण व शीतवीर्यता हो तो वे वायु को शान्त नहीं कर सकते। इस तरह की अनेक बातों के अनुसार वीर्य की प्रधानता प्रतीत होती है।

विपाक—कुछ विद्वान् विपाक को प्रधान मानते हैं। क्योंकि द्रव्य के रस या गुण सुविपाक हुए बिना फल सम्मुख नही आ सकता। चाहे वह द्रव्य कितने ही उत्तम रसादि सम्पन्न भले ही हो। रस की अपेक्षा विपाक की शक्ति और प्रधानता अधिक है।

प्रभाव

प्रभाव चिन्त्य शक्ति के ऊपर, अचिन्त्य शक्ति से अधिकार जमाता है। पाश्चात्य विद्वान् भी चिन्त्य (मीमांस्य) और अचिन्त्य (अमीमांस्य) दो भेद करते है। प्रभाव से अनेक गुण सम्पन्न हो जाते हैं। विचित्र कर्म द्वारा पर्याप्त लाभान्वित कर सकता है। जिसकी मीमांसा न हो सके उसकी प्रधानता स्वयं सिद्ध है।

समन्वय

यद्यपि रस, वीर्य, विपाक, गुण, प्रभाव, सभी विषय प्रधान होने के कारण अपने-अपने विषय मे अलग-अलग स्वयं अपनी-अपनी विशेषता व श्रेष्ठता युक्त होते हैं और द्रव्य कुछ कार्य रस के द्वारा, कुछ कार्य वीर्य से, कुछ विपाक से व कुछ कार्य गुण द्वारा करता है, साथ ही द्रव्य व रस का जन्म एक दूसरे के सहारे होने से रस के बिना द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती। धन्वन्तरि

का वचन है कि विपाक अपने कार्य में प्रधान होने पर भी विना वीर्य के विपाक नहीं हो सकता, रस के विना वीर्य सिद्धि नहीं हो सकती, रस भी विना द्रव्य के कहाँ आश्रय करेगा इस प्रकार द्रव्य प्रधान है।

प्रश्न—प्रमुख कर्मों पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—द्रव्यों का शरीर पर प्रयोग, उसे आचार्य नागार्जुन के शब्दों में कर्म कहते हैं। तात्पर्यतः द्रव्यगुण विज्ञान में 'कर्म' शब्द का प्रयोग शरीर पर होने वाली द्रव्यों की वमन विरेचन आदि क्रिया, इस अर्थ में होता है। (कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि)। वमन आदि से बृंहणादि अनेक कर्मों का समावेश करना चाहिए। यही कर्म का अर्थ है। अब प्रमुख कर्म-परिभाषाओं का परिचय लिखा जायेगा।

प्रमुख कर्म

लेखन—जो द्रव्य शरीर के रसादि धातुओं और मलों को सुखाकर शरीर को पतला कर देता है, उसे लेखन कहते हैं, जैसे—शहद, गरम जल, जौ।

तृप्तिघ्न—भोजन से अरुचि होने को नष्ट करने वाले पदार्थ तृप्तिघ्न कहलाते हैं। तृप्ति कफ का रोग है। उदाहरणार्थ—सोंठ, चित्रक।

दीपन व पाचन—जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले द्रव्य को दीपन कहते हैं। यह द्रव्य आम (अपरिपक्व रस) का पाचन नहीं करता; परन्तु जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। उदाहरणार्थ—सोंफ, त्रिकटु। पाचन द्रव्य उसे कहते हैं जो कि अपक्व अन्न रस को और मल को पकावे, परन्तु जठराग्नि को तो प्रदीप्त न करे, वह द्रव्य पाचन कहलाता है। उदाहरणार्थ—नागकेशर। कुछ द्रव्य दीपन भी होते हैं और पाचन भी। जैसे—चित्रक।

वाजीकरण—जिस द्रव्यके सेवन से स्त्री के विषय में (पुरुष तथा स्त्री दोनों को) अधिक हर्ष उत्पन्न हो वही पुरुष अश्व (घोड़े) से बराबरी करता हुआ विना रुकावट के संभोग करे वह वाजीकरण है। जैसे—कौंच, जायफल, शतावरी, अश्वगंधा। इस वाजीकरण के शुक्रजनन, कामोत्तेजन और शुक्रस्तम्भन तीन भेद भी माने जाते हैं। इस प्रकार वाजीकरण शब्द के अन्तर्गत वीर्य का बढ़ाना, काम की उत्तेजना अधिक उत्पन्न करना और शुक्र का दीर्घ काल तक स्थिर रखना आ जाता है।

ग्राही व स्तम्भन—रूक्षता, कषायता एवं शीत गुण के कारण आन्त्रों के

अभिष्यन्दि—ऐसे द्रव्य अपनी पिच्छिलता तथा गुरुता (भारीपन) के कारण रसवहा सिराओं को रुद्ध करके गौरव उत्पन्न करते हैं। इसका उत्तम उदाहरण दही है।

उत्सादन—शुष्क, अल्प मांस वाले तथा गहरे व्रणों में मांस की वृद्धि करके जो द्रव्य उन्हें ऊँचा लाते है या समलत कर देते हैं, उन्हें उत्सादन कहते हैं।

योगवाही—जो द्रव्य अन्य किसी द्रव्य के साथ पचता हुआ, उसी अपने संसर्गी द्रव्य के सम्पूर्ण गुण को ग्रहण करता है, उसे योगवाही द्रव्य समझना चाहिए। उदाहरण—मधु, जल, तेल, घी, पारद, लोहा।

संशोधन—जो द्रव्य संचित हुए मल को उसके रहने के स्थान से ऊपर की ओर अथवा नीचे की ओर बलपूर्वक ले जावे और बाहर निकाल देवे, ऐसे द्रव्य को संशोधन समझना चाहिए। जैसे—देवदाली का फल।

मार्दवकर—मार्दवकर-कर्म युक्त द्रव्य जहाँ लगाये जाते हैं, उसी भाग में मृदुता लाते हैं। वायु से उस स्थान की रक्षा कर, लाभान्वित करते हैं। मार्दवकर द्रव्यों के उदाहरण में तेल, चर्बी, निशास्ता हैं।

रूक्षण—जो द्रव्य शरीर में रूक्षता, खरता और विशदता (अपिच्छिलता) को उत्पन्न करे, उसे रूक्षण द्रव्य कहा जाता है। यव, लोभिया उदाहरण हैं।

लंघन—जो द्रव्य शरीर में हल्कापन लाते हैं, वे लंघन कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य प्रायः लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विशद, खर, सर और कठिन होते हैं। चरक ने लंघन कराने वाले ६ प्रकार के वमन, विरेचनादि को माना है। लंघन द्रव्य अग्नि, वायु, आकाश की अधिकता वाले होते हैं।

प्रश्न—निम्नांकित कर्मों पर टिप्पणी उदाहरण सहित लिखिए।

उत्तर—सन्धानीय

भग्न अस्थि आदि के संयोग के लिए उपयोगी द्रव्य को सन्धानीय कहते है। स्थानीय द्रव्य शरीर में टूटी हुई अस्थि, अलग हुई अस्थि,रक्तवाहिनी आदि को जोड़ते हैं। मुलहठी, अस्थिसंहारी, न्यग्रोधादि गण तथा अम्बष्ठादि गण सन्धानीय द्रव्य के उदाहरण हैं।

जीवनीय

जो द्रव्य जीवन के लिए हितकारी हो, उसको जीवनीय कहते है। आयु को स्थिर रखना जीवनीय है। 'आयुष्यो जीवनीयः' शास्त्र में कहा गया

है इस प्रकार का द्रव्य पृथ्वी तथा जल के गुणों की अधिकता युक्त होता है। जीवक, ऋषभक आदि अष्टवर्ग गण के द्रव्य जीवनीय हैं।

वृंहण

जो शरीर में मोटापन (पुष्टि) करते हैं, उसे वृंहण द्रव्य कहते हैं। वृंहण द्रव्य पृथ्वी तथा जल के गुणों की अधिकता युक्त होता है। जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, पिच्छिल, मन्द, स्थिर होगा वह प्रायः वृंहण होता है। असगन्ध, काकोली, विदारीकन्द द्रव्य वृंहण के उदाहरण है।

भेदन

शरीर से मल तथा दोषों को निर्हरण करने वाले द्रव्यों को भेदन या भेदनीय कहते हैं। भेदन द्रव्य शरीर में पिण्डित (जमे हुए) मलों को पतले (द्रव) करके बाहर निकाल देता है। यह सामान्य रूप से शरीर के सब स्रोतों में जमे हुए कफादि दोष तथा विशेषता, आँतों में जमे हुए सूखे मल को बाहर निकालता है। निशोथ तथा एरण्ड भेदन द्रव्य हैं।

मदकारि

यदि कोई द्रव्य तमोगुण प्रधान (कुछ राजस गुण वाला भी) होने से बुद्धि का नाश करके मद (नशा) उत्पन्न करता है, तो उसे मदकारी वा मादक कहते हैं। मादक द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यावायि, आशुकारि, रूक्ष, विकाशि तथा विशद-रस गुणों से युक्त होता है। अनेक प्रकार के सुरा आदि इसी वर्ग के हैं।

विम्लापन पाचन

जो द्रव्य व्रणशोथ की प्रारम्भिक अवस्था में ही प्रलेप के रूप में प्रयुक्त होने पर व्रणशोथ का पाक किए बिना ही बैठा देते हैं, उनको विम्लापन कहते हैं। पकने को उद्यत व्रण शोथ को शीघ्र पकाने वाले द्रव्य को पाचन कहते है। अलसी, तिल, सरसों, प्रभृति द्रव्यों को पुल्टिस के रूप में इस कर्म के कारण उपयोग करते है।

प्रश्न—निम्नांकित कर्मों को करने वाले द्रव्यों के नाम लिखिए।

उत्तर—बल्य (शक्तिवर्धक)—विदारीकन्द, असगन्ध

वर्ण्य (शरीर का रंग ठीक करने वाले) मजीठ

कण्ठ्य (स्वर ठीक करने वाले) मुलेठी, कुलिन्जन

हृद्य (हृदय के लिए हितकर)—अर्जुन, अनार, हृत्पत्री
तृप्तिघ्न (अरुचि नष्टकर्त्ता)—सोंठ, नागरमोथा, चित्रक
स्तन्यजनन (दूध बढ़ाने वाले)—शतावरी, चावल, कन्दशाक
स्तन्यशोधन (दूध शुद्ध करने वाले)—सोंठ, पाठा
शुक्रशोधन (दूषित वीर्य की शुद्धि कर्त्ता)—कूठ, कायफल
छर्दिनिग्रहण (वमन रोकने वाले)—जामुन, आम की कोंपल
तृष्णानिग्रहण (प्यास रोकने वाले)—चन्दन, धनिया
पुरीषसंग्रहणीय (द्रव मल को बाँधने वाला)—धातकी, मोचरस
मूत्रसंहणीय (अधिक मूत्र को रोकने वाले)—जामुन, आम
शोणितास्थापन (रक्त विकृत दूर करने वाले)—सोंठ, मोचरस
वेदनास्थापन (पीड़ा नष्ट करने वाले)—शाल, पद्माक, कायफल
प्रजास्थापन (गर्भ धारण करने वाले)—ब्राह्मी, दूर्वा।
चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकर)—त्रिफला, घी
केश्य (बालों के लिए हितकर)—भृंगराज, आँवला
मेध्य (मस्तिष्क के लिए हितकर)—ब्राह्मी, शंखपुष्पी

पंचकर्म सम्बन्धी कर्म

स्नेहोपग (स्नेहन द्रव्यों के साथ प्रयुक्त)—मुनक्का, मुलेठी
स्वेदोपग (स्वेदक द्रव्यों के साथ प्रयुक्त)—संहिजना, एरण्ड
वमनोपग (वमन द्रव्यों के साथ प्रयुक्त)—शहद, सैन्धव
विरेचनोपग (विरेचन द्रव्यों के साथ प्रयुक्त)—मुनक्का, उन्नाव
आस्थापनोपग (आस्थापन वस्ति के द्रव्यों के साथ प्रयुक्त) निशोथ, बेल, सर्षप, वच
अनुवासनोपग (अनुवासन वस्ति के द्रव्यों के साथ प्रयुक्त)—रास्ना, देवदार, बेल सोंफ
शिरोविरेचनोपग (शिरोविरेचन के प्रधान द्रव्यों के साथ प्रयुक्त) मालकांगनी, नकछिकनी, कालीमिर्च

इन 'उपग' संयुक्त कर्मों में प्रयोग किए जाने वाले द्रव्यों से उन कर्मों की शक्ति बढ़ जाती है। ये सहायक द्रव्य प्रधान द्रव्यों के साथ उपयोग में लाए जाते हैं।

से कतिपय माध्यमों का व्यवहार किया जाता है, जिनमें ब्रह्मचर्य तथा संयम प्रभृति मानसिक उपाय करने होते हैं—

१. अष्टमैथुनों का परित्याग
२. वीर्य रक्षा
३. संयम—कर्म तथा वाणी का संयम
४. सदाचार का अनुकरण
५. मानसिक संतुलन—काम, क्रोध, मद, लोभ पर अनुशासन
६. मानसिक शक्ति में वृद्धि

शरीर को विश्राम देना ऐसा आवश्यक उपाय है, जिसके द्वारा स्वास्थ्य की रक्षा तथा कई व्याधियों की चिकित्सा भी सफलतापूर्वक की जा सकती है। विश्राम की विविध रीतियों का आवश्यकतानुसार उपयोग किया जाता है तथा हठयोग के अंतर्गत यौगिक शिथिलीकर (श्वासन द्वारा) सम्पादित होता है। आकाश के प्रसंग में उपवास से सम्पन्न चिकित्सा (fasting therapy) पद्धति महत्त्वपूर्ण है। और इस क्रम में उपवास के कतिपय प्रकारों का अनुकरण किया है—.

१. प्रातःकालिकोपवास
२. सायंकालिकोपवास
३. एकाहारोपवास
४. रसोपवास
५. फलोपवास
६. दुग्धोपवास
७. मठोपवास
८. पूर्णोपवास
९. साप्ताहिकोपवास
१०. लघुपवास
११. कठिन तथा दीर्घोपवास

इनके साथ कई ऐसे मानसिक उपाय हैं, जिनसे जीवन को स्वस्थ बनाने तथा आवश्यकता के समय रोगों के उपचार में सहायता भी मिली है। इस प्रकार के मानसिक साधन हैं—

१. प्रसन्नता का यथाशक्य अनुकरण
२. उत्साहजनक वातावरण में निवास
३. चारों ओर आशा का अवलोकन करना
४. हास्य, मनोविनोद, व्यंग्य का नियमित प्रयोग
५. स्वस्थ मनोरंजन का प्रबंध
६. निद्रा—उचित निद्रा का सम्पूर्ण नियमों सहित सेवन
७. अधिक स्वप्नों बचाव

(६) महत्त्व

यह महत्त्व अर्थात् सर्वशक्तिमान ईश्वर सभी पाँच तत्त्वों में सर्वोपरि माना गया है। प्राकृतिक चिकित्सा में महत्तत्त्व का प्रयोग विशेष प्रतिष्ठित है। धर्मशास्त्र में ईश्वरोपासना का महत्त्व स्वाभाविक है तथा प्रासंगिक भी परन्तु चिकित्सा के क्षेत्र, इसका प्रयोग नैसर्गिक उपचार मे अत्यंत सहज लगता है। कतिपय दुःसाध्य रोगों के निवारणार्थ भगवन्नाम का जाप निर्देश किया गया है। और इस कारण रोगों की पृथ्वी आदि तत्त्वों से चिकित्सा करते समय ईश्वर आराधना से सहायता मिलती है अथवा स्वतन्त्ररूप से जप या नामकरण से आरोग्य प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार प्रार्थना द्वारा रोग निराकण की जो महिमा है उसका व्यावहारिक उपयोग पर्याप्त रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस क्रम में कतिपय पालनीय कर्तव्य होते हैं—

१. प्रभुप्रेम
२. प्रभु गुणगान
३. हरिनाम चिंतन
४. आत्म समर्पण
५. स्वत्व
६. ध्यान
७. विशुद्ध हृदय
८. शांत वातावरण
९. मौन धारण
१०. अनासक्ति

प्रश्न—दोष और धातु क्या हैं ? दोष ही धातु हैं या नहीं ? सप्तधातुओं का उल्लेख करते हुए इनके गुणों को भी दर्शाइये। (१९७४)

उत्तर—शरीर का मूल ही दोष-धातु-मल है ऐसा वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। शरीर की वृद्धि, क्षय, रोगग्रस्तता अथवा आरोग्यता सभी दोष-धातु इत्यादि पर ही निर्भर करता है। जब यह शरीर में सम-अवस्था में रहते हैं, और अपना-अपना स्वाभाविक कर्म करते रहे तो स्वास्थ्य ठीक रहता है।

अपथ्य के कारण इनमें विषमता आ जाये तो इनके द्वारा शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

शरीर में दोष-धातु की एक रूढ़ि परम्परा है अर्थात् शरीर को चलाये रखने में दोष अर्थात् वात-पित्त-कफ और धातु रस-रक्त आदि का सम्बन्ध इस रूढ़ि परम्परा में आ जाता है। जिस प्रकार अगर यह सम अवस्था में शरीर में कार्य करते रहे तो धातु धारक पुरुष स्वस्थ्य रहता है अगर किसी भी कारण से इनके कार्य में अस्वस्थ्या आ जाये तो वे दोष कहलाने लगते हैं। इस प्रकार इनका सम्बन्ध एक रूढ़ि परम्परा है। दोष अर्थात् वात-पित्त-कफ विकृत होकर धातुओं को दूषित करते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। अतः 'वात-पित्त-कफ' को दोष और रसादि धातुओं को दूष्य कहा जाता है, क्योंकि जो दूषित करते हैं वे दोष कहलाते हैं और जो दूषित होते हैं उन्हें 'दूष्य' कहते हैं।

वात-पित्त-कफ शरीर को प्रत्येक समय दूषित करते रहे, ऐसी बात नहीं है, जब ये रोग उत्पत्ति में कारण हो तब हम इन्हें दोष कहेंगे। ऐसा वर्णित है कि वात-पित्त-कफ शरीर के उत्पादक हेतु हैं, ये शरीर को धारण करते हैं और उपकार करते हैं अतः इन्हें धातु कहा जाना चाहिये और वास्तव उस अवस्था में ये धातु कहलाते भी हैं, अतः स्वास्थ्य के तीन उपस्तम्भ वात-पित्त-कफ बताये गये हैं।

साररूप में हम कह सकते हैं कि वात-पित्त-कफ जब शरीर को दूषित करते हैं तब दोष कहलाते हैं। जब शरीर को धारण करते हैं तब धातु कहलाते हैं। जब शरीर को मालिन करने लगते हैं तब मल कहा जाता है। यौगिक अर्थ में चाहे यह दोष-धातु-मल कहे जायें तो भी रूढ़ि परम्परा अर्थ में वात-पित्त-कफ को दोष ही कहा जाता है, और व्यवहार में वातादि को दोष, रसादि को धातु, मूत्रादि को मल कहा जाता है।

धातु वे कहलाते हैं जो शरीर को धारण करते हैं। ये सात हैं।

(१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मेद (५) अस्थि (६) मज्जा और शुक्र।

इन सात को दूष्य भी कहा जाता है क्योंकि यह वातादि द्वारा दूषित होती है। जैसाकि पहले भी लिख आए हैं कि वातादि जब शरीर को धारण करते हैं तब उनको धातु कहा जाता है। किन्तु अधिकृत रूप से धातु कहने

से रसादि का ग्रहण करना चाहिए—ये ही प्रधानतः शरीर का धारण एवं पोषण करते हैं।

इन धातुओं का पोषण अन्नरस से होता है। जो भी अन्न (आहार) ग्रहण किया जाता है उसका अवस्थापाक होता है, फिर जठराग्नि की क्रिया द्वारा विपाक होता है। विपाक के पश्चात् मुख्य रूप से दो भाग हो जाते हैं—मल भाग जो कि शरीर से बाहर निकल जाता है और प्रसाद भाग जो अन्न रस कहलाता है—यह सब शरीर व्यापी व्यान वायु द्वारा प्रेरणा पाकर शरीर में सर्वत्र पहुंचकर स्थायी रस-रक्त आदि धातुओं की पुष्टि करता है।

अन्न रस से धातुओं का पोषण होता है। जो आहार हम खाते हैं उस पर जठराग्नि की क्रिया होने पर दो भाग होते हैं—एक प्रसादांश और दूसरा किट्टांश। इसी प्रकार धातुओं की भी अग्नि होती है। इनको धात्वग्नि कहा जाता है। प्रत्येक धातु की अपनी धात्वग्नि है। वह धात्वग्नि उस धातु को दो भागों में विभक्त करने में सहायक होती है—प्रसादभाग और मलभाग। इसमें प्रसादांश से उत्तर (अगली) धातु का पोषण होता है और मल से उस धातु के मल का पोषण होता है। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक धातु की उपधातु होती हैं और प्रत्येक का अपना मल होता है—उसकी व्याख्या हम आगे करेंगे। प्रसादांश से उत्तर धातु का पोषण तो होता ही है साथ ही साथ उपधातु का भी पोषण होता है।

अन्न रस से धातुओं और मलों की क्रमोत्पत्ति प्रायः सभी आचार्यों को मान्य है। प्रायः कहने की आवश्यकता इसलिए हुई कि एक मत ऐसा भी है जो मानता है कि एक ही काल में एक साथ ही सब धातुओं का पोषण होता है। परन्तु इस मत के मानने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही, अतः क्रमोत्पत्ति को ही स्वीकार किया गया। इस क्रमोत्पत्ति में रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र की पुष्टि होती है और गर्भ का पोषण होता है।

इस प्रकार धातुओं की क्रमोत्पत्ति को स्वीकार करते हुए भी उसके विस्तार के विषय में आचार्यों में मतभेद हैं इस विषय में प्रायः तीन मत हैं—

(क) क्रमपरिणाम पक्ष अथवा क्षीरदधिन्याय।

(ख) केदारीकुल्यान्याय।

(ग) खलेकपोतन्याय।

प्रसंगवश यहाँ पर इन तीनों मतों के विषय में विचार करना आवश्यक है। अतः नाति विस्तृत संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रमपरिणाम पक्ष या क्षीरदधिन्याय के अनुसार अन्नरस सर्वप्रथम रस नामक प्रथम धातु में परिणत हो जाता है और वही रस धातु सर्वात्मना रक्त बन जाता है—फिर सारे रक्त का मांस बन जाता है। इसी प्रकार मांस सर्वात्मना मेद बन जाता है। मेद से अस्थि-मज्जा और शुक्र बन जाता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातु अपनी-अपनी अग्नि से पक्व हो उत्तर-उत्तर धातु के रूप में सर्वात्मना परिणत हो जाती है। इस पक्ष को क्रम-परिणाम-पक्ष, अथवा क्षीरदधिन्याय कहा जाता है।

इसका आधार चरकसंहिता का चिकित्सा स्थान का पन्द्रहवां अध्याय है। उसमें अग्निवेश के प्रश्न एवं आचार्य पुनर्वसु के उत्तर के रूप में इस विषय को स्पष्ट किया गया है—यह वर्णन विलक्षण है। परन्तु प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यह प्रसंग प्रक्षिप्त हैं, कारण यह कि चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या नहीं की है। वैसे यह पक्ष तर्कसह भी नहीं है। यदि रस धातु पूर्णरूप से रक्त धातु में परिणत हो जाती है तो तीन-चार दिन अनशन करने पर सारे शरीर में रस नामक धातु नहीं रहनी चाहिए। इसी प्रकार एक मास तक अनशन करने से शुक्र तक के सभी धातुओं का नाश हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं गया है। अतः वह पक्ष सिद्ध नहीं।

चक्रपाणि ने इस विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए क्षीरदधिन्याय को असंगत बताया है और शेष दोनों पक्षों को महाजनों द्वारा आदर कर केदारीकुल्यान्याय के प्रति अपना पक्ष प्रदर्शित किया है। दूसरा पक्ष है—केदारीकुल्यान्याय इनमें कहा गया है कि जैसे खेत में जल छोड़ दिया जाए तो वह सम्पूर्ण प्रथम समीपतम क्यारी में जाता है। उसको जितने जल की आवश्यकता होती है, उतना देकर उसे तृप्त करता है। पश्चात् उस जल का शेषांश कुल्या द्वारा अगली क्यारी में जाता रहता है और क्रम से शेष-शेष अंश से उत्तर-उत्तर क्यारी को सींचता है। ठीक यही स्थिति रस द्वारा धातुओं के पोषण की है। इस मत के अनुसार रस ही साक्षात् [illegible] प्रत्येक धातु के आशय में जाकर उसे पोषक सामग्री देकर उसे पुष्ट [illegible]

है। यथा, प्रथम रस धातु के आशय में जाता है। एक स्थान के संसर्गवश वह रक्त के सदृश गन्ध वर्ण तथा उसकी संज्ञा प्राप्त करता है। तथा रक्त के पोषण के अनुरूप सामग्री, जो सब धातुओं को प्रेपक सामग्री का एक अंश होती है, रक्त को देकर उसे पुष्ट करता है। अनन्तर रक्त सदृश एवं रक्त संज्ञा को प्राप्त रस मांस धातु के अधिष्ठान में जो मांस के पोषण के अनुरूप एकांश से उसे पुष्ट करता है, उसका सादृश्य तथा उसका अभिधान ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातु के आशय में जा, अपने एकांश से उस-उस धातु की पुष्टि कर, उस-धातु के सम्पर्क वश उसके सदृश्य हुआ रस ही शेपांश से उत्तर-उत्तर धातु की पुष्टि करता जाता है।

चक्रपाणि का कथन है कि 'रसाद् रक्तम्......' आदि वचनों द्वारा चरक और 'स खल्वाप्यो रस......' द्वारा सुश्रुत उक्त मत का ही समर्थन करता है।

तीसरा मत खलेकतोतन्याय है। इसके अनुसार अन्न रस रसादि विभिन्न धातुओं के आशय में जो अन्न रस के रूप में पोषक तर्पक सामग्री पहुँचाता है। स्वभावतः धातुओं की दूरी भिन्न-भिन्न होने से उनके मार्गों की लम्बाई भी तदनुसार भिन्न होती है। अतः जो धातु जितना दूर होगा या जिस धातु का मार्ग जितना दूर होगा, उस धातु तक अन्न रस को पहुंचने में उतना ही अधिक समय लगेगा। रस रक्तादि धातुओं की दूरी उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। इसके अतिरिक्त उनके स्रोत भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं अर्थात् रस के पोषक स्रोत रक्त के पोषक स्रोतों से अपेक्षाकृत सूक्ष्म होते हैं, इस कारण भी पूर्व धातु की अपेक्षा उत्तर धातु में अन्नरस पहुंचने में काल अधिक लगता है अतः अन्न से सर्वप्रथम रस का, फिर रक्त का और फिर उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण होता है। इस पक्ष में विशेषता यह है कि अन्न रस ही साक्षात् सब धातुओं की पुष्टि करता है। एक धातु के पोषण रस का अन्य धातु के पोषक रस के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता।

इसको स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि किसी खलिहान में दाना चुगने के लिए एकत्र हुए कबूतर जब तृप्त हो चुकते हैं और अपने-अपने आवास को जाने के लिए उड़ते है तो जिसका स्थान जितना दूर होता है, उसको अपने आवास में पहुँचने में उतना अधिक समय लगता है। यही स्थिति इस पक्ष के अनुसार धातुओं के पोषण की है। इस उपमा के अनुसार ही इसका

नाम 'खलेकपोतन्याय' रखा गया है।

आधुनिक मत के अनुसार देखें तो यह स्थिति नहीं मिलती। मनुष्यों के हृदय से एक ही प्रधान धमनी निकलती है और वह ही आगे चलती हुई शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होती जाती है और भिन्न-भिन्न अवयवों में जाती है। हाँ, कुछ प्रारम्भिक प्राणियों में यह स्थिति अवश्य देखी जाती है कि महास्रोत से ही सीधे पृथक् पृथक् स्रोत पृथक्-पृथक् अवयवों को जाते जैसे आर्थोपोड़ियों (Arthopodia) क्रस्टेशी (Crustacea) आदि। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में इन प्राणियों के विषय में ही खलेकपोतन्याय की व्याख्या की होगी जो कालवश मनुष्यों के प्रसंग में प्रक्षिप्त रूप में बता दी गई हो।

इस प्रकार चक्रपाणि द्वारा समर्थित केदारीकुल्यान्याय ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

यहाँ पर पोषण के विषय में जो सिद्धान्त लिखे हैं वह साधारण नियम हैं। वृष्य, वाजीकरण, आशुकारी, भेदन, विषघ्न आदि द्रव्यों की क्रिया इस प्रकार नहीं होती। वह क्रम को भंग कर अपनी क्रिया करते हैं।

ऊपर सात धातुएँ बताई गई हैं—उन सबके दो अंशों का वर्णन पीछे कर चुके हैं—प्रसाद से उत्तर धातु का पोषण करते हैं और अपनी-अपनी उपधातु का पोषण करते हैं। प्रत्येक धातु की उपधातु निम्न प्रकार से हैं।

	धातु	उपधातु
१.	रस	स्तन्य
२.	रक्त	रज
३.	मांस	वसा
४.	मेद	प्रस्वेद
५.	अस्थि	दन्त
६.	मज्जा	केश
७.	शुक्र	ओज

जैसाकि पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि धातु शरीर को धारण करती है और आगामी धातु का पोषण करती है परन्तु उपधातु केवल शरीर के धारण में सहयोगी हैं—इसीलिए इसको उपधातु कहा जाता है।

—:०:—

छात्रोपयोगी आवश्यक निर्देश

'द्रव्यगुण विज्ञान और रसतन्त्रोक्त द्रव्य विज्ञान नामक विषय इस परीक्षा के द्वितीय पत्र में रखा गया है। सारी ही चिकित्सा का कारण 'द्रव्य' है और उसी का ज्ञान कराने के लिए यह निर्धारित किया गया है। 'विना निघंटु के जाने वैद्य नहीं बन सकता' इस कहावत को सदा याद रखते हुए इस विषय की ओर विशेष अभिरुचि रख मनन करना चाहिए।

'द्रव्यगुण विज्ञान' एक वृहत विज्ञान है। इसमें सभी औषध-आहार द्रव्यों का समावेश होता है। संसार के असंख्य द्रव्य इसके प्रतिप्राद्य विषय हैं—ऐसी स्थिति में छात्र के लिए एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह कितना पढ़े और कहाँ से पढ़े। ऐसी स्थिति में यही ध्यान रखना चाहिए कि परीक्षा की दृष्टि से पहले उन विषयों को भली प्रकार तैयार करे जो विषय पाठ्यक्रम में निर्धारित किए हुए हैं। अतः इन विषयों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(क) द्रव्यगुण—पदार्थ और द्रव्य की व्याख्या, द्रव्य की बनावट, द्रव्य के अवयव, द्रव्यों के गुण, द्रव्यगत रसों का वर्णन, द्रव्यों के वीर्य का वर्णन, द्रव्यगत रसों का विपाक, द्रव्यगत प्रभाव की विशेषता, विचित्र प्रत्ययारब्धकारी पदार्थ आदि।

(ख) द्रव द्रव्यों का वर्णन—जल वर्ग, दुग्धवर्ग, घृतवर्ग, तैलवर्ग, मधुवर्ग इक्षुवर्ग, मद्यवर्ग आदि का वर्णन, उनके गुणावगुण का विवरण और उपभोग।

(ग) आहारीय द्रव्यों का वर्णन—शूकधान्यवर्ग, शमीधान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, पुष्पवर्ग, कंदवर्ग, फलवर्ग, लवणवर्ग, कृतान्नवर्ग, आहारोपयोगी द्रव्यो के विवरण और उनके गुणावगुण आदि का विवरण—

(घ) औद्भिद् वर्ग—सुगन्धवर्ग—जान्तववर्ग, पार्थिववर्ग (रसतन्त्रोक्त रस, उपरस, रत्न, उपरत्न, धातु, उपधातु आदि की पहचान, भेद, उत्पत्ति और गुणावगुण सहित) तथा विषोपविष का वर्णन और शोधन।

(ङ) प्राणिज वर्ग की औषधियाँ—विविध प्राणियों की अस्थियों का औषधोपयोग, चूहे की लेंड़ी, कबूतर की बीट, मुर्गे की बीट, गधे की लीद, घोड़े

की लीद, ऊँट की लेंड़ी, बकरी की लेंड़ी का औषधोपयोग। गाय-भैंस-बकरी-भेड़ और स्त्री के दूध तथा दही मट्ठा, मक्खन, घृत का औषधोपयोग, हाथी दांत तथा बकरे के दांत का औषधोपयोग। घोड़े के बाल, शेर के बाल, भेड़ के बाल का औषधोपयोग, मोर पंख, साँप की केंचुली, बाघ की चर्बी, सूअर की चर्बी, समुद्रफेन, खरगोश का रक्त, हरिण एवं साबर के सींगों का औषधोपयोग। गाय-बकरी-मनुष्य आदि के मूत्र का उपयोग। गोरोचन, कस्तूरी, तेट्र बाजार (बकरे के पेट की गांठ) मत्स्य पित्त, वीर बहूटी, केंचुआ, शहद, मोम आदि का औषधोपयोग।

(च) परिभाषा—मागधमान, कालिंगमान, यूनानीमान, एलोपैथिक मान, वर्तमान समय का प्रचलित मान, शुष्कार्द्रभेद से द्रव्यमान, पंचविध कषाय कल्पना, द्रव्यों के ग्रहणीय अंग, औषधग्रहण क्रम, द्रव्य संरक्षण विधि। क्षीरपाक, यवागू, अवलेह आदि के साधन की विधि, घृत-तैल-आसव-अरिष्ट-शरबत पाक मोदक आदि के निर्माण की विधि तथा आयुर्वेदोक्त औषधगणों का वर्णन।

इस विषय में से एक सौ अंकों का लिखित प्रश्न पत्र आता है तथा पच्चीस अंक की मौखिक परीक्षा होती है। हरी वनस्पति, सूखी वनौषधि, खनिज द्रव्य, धातूपधातु की पहचान और प्रयोग जानना चाहिए।

इस प्रश्न पत्र का भली प्रकार ज्ञान करने के लिए किसी सुयोग्य चिकित्सक के पास रह कर औषधियों की पहचान एवं उनके निर्माण का ज्ञान करना चाहिए। पूरा क्रियात्मक अभ्यास होने से ही चिकित्सा में सफलता मिल सकती है। सारी ही चिकित्सा इस विषय के ज्ञान पर निर्भर करती है यह बात ध्यान रखनी चाहिए।

द्वितीय-पत्र

द्रव्य गुण-विज्ञान
तथा
रसतन्त्रोक्त द्रव्य-विज्ञान

प्रश्न—द्रव्य की परिभाषा तथा द्रव्य का प्राधान्य को उदाहरण सहित लिखिए। (१९७४)

प्रश्न—पदार्थ तथा द्रव्य की व्याख्या कीजिए। द्रव्य की उत्पत्ति तथा उसका संगठन लिखिए। (१९६५, ६७)

उत्तर—पदार्थ. (१९७१) द्रव्यगुण विज्ञान में पदार्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य पदार्थ का ही अंश है। किसी पद के द्वारा जिस नामधेय का अर्थबोध हो उसे पदार्थ कहा जाता है (पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः)। इसका तात्पर्य यह हुआ है कि किसी पद को उच्चारण करने से जो संज्ञा संबंधी ज्ञान होता है, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ के नाम को संज्ञा कहते हैं। पदार्थ में अस्तित्त्व, ज्ञेयत्व एवं अभिधेयत्व—तीन गुण होने चाहिए। अतः इस तरह के पदार्थ में द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व होना आवश्यक है। तात्पर्यतः पदार्थ द्रव्य रूप होना चाहिए। द्रव्य के साथ ही उसमें गुण, कर्म की विद्यमानता हो, कोई जाति या समूह सूचक वर्ग हों, जिसका किसी अन्य समूह से पृथक् निर्देश किया जा सके, साथ ही जिसके संगठन में तत्त्वों का समवाय रूप से अविच्छिन्न नित्य सम्बन्ध हो। इसे ही पदार्थ कहा जाता है। पदार्थ ६ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। पदार्थ का ज्ञान मनुष्य को द्रव्यों के सहारे होता है।

द्रव्य गुण और क्रिया के साथ जाति का मिलन एवं द्रव्य में विशेष के मिलन को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। यथा वस्त्र में तन्तु का, गुलाबी रंग के फूल में गुलाबी रंग का, मनुष्य में मनुष्य के लक्षण का तथा घड़े का मिट्टी से समवाय संबंध है। समवाय सम्बन्ध में उभय सम्बन्धियों की पृथक् सत्ता नहीं

रहती। यही नहीं, एक विपरीत रूप में संयोग सम्बन्ध भी होता है। संयोग सम्बन्ध अनित्य और समवाय सम्बन्ध नित्य होता है। कहा भी है—नित्य सम्बन्धः समवायः।

सारांशतः जिस किसी संज्ञापद वाच्य में द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व तथा समवायसम्बन्धत्व हो उसे पदार्थ कहा जाता है।

द्रव्य (१९६६, ६७ १९७४)

द्रव्य पदार्थ का मुख्य अंश है। इस प्रमुख आश्रयीद्रव्य का ज्ञान होना चाहिए। द्रव्य की परिभाषाएँ ग्रंथों में अनेक प्रकार की मिलती हैं। रस, वीर्य विपाक, कर्म, गुण तथा प्रभाव द्रव्य के आश्रित हैं। बिना द्रव्य के इन रसादि किसी की सत्ता का ज्ञान नहीं होता। आचार्य वाग्भट ने भी आश्रय भूत द्रव्य को ही श्रेष्ठ बतलाया है। इसकी पुष्टि करते हुए भदन्त नागार्जुन ने रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और कर्म—इन पाँचों का आश्रय लक्षण द्रव्य निश्चित किया है। आचार्य चरक की द्रव्य-परिभाषा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके मतानुसार जिसमें कर्म और गुणों का आश्रय समवायिकरण से समवेत हो अर्थात् जो गुण और क्रिया का आधार हो उसे द्रव्य कहते हैं।

नित्य सम्बन्ध को हम समवायि पहले ही कह आये हैं। यही सम्बन्ध द्रव्य गुण, कर्म का है। इसी समवायिकरण से कार्य सम्पन्न होता है।

द्रव्य का संगठन (१९६६, ६७)

अब द्रव्य के संगठन व बनावट पर प्रकाश डालेंगे। पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के समुदाय से समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। सभी द्रव्य (औषधान्न) पंचभूतों से सिद्ध होते हैं। किसी भी द्रव्य के निर्माण में पृथ्वी आश्रय भूत है। ऐसे कार्य द्रव्यों की योनि या कारण जल नामक महाभूत कहा गया है। योनि का अर्थ उत्पत्ति स्थान समझना चाहिए। यह पृथ्वी भूत के स्थूल परमाणुओं को गठित कर जल द्रव्य की उत्पत्ति का कारण बनता है। सम्मिलन, संयोग, संगठन प्रभृति क्रियाओं की सम्पन्नता में जल तत्त्व हेतु माना गया है। आगे जब अग्नि, वायु, आकाश तत्त्व भी समवाय सम्बन्ध से कारणीभूत बनते हैं, तभी द्रव्य की पूर्ण संरचना सम्भाव्य होती है। इसमें अग्नि से पाक प्रक्रिया से अंकुरोत्पत्ति, रूप, वर्ण आदि की उत्पत्ति कही गयी है। वायु नामक तत्त्व से स्पर्श सम्बन्धी भाव कठिनता, अवयवविभाजन-

शीतलता, वृद्धि होती है। आकाश महाभूत से पोलापन, स्रोतस्, नस, सछिद्रता आदि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। पर यह समवाय सम्बन्ध विच्छिन्न न समझना चाहिए। उत्कर्ष और अभिव्यंजक लक्षणों अर्थात् वृद्ध लक्षणों के अनुसार उसकी अभीष्ट महाभूत के नाम पर जलीय, पार्थिव, आकाशीय, वायवीय और आग्नेय संज्ञायें निश्चित की जाती हैं।

अब हमें यह समझना चाहिये कि द्रव्यों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि द्रव्य पंचभूतों के सम्मिलन से बनते हैं। स्थावर व जंगम सभी प्रकार के पदार्थ इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। पाँच महाभूत सृष्टिक्रम में विशेष रूप में प्रस्तुत होते हैं। ये आकाश आदि पाँच महाभूत भी एक दूसरे के सहयोग से उत्पन्न द्रव्य ही हैं। यह आवश्यक होता है कि द्रव्य को उत्पन्न करने वाले को स्वयं भी द्रव्य होना चाहिए। पाँच महाभूतों से किसी द्रव्य का स्पष्ट ज्ञान करना सम्भव नहीं। केवल अनुभवगम्य हो सकते हैं। उदाहरणतः आकाश महाभूत को न देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म और अव्यक्त तन्मात्रास्थूल भूत मे प्रवेश कर सकते हैं। तन्मात्रा से ऐसे सूक्ष्म रूप का अभिप्राय समझना चाहिए जो व्यक्त नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन महाभूतों के अर्थ या विषय हैं। इन्हीं शब्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है और आकाश मे वायु की उत्पत्ति कही गयी है। सृष्टि पदार्थो की उत्पत्ति के नियमानुसार पूर्व भूतगुण—उत्तरभूत में अनुप्रवेश किया करते हैं। इसी कारण वायु मे आकाश का शब्द गुण विद्यमान है। वायु का अर्थ स्पर्श है, इसीलिए शब्द और स्पर्श तन्मात्रा वायु की सिद्धि हुई। महाभूतों में तन्मात्रा की क्रमशः उत्पत्ति होते-होते अन्त में पृथ्वी में समस्त तन्मात्रा उपस्थित होती है।

इस प्रकार जगत के सभी पांच भौतिक द्रव्यों मे किसी तत्त्व की अधिकता होगी तो उसी के अनुसार उसका रस, वीर्य, विपाक, गुण, प्रभाव आदि परिलक्षित होते हैं। कुछ गुण अधिक मात्रा में और किंचित् मात्रा में उपस्थित होते हैं। सभी द्रव्य सामान्य रूप तो औषध द्रव्य ही हैं। तात्पर्यतः कोई पदार्थ अनुपयोगी नहीं। पृथ्वी आदि तत्त्वों वाले पदार्थ सदैव और सभी रोगों पर एक समान उपयोगी नहीं हो सकते। वल्कि अवशिष्ट द्रव्य, विशिष्ट उपाय से और विशिष्ट प्रयोजन में उपयोगी हो सकते हैं। यद्यपि प्रत्येक औषधि का

कार्य कर सकता है परन्तु उसके प्रयोग की युक्ति विना यह सम्भव नहीं है। जहां जिससे जिस उद्देश्य की सिद्धि हो, वहां उस प्रकार के योग की कल्पना करनी चाहिए।

द्रव्य की क्रिया

अब यह प्रश्न भी प्रासंगिक है कि द्रव्य अपना कार्य किस प्रकार करते हैं? द्रव्य जो व्याधि प्रशमनार्थ होते हैं, वह केवल अपने गुरु लघु आदि गुणों के योगमात्र से कार्य नहीं करते, वल्कि अपने द्रव्यगत प्रभाव से और द्रव्य तथा गुण दोनों ही सम्मिलित प्रभाव से क्रियावान हुआ करते हैं। विवेचनात्मक रूप से काल, कर्म, वीर्य, अधिकरण, उपाय, फल, योजना, द्रव्यधर्म दोनों का प्रभाव—इनके अनुसार द्रव्य अपना कार्य करते हैं।

द्रव्य का प्राधान्य—आगे लिखेंगे।

प्रश्न—द्रव्य वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए। (१९६२)

सृष्टि में द्रव्य अपरिमित—असंख्येय होने से प्रत्येक द्रव्य का निर्देश करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः इन द्रव्यों के सामान्य ज्ञान के लिए जो द्रव्य समान धर्म (गुण आकृति व कर्म) वाले हैं, उनके एक-एक वर्ग की कल्पना करते हैं। इससे सभी द्रव्यों का ज्ञान सुगम हो जाता है। आयुर्वेद में कई प्रकार से द्रव्य वर्गीकरण उपस्थित किया गया है।

२. (अ) उत्पत्ति के अनुसार द्रव्य-भेद परिचय को तालिकावद्ध करने से भली भांति समझ न सकेगा।

द्रव्य

कारण द्रव्य	कार्यकारण द्रव्य	कार्य द्रव्य
(नव मूल द्रव्य) पंचमहाभूत, आत्मा, मन, काल, तथा दिशा।		स्थूल द्रव्य, जैसे (जांगम, खनिज तथा वनस्पतियां)।

(व) पांचभौतिक रूप में समस्त द्रव्यों के पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय तथा नामस भेद हो जाते हैं। इनके लक्षण भी अभीष्ट महाभूत होते हैं।

पार्थिव वर्ग—गुरु, खर, कठिन मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, गन्ध गुण कुछ मधुर तथा कषाय रस वाले द्रव्य।

आप्य वर्ग—द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, स्तिमित, गुरु, सर, सान्द्र गुण, कुछ कषाय, अम्ल, लवण, तथा मधुर रस वाले द्रव्य।

तैजस वर्ग—उष्ण, तीक्ष्ण, लघु, रूक्ष, विशद, रूप गुण, कुछ खर, अम्ल व लवण रस, कटु रस की अधिकता तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले द्रव्य।

वायव्य वर्ग—लघु शीत, रूक्ष, विशद, सूक्ष्म स्पर्श, व्यवायी, विकासी गुण कुछ तिक्त रस व विशेषतः कषाय रस वाले द्रव्य।

नाभस वर्ग—मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द गुण तथा अव्यक्त रस वाले द्रव्य।

(स) प्रभाव भेद से द्रव्यों के शमन, कोपन तथा स्वस्थहित तीन भेद होते हैं।

(१) शमन द्रव्य अपने प्रभाव से वातादि दोष और वातादि दोष द्वारा दूषित रसादि धातुओं का प्रशमन करते हैं। उदाहरण—आमलकी।

(२) कोपन (धातु प्रदूषण) द्रव्य धातुओं को दूषित करते हैं। उदाहरण—विष, मछली, सरसों।

(३) स्वस्थहित द्रव्य न दोषों को प्रकुपित ही करते हैं और न स्वास्थ्य खराब करते हैं अर्थात् स्वास्थ्य के लिए हितकर होते हैं। उदाहरण—रक्त-शालि।

(द) योनि भेद से द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करने वाले द्रव्यों को जंगम कहते है। उदाहरण—जरायुज आदि प्राणी।

(२) पृथ्वी को फाड़कर उत्पन्न होने वाले द्रव्यों को उद्भिद् कहते हैं। उदाहरण—वृक्ष लता आदि।

(३) पृथ्वी के विकार रूप प्राप्त होने वाले द्रव्यों को पार्थिव कहते हैं। उदाहरण सोना, लोहा आदि।

(घ) व्यवहार भेद के अनुसार औषध द्रव्य व आहार द्रव्य विभाग किए गए हैं, जो वीर्य प्रधान हों वे औषधद्रव्य और रस प्रधान पदार्थों को आहार द्रव्य कहा जाता है। सोंठ, पीपल आदि प्रथम वर्ग में और चावल, गेहूं आदि द्वितीय वर्ग के अन्दर समाविष्ट हैं।

(न) कुछ अन्य प्रकारों से भी द्रव्यों को विभाजित किया जाता है। प्रमुख रूप से कर्म भेद से द्रव्यों के वर्गीकरण को समझना चाहिए। विशेष अध्ययनार्थ द्रष्टव्य-लेखक द्वारा लिखित "कोरिलेशनल स्टीडज इन जिनियो-लेजिकल एण्ड—फार्मेकोलोजीकल फायटो-टेक्सोनोमी" (अंग्रेजी) आयुर्वेदिक शास्त्रकारों ने द्रव्यों के कर्मों के (जीवित शरीर पर होने वाली उनकी प्रति-क्रियाओं) अनुसार भी सुन्दर उपभेद प्रस्तुत किए हैं। इसके अन्दर जीवनीय, बृंहणीय आदि अनेक कर्म कारक द्रव्यों के विशिष्ट वर्ग बन जाते हैं। और चरकोक्त व सुश्रुतोक्त द्रव्यों के गुण श्वासघ्न, विदारीगन्धादि, लंघनद्रव्य अधो-भागहर आदि अनेक वर्ग बताये गये हैं।

कर्म और गुण के समवायकरण से जो द्रव्य की सिद्धि होती है वह कारण द्रव्य कहलाता है, किन्तु औषधि आहार में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को कार्य-द्रव्य कहते हैं। इस तरह कारण द्रव्य में पंचमहाभूत, और आत्मा, मन, काल दिशा—यह ९ तथा कार्यद्रव्य से—आमला, हरड़ आदि समस्त द्रव्य माने जाते हैं।

प्रश्न—रस की निरुक्ति तथा पांच भौतिक निष्पत्ति, रस और अनुरस में भेद को स्पष्ट करते हुए मधुर एवं कटु रस का उदाहरण लिखिए। (१९७४)

उत्तर—रसनेन्द्रिय द्वारा किसी द्रव्य के जिस के स्वाद का परिचय मिलता है, उसे ही रस कहा जाता है (रस्यते आस्वाद्यते इति रसः)। यह रसनेन्द्रिय का अर्थ (विषय) है। रस द्रव्य के आधीन है इसे पृथक् अनुभव नहीं किया जा सकता। द्रव्य आधार है और रस उसका आश्रित आधेय माना जाता है। रस जल महाभूत का गुण है। जल अन्तरिक्ष से गिरकर पंचमहाभूतों के गुणों से समन्वित होकर जंगम और स्थावर सब मूर्त द्रव्यों का पोषण करता है। इनसे द्रव्यों में ६ रसों की उत्पत्ति होती है। जीभ पर किसी पदार्थ के स्पर्श मात्र से उस द्रव्य की जलीयता और मुखगत श्लेष्मा लाल-ग्रन्थियों की लार से रस का परिज्ञान होता है। यदि इस समय मन स्थिर न हो, अस्वस्थ हो, रस वाले द्रव्य की मात्रा कम हो, मुंह सूखा हो, बोधक कफ का स्राव न हो रहा हो तो द्रव्य के रस का स्वादज्ञान नहीं होता। परन्तु केवल जल की उपस्थिति से भी रस का ज्ञान सम्भव नहीं, पृथ्वी का संयोग आवश्यक है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि जिह्वा से ग्रहण होने वाले गुण रस के

प्रश्न—मान परिभाषाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए कालिंग और मागध मान का अन्तर स्पष्ट करें। (१९६१, ६२, ७२, १९७५)

उत्तर—जिसके द्वारा तोला मापा जावे उसे 'मान' (Weight and Measures) कहा गया है—मीयतेऽनेनेति मानम्। बिना तोल माप या मान के द्रव्यों का प्रयोग नहीं किया जाता। क्योंकि व्याधि, पुरुष आदि के विचार से उनकी विभिन्न मात्राओं की कल्पना करनी पड़ती है। औषधि योग में मान का ही काम पड़ता है। अतः मान-परिभाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

समस्त नवीन प्राचीन मापों को तीन विभागों में बांटा जा सकता है—

(१) पौतव मान

इसके स्थलों के अन्तर्गत तराजू (तुला) से तोल कर पदार्थों का मान करना आता है, इसे मेजर्स आफ वेट (Measures of weight) कहा करते हैं।

आचार्य सुश्रुत व चरक ने मान परिभाषाएं कुछ अन्तर के साथ लिखी है। सामान्यतः आयुर्वेदीय मान इस प्रकार स्मरण कर लेना चाहिए—

आयुर्वेदिक मान	प्रचलित भारतीय मान	
६ सर्षप	=१ यव	
६ यव	=१ गुंजा	
२ गुंजा	=१ निष्पा	
३ गुंजा	=१ वल्ल	
२ वल्ल	=१ माष	
२ माष	=१ धरण	=१॥ माशा
४ सुवर्ण माष	=१ शाण	=३ माशा
२ शाण	=१ कोल	=६ माशा
२ कोल	=१ कर्ष	=१ तोला
२ कर्ष	=१ शुक्ति	=२ तोला
२ शुक्ति	=१ पल	=४ तोला
२ पल	=१ प्रसृत	=८ तोला
२ प्रसृत	=१ कुडव	=१६ तोला
२ कुडव	=१ शराव	=३२ तोला

२ मानिक	=१ प्रस्थ,	=६४ तोला
२ प्रस्थ	=१ पात्र	=१२८ तोला
२ पात्र	=१ आढ़क	=२५६ तोला
४ आढ़क	=१ द्रोण	=१०२४ तोला
१ तुला	=१०० पल	= ५ सेर
४० तुला	=१ भार	

मागध और कालिंग मान (१९६६, ६७; ६८, १९७४)

शार्गधर ने अपने मान का प्रारम्भ परमाणु से किया है। चरकोक्त 'वंशी (खिड़कियों से आते हुए धूल के कणों से एक) का $\frac{1}{30}$ परमाणु मानते हैं। इन्होंने कालिंग व मागध दो प्रकार के मानों का प्रतिपादन किया है। संभवतः मगध और कालिंग देशों में प्रचलित होने के कारण इनके ये नामकरण हुए हों। मगध राजधानी होने के कारण वहाँ चलित मान को ऊँचा स्थान मिला। जबकि कलियुग में मनुष्य लोग मन्दाग्नि वाले, छोटे शरीर के तथा हीन जल वाले हैं, तब इन मानों का उल्लेख किया गया। अब इन मागध व कालिंग मानों के अन्तर को समझते हुए उनको आधुनिक मानों से समन्वय सहित समझ लेना चाहिए।

	मागध मान	आधुनिक
६ रत्ती	१ माशा	६ रत्ती
४ माशा	१ शाण	३ माशा
२ शाण	१ कोल	६ माशा
२ कोल	१ कर्ष	१२ माशा
२ कर्ष	१ अर्धपल	२ तोला
२ शुक्ति	१ पल	४ तोला
२ पल	१ प्रसृति	८ तोला
२ प्रसृति	१ अंजलि	१६ तोला
२ कुडव	१ मानिका	३२ तोला
२ शराव	१ प्रस्थ	६४ तोला
४ प्रस्थ	१ आढ़क	२५६ तोला
४ आढ़क	१ द्रोण	१०२४ तोला

		(१० सेर ६४ तोला
२ द्रोण	१ शूर्प	२०४८ तोला
२ शूर्प	१ द्रोणी	४०९६ तोला
४ द्रोणी	१ खारी	२०४ सेर ६४ तोला
२००० पल	१ भार	१०० सेर

अब तक मगध मान लिखा जा चुका है, यहाँ कालिंग मान का परिचय दिया जा रहा है। कालिंग मान व मागध मान में प्रारम्भ में अन्तर देखा जाता है।

१२ गौरसर्षप	=१ यव	१ ग्रेन
२ यव	=१ गुंजा	२ ग्रेन
३ गुंजा	=१ वल्ल	
८ गुंजा	=१ माष	१ ग्राम (लगभग)
४ माष	=१ शाण	१ ड्राम (लगभग)
६ माष	=१ गद्याण	
१० माष	=१ कर्ष	आधा औंस
४ कर्ष	=१ पल	२ औंस
४ पल	=१ कुडव	८ औंस

अब इसके आगे के कालिंगमान, मागध की तरह ही होते हैं।

आंग्लपोतवमान (Imeprial system of measures of weights) आजकल अधिक प्रचलित है—

१ ग्रेन	=१ गेहूं भर (लगभग रत्ती)
४३७॥ ग्रेन	=२ औंस (लगभग $\frac{1}{2}$ छटांक)
१६ औंस	=१ पौंड (लगभग $\frac{1}{2}$ सेर)
१४ पौंड	=१ स्टोन
२८ पौंड	=१ क्वार्टर
४ क्वार्टर	=१ हंडवेट
२० हंडवेट	=१ टन

(२) द्रवय मान (Measures) of Capacity)

इसके अन्तर्गत ठोस द्रव्य पदार्थों का आयतन मापने के मान में आते हैं। आयुर्वेदीय मत इस प्रकार समझना चाहिए—

यह मान विन्दु से (प्रदेशिन्यगुलीपर्वद्वयान्मग्नसनुधृतात् ! सावत् पतत्यसौ विन्दुः) से प्रारम्भ होता है। विन्दु का तात्पर्य—तर्जनी अंगुली का द्रवपदार्थ में डुवाकर ऊँचा करके गिरने वाली एक बूंद—समझना चाहिए।

८ बिन्दु=१ शाण, ३२ विन्दु=१ शुक्ति, ६४ विन्दु=१ पाणिशुक्ति

आंग्ल द्रवयमान (Imperial system) इस प्रकार होता है—

१ बूंद	=१ मिनिम
६० मिमिन	=१ फ्लुइड ड्राम
८ फ्लुइड ड्राम	=१ ,, औंस
१६ ,, औंस	=१ ,, पौंड
२० ,, ,,	=१ पाइन्ट
८ पाइन्ट	=१ गैलन

(३) पाय्यमान (Moasures of Length)

इसके अन्तर्गत पदार्थों की लम्बाई-चौड़ाई आदि का ज्ञान किया जाता है। आयुर्वेद मे इनके लिए अंगुल, व्याम, अरत्नि आदि शब्दों का वर्णन प्राप्य है। भारतीय पाय्यमान इस प्रकार होते हैं—

१ अंगुल=८ यवों को मध्य माग में सुई से पिरोने से जो लम्बाई होती है।

१२ अंगुल	=१ वितस्ति	=लगभग ९ इंच
२१ अंगुल	=१ अरत्नि	=१६॥ इंच
२ वितस्ति	=१ हस्त	=१८ इंच
व्याम	=४ हाथ	=६ फीट

इस प्रसंग में आंग्ल पाय्यमान भी देखना चाहिए—

१ टेन्थ	$=\frac{1}{10}$ इंच	३ फीट	=१ यार्ड (गज)
१२ इंच	=१ फुट	२२० गज	=१ फर्लांग

८ फर्लांग=१ मील (५२८० फीट)

मीट्रिकमान (१९६२,६६)

अब, आजकल भारत सरकार ने **नवीन मीट्रिक प्रणाली** का प्रारम्भ कर दिया है। उसके विषय मे जानकारी **आवश्यक है—**

आधा माशा =४८६ ग्राम आध पाव=११६.६२८ ग्राम

१ माशा	=.९७२ ग्राम	एक पाव=.२२३ कि० ग्राम
१॥ माशा	=१.६१६ ग्राम	आध सेर=.४६ किलोग्राम
३ माशा	=२.६१६ ग्राम	एक सेर=.६३३ किलोग्राम
६ माशा	=५.८३२ ग्राम	
१ तोला	=११.६६४ ग्राम	
२ तोला	=२३.३२८ ग्राम	
२॥ तोला	=२९.१६० ग्राम	
५ तोला	=५८.३१९ ग्राम	

प्रश्न—भैषज्य कल्पना से प्रमुख उपादानों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर—किसी भी औद्भिद्, जांगम या पार्थिव-द्रव्य का चूर्ण, क्वाथ, भस्म आदि कल्पना किए बिना उसी रूप में शरीर पर प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः उनकी स्वरस आदि कल्पना की जाती है। अर्थात् मूलद्रवों का रूपान्तरण भैषज्य कल्पना है। जिन रूपों में द्रव का प्रयोग किया जाता है उसे ही (Pharmaceutical preparation) के निम्न विभाग कर दिए गए हैं। लवण रहित पांच रसों की पंच कषाय योनियां होती हैं।

(क) कषाय कल्पना (१९६२, ६३, ६६' ६८, १९७१)

इस कल्प के अन्तर्गत पंचविधि कषायों का समावेश किया जाता है। लवण रस को छोड़कर मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य स्वरस, कल्क, शृत, शीत, फाण्ट—इस प्रकार की कषाय कल्पना के आश्रयभूत है उत्तरोत्तर लघु एवं बलशाली हैं।

(१) स्वरस कषाय (Expersssed juice) के अन्तर्गत द्रव को हाथ या यन्त्र द्वारा निचोड़ कर रस निकालना आता है। अगर द्रव्य सूखा हो तो द्रव्य को चूर्णकर समान भाग जल से २४ घण्टे छोड़ने के बाद मसलकर छान लिया जाता है। स्वरस कल्प शीघ्र खराब हो जाता है, अतः उचित व्यवस्था करनी चाहिए। दो तोले स्वरस में घृत, मधु आदि प्रक्षेपद्रव्य आधे तोले की मात्रा में आवश्यकतानुसार डालते हैं। स्वरस गुरु एवं बल्य होने से बल व रोगी बलवान् हो तभी करें, मात्रा सामान्यतः २ तोले है।

(२) कल्क कषाय का तात्पर्य किसी द्रवपदार्थ में पीसकर लुगदी या पिण्ड से है। हरितपदार्थ स्वतः और शुष्कपदार्थ कुछ द्रव पदार्थ युक्त होने पर कल्क

में परिणित होते हैं। प्रक्षेप द्रव की मात्रा द्विगुणित सामान्य रूप से होती है। कल्क की मात्रा लगभग १ तोला या आधे तोला है।

अत्यन्त शुष्क द्रव्य को कूट पीसकर धुलिवत निर्मित पदार्थ को चूर्ण (powder) कहा जाता है। चूर्ण में अगर प्रक्षेप द्रव्य भी शामिल करते हैं तो गुड़ समान, चीनी, घी, तेल द्विगुणित तथा जल आदि द्रव्य पदार्थ चौगुनी मात्रा में ग्रहण करनी चाहिए। चूर्ण में भावना अगर कही हो उसमें इतना द्रव्य पदार्थ डालें उसमें डूब जाये। चूर्ण की मात्रा ६ माशा है।

(३) द्रव्य को जल के साथ आग पर उबाल कर जो कल्प बनता है वह शृत या क्वाथ (Decoction) कहलाता है। सामान्यत: क्वाथ द्रव्य में अठगुना जल मिलाकर अग्नि पर चढ़ा दें और चतुर्थांश क्वाथ प्राप्त कर लेना चाहिए। मामूली रूप से जितने जल में कितनी देर तक उबलने से द्रव्य का सार भाग आ जाये उतनी देर तक क्वाथ करनी चाहिए। यदि क्वाथ में प्रक्षेपद्रव्य के अन्तर्गत चीनी, वात, पित्त, कफ रोगों के क्रमशः ४, ८, १६ गुनी डालें। मात्रा सामान्यत: ४-८ तोला होती है।

क्षीरपाक तथा प्रमथ्या भी इसके उपभेद होते हैं। चार तोले द्रव्य (कल्क) का ३२ तोले जल में उबालकर चतुर्थांश अविशिष्ट रहे तो 'प्रमथ्य' कहा जाता है। यह अतिसार, उदररोगादि में दीपन पाचन है।

क्षीरपाक (१९६५, १९७१)

द्रव्य से अठगुना दूध और दूध से चौगुना जल डालकर पाक करे, दूध रह जावे तो उतार कर छान लें। इस प्रकार के कल्प को 'क्षीरपाक' कहते हैं। इस प्रकार की कल्पना से द्रव्य में दोष का परिहार क्षीर में दोषों का नाश होकर इस काल में आहार व औषधि दोनों का संयोग हो जाता है। क्षीरपाक क्वाथ की तरह जल न लेकर क्षीर लिया जाता है, यही दोनों में अन्तर है।

(४) द्रव्य को कूटकर गर्म या शीतल जल में रात भर छोड़कर प्रात:काल निर्मित कषाय शीत या हिम (cold Infusion) होता है। इसमें २ तोले द्रव्य में १२ तोले पानी डालने का विधान है। मात्रा ४ तोले है। इसी विधि के अन्तर्गत 'तण्डुलोदक' का भी निर्माण किया जाता है। ४ तोले चावल को

गुनगुने जल में ३—६ घण्टे में पड़े रहने के बाद कपड़े से छानकर स्तम्भन औषध के साथ प्रायः देते हैं।

(५) द्रव्य को गर्म में छोड़कर थोड़ी-देर बाद (जल शीतल होने पर) उसे मसल छानकर जो कषाय बनता है, फाण्ट कहते है। इस कल्प में ४ तोले द्रव्य चूर्ण में १६ तोला जल लेना होता है। मात्रा ८ तोला है। इस फाण्ट में चीनी, गुड़ में आदि प्रक्षेप क्वाथ के समान करें।

(ख) स्नेह कल्प (१९६३, ६४, ६७, ६८)

घृत, तेल, वसा आदि स्नेहों के गुणाधान के लिए औषध द्रव्यों के साथ उनका पाक कर जो कल्प किया जाता है, उसे स्नेह कल्प (Fatty preparations) का नाम दिया गया है। अनिर्दिष्ट प्रसंगों में औषध द्रव्यों से स्नेह-पदार्थ चौगुना तथा स्नेह से जल चौगुना ग्रहण करना चाहिए। जब पकते हुए स्नेह में पानी का शब्द बन्द हो जावे, स्नेह कल्क से पृथक् प्रतीत होने लगे, औषध द्रव्यों के गन्ध रस वर्ण आदि स्नेह में अच्छी तरह आ जावें कल्क उंगलियों पर लगे नहीं, बत्ती बनने लगे, आग पर डालने से स्नेह 'चट-चट' शब्द-रहित हो जावे, तेल में फेन आने लगे, घृत में फेन न आवे, तब स्नेह को सिद्ध समझकर उतार लेना चाहिए।

तैल पाक

स्नेहपाक के पूर्व तेल घृत मूर्च्छना का भी विधान उल्लिखित है। तेल को मन्दाग्नि पर पकाते हुए फेन शांत हो जावे तो उतार कर ठण्ढा होने पर उसमें तेल का $\frac{1}{16}$ भाग मंजीठ का कल्क, मंजीठ से $\frac{1}{4}$ भाग हरड़ बहेड़ा, आमला, मोथा, हल्दी, खस, लोध, केवड़े के फूल, बरोहर (वट) नलिका का कल्क डालें। तेल से चौगुना जल मिलाकर स्नेहपाक की विधि से पाक करें। तेल में स्थितगन्धादि नष्ट हो जाते हैं।

(ग) सन्धान कल्प (१९६१, ६२, ६३, ६४, ६५)

किसी द्रव्य को द्रव्य कल्प में अकेले या गुड़ आदि से मिलाकर किण्वीकरण (Fermentation) की प्रक्रिया से मद्य (Alcohol) [या शुक्त (Acid) निर्माण होते] रख देने से संचलित संधान क्रिया में आसव, मद्य, अरिष्ट तथा शुक्त समावेश किये जाते हैं।

द्रव्य का क्वाथ कर उसमें चीनी गुड़ या मधु को मिलाकर किसी भाण्डे में मुख वन्द करके लगभग एक मास तक रखें। संस्कारवश इसमें गुणवान अधिक होता है। यह कल्प खराब भी नहीं होने पाता। द्रव्य का अक्वथित जल आदि के साथ प्रक्रिया (संधान) द्वारा प्रस्तुत मद्य आसव है।

चावल आदि के आटा या पक्वान्न के साधन से वनी . मद्य सुरा है। सुरा का ऊपरी भाग प्रसन्ना, उसके वाद कुछ गाढ़ा भाग कादम्बरी उसके नीचे का भाग जगल तथा छान लेने पर शेष भाग को सुराबीज (किण्व) कहते हैं। इसके साथ ही वारुणी, सीधु, शुक्त, कांजिक, सौवीर, तुषोदक और सौवीर तथा सुरासव भी होते हैं।

(घ) आहार कल्प (१९९३)

कुछ आहारोपयोगी कल्पों का पृथक् वर्णन उचित है। रोगी के वल को स्थिर रखने एवं रोगी की रुचि रखने के लिए आहार कल्पों का प्रयोग किया जाता है। दो मास तक कल्प उपयोगी रहते हैं।

जल आदि द्रव्य पदार्थों में मूंग प्रभृति शिम्बी धानों को पकाकर 'यूष' बनता है। उसमें कल्प द्रव्य ४ तोला जल ६४ तोला डालना चाहिए। आधा या चौथाई उतार कर कपड़े से छान लें।

'यवागू' का तात्पर्य जल आदि द्रव पदार्थों में चावल आदि शूकधानों को पकाना है। 'मण्ड' में ठोस भाग छोड़कर द्रव भाग काम में लिया जाता है। 'पेया' में कुछ ठोस तथा द्रव पदार्थ हो तथा इसके विलेपी उपभेद में ठोस भाग अधिक व द्रव भाग कम हो जाता है। सामान्य आहार को मात्रा से $\frac{1}{4}$ भाग चावल लेकर १४ गुना जल में पकाना चाहिए। माँस को समुचित मात्रा में जल सहित पकाकर छान ले। यही माँस रस है। अस्थिरहित मांस को गुड़ घी, पीपल, मिर्च मिलाकर पकाना 'वेशवार' होती है।

अन्य कल्प (१९९१, १९९३)

अवलेह (१९९७, ९८)

जब क्वाथ आदि को अग्नि पर पकाकर गाढ़ा और लेह योग्य कर लेते हैं— तो उसे 'अवलेह' या 'रसक्रिया' कहते हैं। सान्द्रता के अनुसार इसके फाणित (पतला), लेह (सांद्र), घन (अतिसांद्र), तीन भेद हैं। अवलेह में जब साथ शक्कर डालनी हो तो चूर्ण की चौगनी डालें, गुड़ दुगुना तथा द्रव पदार्थ

चौगुना डालना चाहिये। सेवनीय मात्रा १-४ तोला है। सुप्रसिद्ध लेह में तार बँधना, जल मे डूबना, स्थिर रहना, हाथ से दबाने से उसमें निशान पड़ना लक्षण आ जाते हैं।

पानक (१९६५)

अम्ल, मधुराम्ल या मधुर फलों को १६ गुने जल में खूब मर्दन कर छान लें और यथा रुचि मिश्री, मिर्च का चूर्ण मिलालें। इसे 'पानक' कहते हैं। द्रव पदार्थ को दूनी चीनी मिलाकर मन्द आंच पर पकाकर शीत होने पर छान कर मधुसदृश 'शार्करपानक' (Syrup) कहा जाता है।

जिस द्रव्य का 'क्षार' निकालना हो, उसके पंचांग को जलाकर बनी भस्म को मिट्टी के पात्र में ६ गुने जल में डालकर रात भर पड़ा रहने दें। प्रातः काल ऊपरी साफ जल को दूसरे पात्र में पृथक् कर इक्कीस बार कपड़े में छान कर प्राप्त द्रव को फिर आग पर पकावें, जलांश शुष्क हो जाने पर क्षार प्राप्त करें।

'गुडूचीसत्व' की विधि भी स्मरणीय है। ताजी गिलोय के टुकड़े कूटकर चौगुने जल में मर्दन करें। उस जल में छानकर दूसरे पात्र में ढक्कर एक रात्रि के बाद ऊपर का जल प्रातः अलग कर तल में अवशिष्ट भाग को मिला कर गिलोयसत्व प्राप्त करें।

शुद्ध पारद व गन्धक समभाग लेकर सम्यक् खरल करें। दोनों मिलाकर काला चूर्ण होकर पारद की चमक जाती रहे तो 'कज्जली' का निर्माण समझना चाहिये। औषध विशेष मे जहाँ गन्धक दूना मिलाकर कज्जली की निर्दिष्ट वहाँ पारद से गन्धक द्विगुणित मिलना चाहिए।

प्रश्न—द्रव्य की संग्रहण तथा संरक्षण विधि लिखिए। (१९६५)

उत्तर—औषधि के लिए प्रयुक्त द्रव्यों को संग्रहण (collection of drugs) सर्वप्रथम करना होता है। सभी द्रव्यों की तरह पृथ्वी (जमीन, जिस पर से द्रव्य प्राप्त होते हैं) या भूमि भी पाचभौतिक होती है। महाभूतों की अधिकता के आधार पर पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य तथा आकाशीय-पांच प्रकार भूमि के हो जाते हैं। औषधियां भूमि पर रह कर पोषण प्राप्त करती हैं। भूमि के सम्पर्क से इसमें रस की अभिव्यक्ति होकर सम्पूर्ण उद्भिद में व्याप्त हो जाता है। रसों की उपलब्धि होती है।

औषधि संग्रह के लिए प्रशस्त भूमि का निर्देश शास्त्र में किया गया है। बड़े गढ्ढों, कंकड़ या वाल्मीकों से रहित, समस्त श्मशान-वध-स्थान-देवस्थान वालूका प्रदेश से दूर, क्षाररहित, अभंगुर, जलाशय के निकट, स्निग्ध, तृण-युक्त मदु स्थिर, गौर या लाल वर्ण की अच्छी भूमि में हल न चलाया गया हो तथा औषधियों के अतिरिक्त बड़े वृक्ष न होने चाहिए। साधारण या जंगल देश की भूमि प्रशस्त है।

संग्रहणीय द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए ऐसा शास्त्रों में निदश है। जो भेषज द्रव्य कृमि, विष, शस्त्र, धूप, वायु, अग्नि व जल सम्पर्क से विकृत न हुए हों, जड़ मोटी हो तथा जमीन में अन्दर अधिक गई हो, सम्पूर्ण रस, गुण, वर्ण, गन्ध, प्रमाण से युक्त हो, अनुकूल ऋतु में उत्पन्न हुआ हो, ऐसे द्रव्य औषधि कार्य के लिए ग्रहण करना चाहिए। उत्तर दिशा में उत्पन्न औषधियाँ प्रशस्त बताई गई हैं।

उपरोक्त भूमि तथा द्रव्य के प्रशस्त लक्षणों को देख कर शास्त्रोक्त मंगलचार करके शुद्ध मन तथा श्रद्धापूर्वक औषधियों को ग्रहण करें। पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में संग्रह करना चाहिए। हेमन्त में कन्द, शिशिर में मूल, वसंत से पुष्प, ग्रीष्म में पत्र एवं शरद में पंचांग औषधियों के ग्रहण करने का विधान है। प्रयोग द्रव्यांगों के अतिरिक्त वीर्य तथा कर्मानुसार भी औषधियों के संग्रह का निर्देश होता है।

औषधि कर्म के लिए औषधियाँ नवीन लेना चाहिए। इसमें पिप्पली विडंग धनियां घी तथा मधु का अपवाद है। गुडूची, कुटज, बासा, कूष्मांड, श्वेत शतावरी, अश्वगन्धा, पीत सैरेयक, कृष्ण सैरेयक, शतपुष्पा, गन्धप्रसारिणी हरे रूप में लेना चाहिए। जिस औषधि के ग्रहण करने के प्रसंग में शास्त्र में यदि अंग का उल्लेख न हुआ हो तो मूल समझे।

सर्व कार्य के लिए शरद् ऋतु में हरी औषध ग्रहण करे। वमन विरेचन के लिए वसन्त के अन्त में लेना चाहिए। अतिस्थूल वृक्ष के मूल की छाल लेने का निर्देश है।

संग्रह के उपरान्त द्रव्यों का विधिपूर्वक भेपजागार (store house) में अग्नि, जल, वाष्प, धूल, जन्तु आदि से सुरक्षित करके रखना चाहिए। रखने के पात्र इस प्रकार के बने हों कि संग्रहीत द्रव्य के रस, गुणादि विकृति न हो सके।

प्रश्न—फलाहार पर प्रकाश डालिए। (१९६५)

उत्तर—भोजन में सम्मिलित किए जाने वाले पदार्थों में फलों का अपना एक स्थान है। यद्यपि केवल भोजन (अन्न) खाकर भी जीवित रहा जा सकता है, परन्तु फल, दूध, शाक आदि भोजन को सन्तुलित बनाने के लिए आवश्यक हैं। एक युवक को सामान्यत: जो भोजन मिलना चाहिए, उसमें लगभग १ छटांक फल अवश्य मिलना चाहिए। अधिक परिश्रम करने वालों को फलों आदि की मात्रा बढ़ा लेनी चाहिए। जो फल न ले सकते हों, उनकी पूर्ति शाक तरकारियाँ द्वारा भी हो सकती है।

फलाहार की मात्रा में एक विदेशी (अमेरिकन) का मत है कि प्रत्येक पुरुष को ६ से ८ छटांक तक खुराक जिसमें पानी न मिला हो, एक दिन के लिए काफी है। इसी हिसाब से आधा पाव सूखी मेवा और तीन छटांक सूखे फल काफी हैं। इनके साथ ही एक सेर या डेढ़ सेर ताजे मौसमी फल दिन भर के लिए बिल्कुल काफी हो सकते हैं। यह खुराक पूरे तन्दुरुस्त आदमी के योग्य है। गर्मी की ऋतु में ताजे फल कुछ ज्यादा बढ़ाये जा सकते हैं और सूखे फल और मेवा कम की जा सकती है।

प्राय: फलों को भोजन के रूप में सेवन कर अधिक लाभ हो सकता है। विश्व के सभी भोज्य पदार्थों में फल ही सब तत्वों से परिपूर्ण आहार है। फल को उसकी प्राकृतिक अवस्था में ही खाना चाहिए। नमक, मिर्च आदि डाल देने से विशेष लाभ नहीं होता—ऐसा देखा गया है। फलों को सामने दांतों से काटकर खाना अधिक लाभप्रद है। स्नायु रोगियों एवं रोगियों को फल खाना विशेष हितकर है। परिक्षणों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि अधिक फलों का व्यवहार करना शरीर वृद्धि व चर्म रोगहर होता है। इंग्लैंड के एक चिकित्सक का मत है कि कैंसर-नासूर के रोगों में केवल ताजे फल खाना एक ला मिसाल उपाय है। ऐसे रोगी को बिल्कुल पानी न पिलाया जाये। मनुष्य को प्यास सिर्फ अप्राकृतिक और मसालेदार भोजन करने से लगती है। यदि पके हुए पदार्थ और नमक खाना छोड़ कर सिर्फ फलों पर रहा जाये तो पानी की जरूरत ही नहीं रहेगी।

फलों का सेवन करने से वसा (Fat) की कमी रहती है। अम्लपित्त (Acidity) जिन लोगों को बनी रहती है, उनके लिए फलों का सेवन अच्छा

रहता है। शारीरिक विपमता के तत्त्वों को फलों द्वारा निष्कासित किया जाता है। मूत्रवह संस्थान के विकार, ज्वर एवं टायफाइड रोगों में फलों का रस अत्युपयोगी हैं। फलाहार रोगजनक जीवाणु के प्रतिक्षमता उत्पन्न करते हैं। फल सुपाच्य होते हैं। इस प्रकार फलों को भोजन ही नहीं बल्कि औषधि भी समझना चाहिए।

फलों को भोजन के साथ भी खाया जाता है। इस क्रम को ध्यान में रखना चाहिए कि अपक्व पदार्थ प्रथम खाना चाहिए, उसके वाद पकाये हुए पदार्थ सेवन करना चाहिए। फलों को भोजन के प्रारम्भ में खाना उचित है। जिन व्यक्तियों की पाचन शक्ति अच्छी न हो उन्हें फलों को भोजन के साथ न खाकर, अकेला ही खाना चाहिए। यदि फल खाने के कुछ देर वाद थोड़ा हल्का भोजन कर लिया जावे, तो कोई हानि नहीं। प्राकृतिक विधि से पक्व फल पर्याप्त सद्गुणों से पूर्ण होते हैं। शुष्क फल (मेवे) भी काफी गुण युक्त होते हैं। यदि उनके सेवन से पहले कुछ देर पानी में भिगो दिए जाएं फिर खाये जायें तो सुन्दर रहता है। फलाहारियों की शक्ति भी अन्नहारियों से किसी प्रकार न्यून नहीं होती।

फलों का महत्त्व भारत में आधुनिक काल से ही नहीं पुरातन समय से है। पूर्ण स्वस्थ रहने के लिए प्रतिदिन फल सेवन आवश्क है। फलों में अनेक गुण प्राप्य हैं। जो न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक फल में रहते हैं। जो फल जिस ऋतु में होता है, वह उसी ऋतुजन्य दोपों का प्रतिरोधी होता है। उदाहरणार्थ—वर्षा व शरद् ऋतु में उत्पन्न फल पित्तहर होते हैं। शुष्क अवस्था में रहने वाला फल, जो शुष्क होकर स्थायी रूप से रह सकते हैं, उनमें तद्विपरीत गुणों की क्रमशः वृद्धि होती देखी जाती है। फल की चिकनी वकली (छिलका) रेचक अर्थात् दस्त लाने वाला होता है। सामान्य रूक्ष फलों का दोपों पर प्रभाव रसानुसार निश्चित कर देना चाहिए। खाने योग्य फल कच्ची अवस्था में अरुचिकर शुष्कावस्था में शोपक हुआ करते हैं। परन्तु अभक्ष्य फल दोप वृद्धिकर होते हैं। शीघ्र ही नाशोन्मुखावस्था में प्रविष्ट होने वाला फल उतना ही कम जीवनीय शक्ति देने वाला होता है। शीतल फल गर्म करने से स्निग्ध-गुण युक्त हो जाते हैं। जो फल स्थायी अवस्था में प्रवेश नहीं करते तो इस प्रकार के पूर्ण रूप से पक्व फलों को उनकी तरुणावस्था तक पकाकर खाना

सुन्दर रहता है। उबालने से फलों में विपरीत गुणोत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न—फलों का शास्त्रीय वर्णन कीजिए।

उत्तर—प्राचीन चिकित्सा शास्त्र का मत है कि—

१. पका फल कच्चे फल की अपेक्षा अधिक गुणकारी है। परन्तु बेल का कच्चा ही गुणवान् है।

२. सरस फल सूखे की अपेक्षा अधिक गुणवान् है। परन्तु द्राक्षा, बेल, हरड़ के शुष्क गुणकारी हैं।

३. फल के गुण के समान उसकी मज्जा (मिंगी) का गुण समझना चाहिए।

४. पाला, अग्नि, आंधी, सर्प तथा कीट आदि से दूषित फलों को नहीं खाना चाहिए। अकाल या दुष्टभूमि में उत्पन्न तथा अधिक पक जाने से खराब हुए फल त्याज्य हैं।

फलों में पाँच भौतिक प्रधानता इस प्रकार पाई जाती हैं। गुरु, सर, कठिन मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल तथा गन्ध गुण युक्त फल पृथ्वी तत्त्व प्रधान होते हैं। द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल गुण युक्त फल जल तत्त्व प्रधान होते हैं। उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द गुण युक्त फल वायु प्रधान होते हैं।

भावप्रकाश निघण्टु के आम्रादि फल वर्ग में लगभग ५८ फलों का उल्लेख किया गया है इनमें व्यवहार में आने वाले मुख्य फल निम्नांकित हैं—

१. आम्र (आम)	२. राजाम्र (कलमी आम)
३. कदली (केला)	४. चिर्भिट (फूट)
५. नारिकेल (नारियल)	६. कलिन्द (तरबूजा)
७. खरबूज (खरबूजा)	८. त्रिपुस (खीरा)
९. ताल (ताड़)	१०. पूग (सुपाड़ी)
११. बिल्व (बेल)	१२. कपित्थ (कैथ)
१३. नारंग (नारंगी)	१४. जम्बू (जामुन)
१५. बदर (बेर)	१६. प्रियाल (चरौंजी)
१७. रजादन (खिरनी)	१८. मखान (मखाना)
१९. शृंगाटक (सिंघाड़ा)	२०. मधूक (महुआ)

२१. परूपक (फालसा) २२. तूल (शहतूत)
२३. दाड़िम (अनार) २४. द्राक्षा (दाख)
२५. खजूर (खजूर) २६. वाताद (बादाम)
२७. सेव (सेव) २८. अक्षोट (अखरोट)
२९. निम्बकू (नीबू) ३०. जम्बीर (ज़मीरी-नीबू)
३१. नीबू के अन्य भेद ३२. अम्लिका (इमली)
३३. कर्मरंग (कमरख) ३४. पिण्ड खर्जूर (छुआरा)

इनके अतिरिक्त रसभरी, अंजीर, लोकाट, लीची, संतरा, पपीता, आलूचा, आलूबुखारा, आड़ू, तेन्दू, अनानास, किशमिश, स्ट्रावेरी, टमाटर, शरीफा, अमरूद प्रभृति फल प्रयोग किये जाते हैं।

प्रश्न—विशेष उपयोगी फलों का परिचय दीजिए।

उत्तर—अनार (दाड़िम) (१९६१, ६७, ६८)

अनार मधुर, कषाय, अम्ल रस युक्त होता है। मधुर अनार त्रिदोपनाशक अम्ल अनार कफघ्न और मधुराम्ल (खट्टा) दीपन ॱ ा है। सामान्य रूप से अनार मलरोधक, वातनाशक, ग्राही, अग्नि को उत्पन्न करने वाला स्निग्ध, हृदय के लिए पौष्टिक एवं दाह, ज्वर हृदयरोग, कण्ठरोग, मुख, दुर्गन्ध नाशक है। मधुराम्ल अनार दीपन, रुचिकारी, किंचित् पित्तकारक, लघु एवं अम्ल अनार पित्तल, वातकफनाशक होता है। अपक्व शुष्क अनार रुचिकारक हृदय को प्रिय और वातानुमोलनकारी माना गया है।

केवल अनार के ही आहार पर दीर्घ काल तक रहा नहीं जा सकता। क्योंकि पोषण तत्त्व पूरे विद्यमान नहीं हैं। इसलिए यह सहकारी भोजन है। और वर्षा के प्रारम्भ से शरद के अन्त और वसन्त में यह लाभकारी है। अनार दवाई के रूप में अधिक उपयोगी है अपेक्षाकृत भक्ष्य सामग्री के। इस फल में १॥ भाग पोषकतत्त्व, इतनी ही चिकनाई १६॥ भाग कार्बोज, आधा भाग खनिज पदार्थ, ७६॥ भाग जल होता है। विटामिन B और C पाया जाता है। रोचक द्रव्यों के साथ केवल अनार सेवन निषिद्ध है। स्नायुकशूल विलम्बिका शीत व रात्रि में—अनार नहीं खाना चाहिए। अनार का रस आन्त्र, यकृत् आमांशय कण्ठ के रोगों में लाभकारी है ज्वर दस्त टायफाइड में पथ्य रूप में लेते हैं।

अंगूरद्राक्षा (१९६१, ६२, ६३)

पका हुआ अंगूर दस्तावर, शीतल, नेत्रों को हितकारी, पौष्टिक, गुरु, रस व विपाक में मधुर स्वर्य, कषाय, मल तथा मूत्र की प्रवृत्ति कराने वाला, वात वर्द्धक, वीर्य बढ़ाने वाला, कफकर पौष्टिक रोचक होता है। अंगूर, तृषा, ज्वर श्वास, कास, वात, वातरक्त, कामला, मूत्रकृच्छ, रक्तपित्त, मोह, दाह, शोष, मदात्यय नाशक होते हैं।

अंगूर सदैव सेवनीय है। वर्षा व शरद् में विशेष उपयोगी रहता है। विटामिन ए, बी और सी (अत्यधिक मात्रा में) प्राप्त होता है। अंगूर में १ भाग पोषक तत्त्व, १ भाग चिकनाई, १५॥ भाग कार्बोज, १ भाग खनिज पदार्थ और ७९ भाग जल पाया जाता है।

कच्चा अंगूर गुणों में पूर्वोक्त से हीन गुण युक्त होता है। टायफायड में अंगूर एक सप्ताह के बाद दिया जाता है डाइबिटिज, कब्ज के रोगी, फोड़े फुन्सियों एवं उनके उपद्रवों में अंगूर निषिद्ध है। अंगूर अनेक रोगों का नाश करता है। काले रंग के अंगूर अमृत होते हैं। देशी अंगूर इनके समान गुण वाला नहीं होता है।

सेव

सेव का फल वातपित्त नाशक, पौष्टिक कफ कारक, गुरु, पाक तथा रस में मधुर, शीतल, रुचिकारक, वीर्यवर्द्धक होता है। मूत्राशय व वृक्कों की शुद्धि करता है। सेव के खाने से नाड़ियों एवं मस्तिष्क को शक्ति मिलने के कारण यह स्मरण शक्ति की दुर्बलता, उन्माद, बेहोशी, चिड़चिड़ापन आदि में खिलाना चाहिए। यकृद्विकार एवं अश्मरी में गुणकारी पाया गया है। सेव को कच्चा खाने से जीर्ण व असाध्य रोगों में विशेष लाभ होगा। नवीन अवस्थाओं में पका सेव खिलना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए उनका छिलका रेचाक होता है अतः ग्रहणी, अतिसार, प्रवाहिका प्रभृति उदर व्याधियों से वल्कल रहित फल के सेवन से लाभ सम्भव है। वायु का अनुलोमन एवं कब्ज में छिलका न उतारें। ग्म्तों मे सेव का मुरब्बा सुप्रसिद्ध है।

सेव का आधा भाग प्रोटीन, इतनी ही वसा, १२॥ भाग कावा, सवा भाग खनिज तत्व और ८२।। भाग जल पाया जाता है। 'सी' विटामिन अधिक मात्रा में होता है। विटामिन ए, बी प्राप्य हैं। फास्फोरस का भाग अधिक होता है।

नाशपाती

नाशपाती सेव की जाति का फल होता है। इसका रस तो हल्का होता है, परन्तु फोक भारी माना गया है। सामान्य रूप से यह हल्की, वीर्यवर्द्धक, बहुत मीठी, वातादि तीनों दोषों को नष्ट करने वाली है। यह मुगलों के देश में अधिक पाई जाती है। नाशपाती में विटामिन ए, सी अधिक मात्रा में, परन्तु बी साधारण में प्राप्त होता है। नाशपाती का स्वरस शरीर में शीघ्र प्रसरण-शील होता है। गर्भाशय स्राव में नाशपाती लाभकर है। नाशपाती में आधा भाग प्रोटीन, आधा भाग चिकनाई, ११॥ भाग कार्वोज, १॥ भाग खनिज पदार्थ और ८४ भाग जल पाया जाता है। कश्मीर की नाशपाती को नाक या नख भी कहते हैं।

नीबू (१९६३)

नीबू के लगभग १०-११ प्रकार पाये जाते हैं—बिजौरा (बीजपूर), वन्य बीजपूर, मातुलुंग, जम्बीर, लिम्पाक, करुण (कन्या नीबू), बृहदजम्बीर मधुकर्कटी (चैंकोतरा), मीठी जम्ब जम्बीरी (कुप्कुटि) मिष्टनिम्बूक और नीबू।

सामान्यतः नीबू अम्ल रस युक्त, वातनाशक, दीपन, पाचक और लघु होता है।

मीठा नीबू मधुर, भारी, वातपित्त नाशक, तृषा, वमन, विष, रक्त विकार, शोष, अरुचि नाशक, बलदायक होता है।

बिजौरा नीबू मीठा अम्ल, अग्निप्रदीपक, लघु, हृदय को प्रिय, कण्ठ-जिह्वा शोधक है। यह कास, श्वास, अरुचि, रक्तपित्त तथा तृषानाशक है।

चैंकोतरा स्वादिष्ट, रुचिकारक, शीतल, भारी तथा रक्तपित्त, क्षय, श्वास कास, हिचकी भ्रमनाशक है।

उष्ण, जम्बीरी नीबू, गुरु अम्ल तथा वातकफ दोष, मलबन्ध, शूल, खाँसी वमन, तृषा, आम सम्बन्धी दोष, मुख की विरसता, हृदय की पीड़ा, अग्नि की मन्दता क्रिमीनाशक है। इस प्रकार विभिन्न प्रमुख नीबुओं के गुण हुए।

इस तरह नींबु उपरोक्त अनेक प्रकार के रोगों में सेवन कराया जाता है। रोगों का नाश कर आरोग्य प्रदान करता है। नीबू के बीज, फूल, जड़ आदि भी विभिन्न गुणयुक्त होते हैं। गर्मियों में नींबू खाया जाता है। नीबू सामान्य

शोधक भी है। इसमें अनेक धातु व उपधातुओं को घोट कर शुद्ध किया जाता है। सीप, प्रवाल, मुक्ता, बारहसिंगा आदि की भस्म नींबू के रस में निर्मित होती है। नींबू में ऋतु के अनुसार गुणों की उत्पत्ति हो जाती है। नींबू जिस पदार्थ में मिलता है, उसके गुणवर्द्धन करता है। यदि गरम करके खाया जाये तो शीतलता कम हो जाती है।

सामान्यतः उन रोगों मे जिनमें खटाई वर्जित है, नींबू सेवन कर सकते हैं। नींबू में विटामिन बी, सी अधिक मात्रा में और विटामिन ए साधारण मात्रा में पाया जाना है। जमीरी नींबू का कागजी नींबू से कुछ अन्तर होता है। नींबू के रस का प्लीहावृद्धि, अश्मरी, यकृत विकार, रक्त विकार, आंत्र दोष, वात के समस्त विकार, उपदंश स्नायुमण्डल के अनेक रोगों पर कल्प प्रयोग कराया जाता है।

नारंगी-सन्तरा

नारंगी मधुर, अम्ल, रुचिकारक व वातनाशक होती है। कूपरी जाति की नारंगी अम्ल, बहुत उष्ण, दुर्जर, वातनाशक एवं दस्तावर होती है। सन्तरे व नारंगी में नींबू के ही कुछ हल्के गुण हैं। परन्तु यह अधिक स्वादिष्ट पाचक एवं रुचि उत्पादक है। नींबू की अपेक्षा इसका प्रभाव खून पर विशेष पड़ता है। अम्ल रस युक्त नारंगी आम एवं आन्त्र कृमिहर है। नारंगी विभिन्न प्रकार की विधियों द्वारा उदर रोग, त्वचा, वातव्याधि, पीनस, कास, कामेच्छा, खून की कमी, मलेरिया दुर्बलता, प्लीहावृद्धि रोग में लाभ करती है।

नारंगी में १ भाग पोषक तत्त्व, $\frac{1}{2}$ भाग वसा, ८।। भाग कार्बोज, १।। भाग खनिज, ८६।। भाग जल पाया जाता है। नारंगी तथा संतरे में विटामिन सी अधिक मात्रा में तथा ए, बी, ई सामान्य रूप से होते हैं।

संतरे नारंगी से रक्तवर्द्धक, पौष्टिक, कान्तिजनक, स्वादु रस गुणों में अधिक पाये जाते हैं। सन्तरे को अनेक रोगों में पथ्य रूप में प्रयोग किया जाता है। इन्फ्यूलेंजा के पहले, बाद में सभी स्थिति में सेवनीय है तथा लाभप्रद भी है। तपेदिक व वक्षस्थल की व्याधियों में सन्तरा प्रशस्त है। उदर विकार वालों को सर्वप्रथम सन्तरे का प्रयोग करके फिर उसके बाद में अन्य पदार्थ लेना चाहिए। इससे पर्याप्त लाभ देखा गया है। स्त्रियों के हिस्टीरिया में रामबाण है। वस्तुतः सन्तरा रोगियों को काफी मात्रा में चिकित्सक बताते हैं।

आमलकी (आमला) (१९६२)

आमला चिकित्सा विज्ञान की महौषधि है। आयुर्वेद में इसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। आमला पांच रसयुक्त होता है, अम्ल, शीतल, लघु, किंचित् कटु मधुर, तिक्त होता है। यह दाह, पित्त, प्रमेह बुढ़ापा अरुचि, केशरोग, रक्तपित्त, खाँसी, विष विकार, ज्वर, सूजन, पिपासा नाशक है। अम्ल-रस से वात को, मधुर व शीत होने से पित्त को तथा रूक्ष व कषाय होने से कफ का नाश करता है।

आँवले की फलमज्जा (गुठली) प्रदर रोग, वमन, वातपित्त दोष, ज्वर, श्वास व कास में प्रयोग की जाती है। सूखे आँवले में कुछ अतिरिक्त (विशिष्ट) गुण पाये जाते हैं। अस्थि संधानक (टूटी हड्डियों को जोड़ना), धातुओं को बढ़ाने वाला, नेत्रों को हितकारी होता है। सूखे आंवले को लेप करने से कांति में वृद्धि होती है। आंवले की चटनी भी देते हैं। प्राय: रोगों में ही इसका उपयोग किया जाता है -

आम (१९६१)

आम प्रसिद्ध फल है। निघण्टोक्त फल वर्ग में इसका प्रथम स्थान है। आम के विभिन्न अवस्थाओं में पृथक् गुण होते हैं, कच्चा आम कषाय अम्ल, वात पित्त वर्धक और तरुणावस्था में अम्ल, रूक्ष, त्रिदोष नाशक, रक्तविकार जनक होता है। पका आम मधुर, वीर्यवर्द्धक, स्निग्ध बल तथा सुखदायक, गुरु वात नाशक, हृदय तथा मन को प्रिय, वर्ण को उत्तम कर्ता, शीतल, कषाय, अग्नि-कफवीर्य वर्द्धक होते हैं। आम्र मंजरी (बौर) शीतल, रुचिकारक, ग्राही, वात-कारक, अतिसार, कफपित्त, प्रदर, दुष्टि रुधिर नाशक है।

अमचूर भी प्रयोग किया जाता है। यह अम्ल, स्वादिष्ट, कषाय, दस्तावर, तृषा-वमन-वातपित्त नाशक होता है। गट्टर अँबिया कण्ठरोग, प्रमेह योनिदोष, व्रण आदि नाश करती है। पाल में पकाकर भी आम खाया जाता है, परन्तु उसमें जीवन शक्ति की न्यूनता होती है। आम रस दूध के साथ पीने में शक्ति-जनक व वीर्यवर्द्धक होता है। चूसकर प्रयोग किये जाने वाले आम को 'रसाल' संज्ञा दी है। इस तरह से प्रयुक्त आम हल्का सुपाच्य बलवर्द्धक एवं वातपित्त नाशक होता है। काटकर खाया हुआ आम काफी भारी होता है; आलस्य जड़ता, उत्पन्न करते हुए धातुओं की वृद्धि करता है। कलमी आम अत्यन्त

पित्तकारक होता है, अतः सावधानी आवश्यक है। आम को विभिन्न विधियों द्वारा अनेक रोगों के नाशनार्थ उपयोग करते हैं। आम का विधिपूर्वक कल्प चलाया जाता है।

आम के अत्यन्त सेवन करने से मन्दाग्नि, विषमज्वर, रक्तदोष, अत्यन्त मलबद्धता, नेत्ररोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः अधिक आम न खाना चाहिए। बच्चों को इसलिए लोग आम अधिक नहीं खाने देते हैं। यह दोष खट्टे या अपक्व आम मे देखा गया है। पक्व आम मे विटामिन ए तथा सी अधिक मात्रा में बी सामान्य मात्रा में प्राप्य है।

केला (कदली फल) (१९६२, ६७)

केला सुपरिचित उपयोगी फल है। अपक्व केला मधुर, शीतल, ग्राही भारी, स्निग्ध, कफपित्त रक्तविकार दाह, क्षत, वायु नाशक है। पका हुआ केला शीतल, मधुर वीर्यवर्द्धक, पुष्टिकारक, रुचिकर्त्ता, मांस को बढ़ाने वाला, क्षुधा-पूर्ण कर्त्ता, प्रमेह, नेत्ररोग, तृषा, रक्तपित्त, उदर रोग, हृदयशूल, प्रदर, सोम-रोग, गर्मी के रोग नाशक है।

केले की कई जातियां होती है। माणिक्य कदली, चम्पक कदली, मर्त्य कदली, अमृत कदली शास्त्रोक्त प्रकार हैं। जगली केला, लाल, पीला, काला कई प्रचलित भेद है। बड़ा केला अच्छा माना गया है।

भोजन के पहले केला न खाना चाहिए। कोमल अवस्था मे केला खाना अधिक लाभप्रद रहता है, शाक से उतना लाभ नहीं हो सकता। पका केला एक अच्छा भोजन है। इसका कल्प भी कर सकते हैं। केले की जड़, स्वरस, बीज, पत्ते, फूल सभी भागों से विभिन्न कठिन रोगों में आश्चर्यजनक लाभ होता है। केले को खाते समय सड़ा आदि न हो, देख ले।

केले में प्रोटीन १·३ भाग, स्नेह ६ भाग, श्वेतसार २२ भाग, खनिज पदार्थ ८ भाग जल ७४·३ भाग होता है। इसके अतिरिक्त केले के फल में विटामिन ए बी तथा ई अधिक मात्रा में और विटामिन सी साधारण मात्रा प्राप्य है। परन्तु विटामिन डी परिवर्तनशील अवस्था में रहता है।

तरबूज एवं खरबूजा

ये मौसमी एवं सात्म्य फल हैं। ग्राही, शीतल, भारी, नेत्र शक्ति, पित्त तथा वीर्य नाशक है। पका हुआ फल उष्ण, क्षारीय, पित्तकारक व वात कफ

नाशक है। खरबूजा मूत्रकारक, बल्य, कोष्ठ संशुद्धिकर, गुरु स्निग्ध, अत्यन्त स्वादिष्ट, शीतल वीर्यवर्धक एवं वातपित्त दोष, उन्माद शुष्क कास हृदयरोग, लू लगना रोगों का नाश करता है।

जो खरबूजा अम्ल मधुर क्षारीय होता है, वह रक्तपित्त तथा मूत्रकृच्छ को करता है। अतः खट्टे या फीके रस के खरबूजे अधिक नहीं खाने चाहिए। नाशोन्मुखावस्था का भी खरबूजा फौरन सुजाक पैदा कर सकता है। खरबूजे का विभिन्न रोगों मे विधिवत कल्प कराया जाता है। खरबूजे के गूदे में प्रोटीन १॥। भाग, पदार्थ, साढे सात भाग कार्बोज, चौथाई भाग खनिज पदार्थ तथा ९० भाग जल प्राप्त है।

खरबूजा अधिक खाने से बुद्धि नाश होती है। यह रोगी को भी दिया जाता है। तरबूज के गूदे मे चौथाई भाग पोषक तत्त्व, साढ़े ६ भाग कार्बोज, १ भाग चिकनाई, खनिज पदार्थ, २ भाग, जल ९३ भाग पाया जाता है। विटामिन सी भी होता है।

फालसा

अपक्व फालसा कसैला, खट्टा, पित्तकारक, लघु होता है। पका हुआ फालसा, मधुर, रुचिकारक, शीतल तृप्तिकारक, पुष्टिजनक, हृदय को हितकारक, शुक्रजनक, किंचित विष्टम्भकारक, मधुरविपाकी तथा तृष्णा, पित्त, दाह रक्तविकार, क्षय, ज्वर, वात, रक्तपित्त, उदर, शूल, श्वास, मूत्राशय, व्याधि प्रमेह, अरुचि, मूढ गर्भ, हृद्रोग—रोगों में कार्य करता है।

मुँह, नाक, गले से खून आना तथा मासिक धर्म में अधिक खून निकलने की अवस्था मे फालसे का अर्धचन्द्रायण कल्प दिया करते हैं। अधिक मात्रा से कम मात्रा पर उतारें। क्षय में एक मास में दो कल्प करा देने चाहिए। इस विधि के समय दूध या जल के अतिरिक्त और कुछ न देना चाहिए। इसके अतिरिक्त फालसे का रस, फल, गुठली व छाल विभिन्न रोगों में योग बनाकर उत्तम लाभार्थ प्रयोग किये जाते है।

जामुन (१९६२)

जामुन सामान्य फल है, किन्तु रोगों में सुन्दर लाभकारी है। जामुन कई प्रकार की होती है। जामुन (बड़ी) स्वादिष्ट, विष्टम्भी, रुचिकारी, गुरु और छोटी जामुन ग्राही, रूक्ष, पित्त कफ, दोष विकार, दाहनाशक है।

जामुन की (गुठली, छाल, मिंगी, पत्ते, सिरका)—विभिन्न रूपों में मधुमेह, दस्त, हिचकी, उदरशूल, फुन्सियाँ, कृमि, कास, श्वास, मुख की जड़ता, योनिदोष, मुख रोग, अरुचि—इन रोगों में उत्तम लाभकारी पाया गया है। इनमें विधिवत दिया जाता है।

शहतूत

शहतूत बच्चों को प्रिय है। कच्चा शहतूत गुरु, रेचक, अम्ल, उष्ण, रक्त-पित्त कारक होता है, परन्तु पका हुआ फल स्वादिष्ट, गुरु, शीतल रक्तशोधक मल रोधक, पित्त-वात नाशक कहा गया है। शहतूत वर्ण भेद से कई प्रकार के होते हैं—काले, लाल, सफेद व हरे।

शहतूत के पत्ते रेशम के कीड़े को खिलाए जाते हैं। चारपाई पर शहतूत के पत्ते बिछाए जाएं तो खटमल भाग जाते हैं। शहतूत अम्लपित्त, रक्त विकार मलगन्ध में प्रायः प्रयोग किया करते हैं। इसमें चौथाई भाग प्रोटीन, सवा ग्यारह भाग कार्बोज, सवा दो भाग खनिज और साढ़े चौरासी भाग जल प्राप्य है।

प्रश्न—मुख्य सूखे मेवों का परिचय दीजिये।

उत्तर—बादाम

सूखे मेवों में बादाम का उत्तम स्थान है। सामान्य रूप से बादाम स्निग्ध, उष्ण, गुरु, वीर्य वर्धक तथा वातविनाशक होता है। बादाम की मिंगी मधुर, वीर्यवर्धक, पित्त, व वात नाशक, स्निग्ध कफनाशक मस्तिष्क बल्य पाचन शक्ति को तीव्र करने वाली होती है।

बादाम उपयोगी द्रव्य है। छिलका उतारने से बादाम की सारकता किंचित् उष्णता न्यून करती है। बादाम का तेल अत्युपयोगी है। यह तेल शीत विपाकी है; शिरःशूल मस्तिष्क रोग, मल बन्ध, आंत्र विकार, गुदा पाक, उपदंश में विभिन्न विधियों से उपयोग किया जाता है। बादाम की खली अत्यन्त उष्ण, हृदय स्पन्दनाधिक्य को नाश करता है। मधुमेह में भी लाभकारी सिद्ध हुई है। बादाम का छिलका जलाकर मंजन किया जाता है। बादाम की मिंगी का लाल छिलका जलाकर दन्तहर्ष में उपयोगी होता है। बादाम की खली ज्वर रोगी को नहीं देनी चाहिए। बादाम की ठण्डाई बनाकर प्रायः प्रयोग की जाती है।

बादाम में २४ भाग पौषक तत्त्व, ५४ भाग चिकनाई, १० भाग कार्बोज ३। भाग खनिज और ७। भाग जल होता है। विटामिन ए. बी. साधारण मा मे और विटामिन सी अनिश्चित मानी गई है।

चिरोंजी

सामान्य रूप से चिरोजी पित्त, कफ तथा रक्तविकार नाशक है। चिरोंज का फल मधुर, भारी, स्निग्ध, दस्तावर, वात, पित्त, दाह् ज्वर तृषा नाशक है इसकी मिगी मधुर, वीर्यवर्धक, पित्त, व वातनाशक, हृदय को प्रिय, अतिदुर्जर स्निग्ध, विष्टम्भी, आयुवर्धक, क्षत, क्षय, शीतपित्त, युवानपीड़िका, त्वचा रोग नाश करती है। चिरोजी का तेल भी कर्णशूल नाशक है। चिरोंजी का तेल त्वचारोग नाश करने वाला होता है। तथा गुरु, मधुर, किंचिदुष्ण, कफकारक पित्तवात नाशक है। पेड़ की छाल दस्तो मे देते हैं। सामान्यतः यह अच्छा मेवा है, परन्तु श्राव वाले को वर्जित है।

अखरोट

अखरोट मधुर, किंचित् अम्ल, स्निग्ध, शीतल, वीर्यवर्धक, उष्ण, रुचिदायक कफकारक, गुरु, बलवर्द्धक, माँसवर्द्धक, मलवर्द्धक है। अखरोट वात, पित्त, क्षय, वातरोग, हृदयरोग, रुधिर दोष, दाहनाशक होता है। साथ ही इसे अर्श गुल्म, कृमि, स्तन्याल्पता, प्रमेह, स्मृति भ्रंश, आंत्रवृद्धि, पीनस, वातजशोथ में विभिन्न विधियों से प्रयोग करते हैं।

अखरोट में पोषकतत्त्व १५।। भाग, चिकनाई ६२।। भाग, ७। भाग कार्बोज १ भाग खनिज और ४।। भाग जल होता है। इसमें विटामिन ए साधारण रूप से और विटामिन बी अधिक मात्रा में पाया जाता है।

छुआरा और खजूर (१६६१)

तीन प्रकार के उत्पन्न होने वाले खजूर में छुआरे का स्थान सर्वोच्च है। यह पिंड-खजूर के अन्तर्गत आता है। यह मधुर, शीतल, रोचक, हृदय को प्रिय गुरु, ग्राही, वीर्यवर्धक, बलदायक, तृप्तिदायक, रुचिकारक तथा वात पित्तदोष, मूर्च्छा, कोष्ठवात, मद्य जनित रोग, वमन, ज्वर, अतिसार, भूख, तृषा, कास, श्वास, अभिघात, पेचिस, शीघ्र वीर्य का पतन, बहुमूत्र, धातु के रोग इन सब को नष्ट करता है।

छुआरे के अनेक योगों को बनाकर विभिन्न रोगों में प्रयोग कर लाभ

उठाया जाता है। छुआरे की गुठली घिसकर व्रणों पर लगाने मे लाभ होता है आँखों के रोगों में भी लगाते है। इसका छुआरा पाक भी बनाया जाता है। इसको पुष्टि के लिए प्रयोग करते हैं। वीर्य सम्बन्धी रोगों में भी इसे खिलाया जाता है। छुआरा का गृहस्थी मे खूब प्रयोग किया जाता है।

खजूर भी इसी स्थल में उल्लेखनीय है। यह भ्रम, दाह, मूर्च्छा, अम्लपित्त, श्रम नाशक है। पौष्टिक, मन्दाग्निकारक शीतल, बलवीर्यवर्द्धक है। खजूर के पेड़का पानी (ताड़ी) मद तथा पित्तकारक, वात कफनाशक रुचिकारी, अग्नि संदीपन, बल-वीर्यवर्द्धक है।

खर्जूर का शर्बत भी बनाकर उपयोग किया जाता है। जिस ग्रामयिक अवस्था में शर्करा प्रयोग वर्जित रहता है, वहाँ मधुमेह प्रति विकारों में इस शर्बत का उपयोग किया जा सकता है। बच्चों के पेट चलने तथा सूखा रोग मे भी इसी शर्बत को गुणकारी पाया गया है।

खजूर, पिंड खजूर और छुआरा—सामान्य रूप से तीनों अपक्व—त्रिदोष-कारक और पक्व त्रिदोपनाशक होते हैं। खजूर में विटामिन ए, बी साधारण परिणाम में प्राप्त हैं।

मखाना

मखाना एक प्रचलित सूखा मेवा है। यह विशेप प्रकार के कमलगट्टे से भूनकर तैयार हो जाता है। इसके गुण प्रायः कमलगट्टे के समान ही होते हैं, अतः कमलगट्टा के गुण इस प्रकार हैं। यह मधुर, कपाय, रुचिकारक किंचित् कटुतिक्त, गुरु, विष्टम्भक, वीर्यवर्द्धक, रूक्ष, गर्भस्थापक, वन्ध्यापन नाशक, मल का रोध करने वाला, बलकारक होता है। मखाने को रक्तपित्त, दाह, रक्त दोष, वमन, हिस्टीरिया आदि रोगों में विभिन्न रीतियों से प्रयोग करके लाभ उठाते हैं।

बेल (१९६१-६७)

बेल सामान्य किन्तु उपयोगी फल है। कपाय, कटु, मलरोधक, रूक्ष, अग्नि-वर्धक, पित्त जनक, बलकारक, हल्का, उष्ण पाचक, वात कफ हर है। पका बेल ग्राही मधुर है। इसका गूदा संग्रहणी, पेचिश, दाह रोगों में दिया जाता है। बेल का गूदा व तिल का तेल मिलाकर सिद्ध तैल कर्ण रोगों में प्रयुक्त होता है बेल का गूदा सुखाकर चूर्ण बनाकर आमाशय विकारों में लाभप्रद है। बेल का

शर्बत भी खूब व्यवहार किया जाता है। बेल की जड़ एवं छाल, पत्र सभी प्रयोग किये जाते हैं। बेल का मुरब्बा भी बनता है। बेल को विभिन्न रूपों में सूखा रोग, पेट के अनेकों विकार, श्वास, ज्वर, मूत्रकृच्छ, गठिया आदि रोगों में प्रयोग करते हैं।

यह सूखे मेवों में नहीं आता।

अंजीर

यह आयुर्वेदानुसार 'वनउदुम्बर' जाति का फल है। अंजीर का प्रयोग काफी किया जाता है। अंजीर अत्यन्त शीतल, पित्तानाशक है। रक्तपित्त को शीघ्र समाप्त करने वाला है। शिरोरोग, कुष्ठ, अर्श में लाभदायक है। इसमें रक्त बढ़ाने का एक विशेष गुण प्राप्त होता है। गले व जीभ की सूजन पर इसका गाढ़ा लेप करना चाहिए। मुंह फटने के रोग में अंजीर की पत्तियों की राख बनाकर लगाते हैं। हल्के विरेचन के लिए रात को दूध के साथ अंजीर खाना उत्तम रहता है। प्लीहावृद्धि व गुल्म में अंजीर, सरफोंका, झाऊ को पका कर प्रयोग करते हैं। सामान्य रूप से प्रातःकाल रात को अंजीर व बादाम गरम पानी में भिगोए हुए को, मिश्री, घी मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न—निम्नांकित मेवों पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—पिस्ता

इसे संस्कृत में निकोचक या मुकूलक कहते हैं। फारस तथा अफगानिस्तान से भारत में आता है। फल की मज्जा (पिस्ता) तथा बाह्य त्वचा (पोस्तोपिस्त) औषधोपयोगी है।

यह अच्छा सूखा मेवा है। पिस्ता गर्म तथा तर है। हृदय को बल देने वाला, स्मरण शक्ति बढ़ाने वाला, वाजीकरण, बृंहण तथा श्लेष्मनिःसारक है। पिस्ता के कई पौष्टिक पाक बनाये जाते हैं। पिस्ता वृक्क तथा शरीर की दुर्बलता में भी लाभदायक है।

पिस्ते का छिलका शीत, रूक्ष, संग्राही, दीपन, हृदय, बलदायक, उत्क्लेश तथा छर्दि नाशक है। इसका फाण्ट वमन में देते हैं। दस्त करने के लिए पिस्ता का उचित रीति से प्रयोग करते हैं।

चिलगोजा

यह उत्तर पश्चिम हिमालय तथा अफगानिस्तान में उत्पन्न होने वाले एक

प्रकार के मादा तथा बड़े देवदार-सनोवर वृक्ष के फल की गिरी है। फल खिरनी की तरह होते हैं। ऊपर का छिलका हट जाने पर सफेद मधुर मज्जा निकलती है। यह तैलमय रहती है।

यह वाजीकरण, बृंहण, शुक्रल, उष्णताजनन तथा श्लेष्मनिःसारक है। स्वस्थ अवस्था में खाने से शरीर की पुष्टि करता है। उक्त कर्मों के सम्पादन करने के लिए कई पाकों में चिलगोजा प्रयोग करते हैं। चिलगोजा कास, श्वास, कटिशूल, आम वात रोगों में लाभ करता है।

मुनक्का

अंगूर (द्राक्षा) का वर्णन हो चुका है। पक कर सूखा हुआ अंगूर मुनक्का है। मुनक्का इस प्रकार का उत्तम होता है। बड़ा, मोटा, मीठा, कम बीज वाला तथा अधिक सूखा न हो।

मुनक्का जीवनीय, सांद्र, दोषपाचन, प्रमाथी, कोष्ठमृदुकर, दोषादि विलयन, आन्त्र-आमाशय लेखनीय, यकृत तथा हृदय बलदायक, वाजीकरण तथा बृंहण है मुनक्का के बीज संग्राही, अतिसार नाशक, स्निग्ध, आन्त्र-आमाशय बलदायक है।

मुनक्का को काफी प्रयोग किया जाता है। रोगियों को लघु पथ्य के रूप में इनको देते हैं। दोषों के पाचनार्थ मुनक्का देते हैं। रोगियों को जब कब्ज हो जाता है, तो आवश्यकतानुसार कुछ मुनक्कों को दूध या किसी अन्य द्रव्य के साथ प्रयोग किया करते हैं। रेचन द्रव्यों के साथ मुनक्का मिला देने से उनकी शक्ति वृद्धि में सहायक होता है।

किशमिश

यह छोटा पकने के बाद सूखा अंगूर है। किशमिश कई रंगों की होती है। हरी किशमिश श्रेष्ठ मानी गयी है।

किशमिश समस्निग्धोष्ण है। यह जीवनीय, सौमनस्य जनन, हृदय बल-दायक, ग्रन्थिविलयन, लेखनीय, वाजीकरण, मार्दवकर, मेध्य तथा यकृत बल-दायक है।

किशमिश को पौष्टिक मेवे के रूप में आहार-द्रव्यों तथा पाकों में प्रयोग करते हैं। उक्त कर्मों के अनुसार किशमिश को विधिवत् देते हैं। उपवास तोड़ने के बाद शीघ्र किशमिश नहीं देनी चाहिए।

नारियल (खोपरा) (१६६७)

दक्षिण भारत, वर्मा, पूर्वी बंगाल आदि प्रदेशों में उत्पन्न ताड़ वृक्ष के समान एक वृक्ष के फल के मग्ज को नारियल की गिरो, खोपरा या गोला कहते हैं।

यह पौष्टिक है, अतः कई आहार द्रव्यों में इसको डालते हैं। यह गुरु, चिरपाकी, वृंहण, वाजीकरण शरीर को उष्णता-शक्तिदायक है। नारियल की गिरी शुद्ध रक्त वर्धक तथा वाजीकरण हैं। नारियल का तेल काफी कामों में प्रयोग होता है।

प्रश्न—शाकाहार पर सारगर्भित निबन्ध लिखिए ? (१६६८)

उत्तर—जीवन को चलाने का प्रमुख स्तम्भ आहार है। उत्तमारोग्य के लिये सन्तुलित अर्थात् व्यवस्थित आहार का सावधानीपूर्वक सदैव सेवन करना चाहिए। भोजन में शाक का उत्तम स्थान है। लोग तो फलों के बदले भी शाक का प्रयोग करते हैं।

हमारे जीवन का मुख्य हेतु रक्त माना गया है। उसमें काफी लक्षणो-परिस्थत रहे और उसका परिचालन यथाविधि बना रहे, तब यह शुद्ध रहता है। शरीर को खनिज लवणों की आवश्यकता रहती है। रक्त शुद्धि का कार्य हमारा शाक-तरकारियों, फलों से प्राप्त होता है। शाक सुलभ प्रोटीन का भी विशेष महत्व हैं। दूध के भी सम्यक् पाचन के लिए शाकों की विशेष आवश्य-कता पड़ती है। विटामिन भी शाकों में खूब रहती हैं। शाकों का प्रयोग अधिक करने से कब्ज नहीं होती। हमारे लिए धूप कितनी आवश्यक है। धूप में ही शाक-तरकारियाँ वृद्धि पाती हैं।

आयुर्वेद के मतानुसार (सभी) प्रायः विष्टंभी और भारी होते हैं। रूक्ष, अतिमल स्रष्टा, अपान वायु व पुरीप सारक माने गए हैं। आयुर्वेद ने शाकों की हानियों का भी विशेषतः वर्णन किया है—शाक (सामान्यतः) अस्थि भेदन कर्त्ता, नेत्र शक्ति ह्रासक, रक्त-शुक्रनाशक, बाल पकाने वाले, बुद्धिक्षय-कारक, स्मृतिभ्रंश करता है।

इन दोषों पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है, शाकों में प्राप्त क्षारांश की अधिकता से प्रेमहादिक विकार, काष्ठोज (सेल्यूलोज) की अधिकता से आन्त्र की आकुंचन गति तीव्र होकर पूर्ण शोषण न हो सकने के कारण शाकों

का अधिक सेवन शरीर को हानिकारक हो सकता है, अतः यह भी ध्यान में रखना शाकाहार के प्रसंग में उचित ही होगा। फिर भी शाकों में महत्त्वपूर्ण गुण विद्यमान हैं। उत्पन्न अम्लता को शाक परास्त कर देते हैं, यह क्षारांश का उत्तम कार्य है। शाकों और फलों के ऊपर ही लोग कल्प करके जीवित रहते थे, अब भी है। अब आजकल तो शाक-तरकारियों से बढ़कर और किसी को इतना अधिक उपयोगी खाद्य पदार्थ मानते ही नहीं हैं।

शाक सेवन के समय कुछ आवश्यक बातों का ध्यान रखना चाहिए। पत्ते वाले और कन्द शाक केवल दिन में ही खाना चाहिए। रात को हरी तरकारी जैसे लौकी परवल आदि खाना अच्छा रहता है। कच्ची खाने योग्य सब्जियों को कच्चा ही खाना चाहिए। पकाने से लाभ नहीं। ऐसी कच्ची सब्जियों को खाकर फिर रोटी आदि खानी चाहिए। एक ही समय में कई प्रकार की सब्जियाँ प्रयोग करना वर्जित है। यथासम्भव शाक को पकाते समय मसाला कम डालना चाहिए। आँच धीमी हो। बिना ढके पाक डालने से विटामिन समाप्त हो जाते हैं। कोमल तथा मुलायम शाक की पत्तियाँ अधिक गुणों से युक्त हैं। पहाड़ी आलू भी देशी आलू से सुन्दर रहते हैं। हरी पत्तियों में विटामिन ए की अधिक उपस्थिति के कारण वे उपयुक्त हैं। पत्रशाक के खाने के समय विशेष सावधानी रखें। पत्तों में कीटाणु भी हो सकते हैं। सदैव थोड़ा धो-साफ कर प्रयोग करना चाहिए। तरकारियों के छिलकों में खनिज लवण प्राप्त होने से सेवनीय है, अग्राह्य नहीं। यह कोई आवश्यक नहीं कि महंगी तरकारियाँ गुणवान् हों, सस्ती तरकारियों में खूबियाँ तो भरी पड़ी हैं। अतः सस्ती तरकारियाँ यथामात्रा में खूब प्रयोग करते रहना चाहिए।

तरकारियों का रस दिन में तीन-चार बार एक पाव के लगभग की मात्रा में लिया जा सकता है। इनसे पेट खूब साफ रहता है। रस उबाल कर प्रयोग करते हैं। विभिन्न सामान्य विकारों में शाक विभिन्न लाभ करते हैं। कब्ज के समय मूली, पालक, गाजर, गोभी, खीरा, प्याज, परमल, लौकी, मटर, भिण्डी आदि लेना चाहिए। गर्भिणी स्त्रियों को शाक सेवन से विशेष लाभ है। दो, तीन मास से ऊपर के बच्चे को पालक या टमाटर का रस देते हैं। कुछ बड़े होने के बाद शाक बना कर दे। दूध पिलाने वाली माताओं को हरे शाक, टमाटर, गाजर आदि लाभकारी हैं। शाक सेवन से शरीर के विभिन्न अंगों की

सुन्दरता प्राप्त हो सकती है। अतः ध्यानपूर्वक व्यवस्थित आहार लेना चाहिए। प्याज, मूली, टमाटर आदि में सलफर (गँधक) प्रचुर मात्रा में रहने से त्वचा के लिए विशेष लाभ करता है।

आयुर्वेद मतानुसार शाक-सब्जियों के भेद बतलाये गये हैं—पत्र-शाक, पुष्पशाक, फलशाक, तालशाक, कन्द शाक तथा संस्वेदज। ये क्रमशः उत्तरोत्तर भारी होते हैं।

प्रश्न—पत्रशाकों का परिचय दीजिए।

उत्तर—पत्र शाक

पत्र-शाक में यद्यपि विटामिन आदि प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं तथापि इनका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए, मात्रा भी ठीक रखनी चाहिए। यह कच्चे भी खाये जाते हैं वह कुछ पकाकर भी। इस वर्ग के अन्तर्गत इन शाकों का समावेश हो जाता है।

बथुआ (१९६८)

बथुआ प्रसिद्ध शाक है। बथुआ, मधुर, क्षारीय, पाक में कटु, दीपक, रोचन, लघु, शुक्र तथा बलवर्द्धक, सारक, त्रिदोषघ्न तथा कृमि, प्लीहावृद्धि, रक्तपित्त, अर्श, वातरोग, मासिकधर्म की रुकावट इनको नष्ट करता है। यह शाक सर्वऋतुओं में सेवनीय है।

चौलाई (१९६२)

चौलाई सामान्य, किन्तु अनेक रोग नाशक शाक है। चौलाई रूक्ष, शीतल, लघु, रुचिकारक दीपन तथा कफ, रक्त दोष, विष, कास, दाह, शोष, रक्तपित्त, प्रदर नाशक है। कटीली चौलाई की जड़ का शाक बनता है। पत्तियों का शाक आरोग्य के लिए विशेष लाभप्रद है। यह शाक पथरी, कोष्ठबद्धता आदि को नष्ट करता है। बिना शाक बनी चौलाई को अनेक रोगों में आश्चर्यजनक लाभ के लिए प्रयोग करते हैं।

पालक

पालक तो मक्खन से भी तिगुनी विटामिन से युक्त है। यह वातकारक, शीतल, श्लेष्मवर्द्धक, सारक, गुरु, आध्मानकारक तथा मद, श्वास, पित्त-रक्त-कफ जन्य विकार इनको नष्ट करता है। यह शाक सदैव खाना चाहिए।

इनमें कार्वोहाइड्रेट काफी मात्रा में पाया जाता है। पालक के डंठल में वसा की अच्छी मात्रा होती है। पालक को दाल के साथ पकाकर खाने मे स्वाद वढ़ता है।

कुल्फा

कुल्फा स्वयं उत्पन्न हुआ मिल जाता है। इतने सस्ते इस शाक में भी अनेक गुण भरे हैं। यह रूक्ष गुरु, वात नाशक, क्षारीय, दीपन, अर्शोघ्न, विष नाशक है। वड़ी लोभिया अम्ल रेचक उष्ण वातवर्द्धक कफपित्त हर है। कुल्फा साग रक्तपित्त में खाना चाहिए। कुल्फ वात-दोष व्रण, गुल्म, श्वास, कास, प्रमेह, नेत्र रोग नाशक है। कुल्फा शीत काल में विशेष हितकर है।

चांगेरी (२९६२)

चांगेरी भी तमाम जगह मिल जाती है। चांगेरी उष्ण, रूक्ष, अम्लरस युक्त, अग्निदीपन कर्ता रोचक, पित्तल, एवं ग्रहणी, अर्श, कुष्ठ, अतिसार, गुदभ्रंश रोगों को नाश करती है। चांगेरी का रस व शाक—इन रोगों मे अतिशय लाभकारी है।

मूली

यहां मूली के पत्तों के शाक का भी उल्लेख आवश्यक है। यह शाक पाचन, लघु, रोचक, उष्ण है। पत्ते कच्चे खाये जावें तो कफ व पित्त को वढ़ाते हैं। घी के साथ पकाया गया शाक त्रिदोष नाशक है। मूली का शाक प्लीहा-वृद्धि, अर्श आदि के रोगियों को खिलाना चाहिए। ववासीर में मूली को घी में तल-कर खाना विशेष लाभप्रद पाया गया है। मूली के वीज व अन्य रोगों को विना शाक वनाये अनेक रोगों में योग वनाकर देते हैं।

सोये

सोये का शाक उष्ण मधुर, रोचक, पित्तवर्द्धक है और गुल्म, शूल, व्रण, तृष्णा, सन्धिवात, कटिशूल, उदरविकार नाशक है। शाक-सब्जियों को सुगन्धित वनाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। स्वतन्त्र रूप से भी इसका शाक उप-भोग मे लाया जाता है।

पुनर्नवा (गदहपुर्ना)

पुनर्नवा (गदहपुर्ना) अत्युपयोगी विभिन्न रोग नाशक शाक है। शाक

बनकर शोथ में अधिक देते हैं। सामान्यतः इसकी सब्जी अति रूक्ष, कफवात-नाशक, मंदाग्नि, प्लीहा, शूल गुल्म नाशक है। पुनर्नवा का काढ़ा, स्वरस, मूल, पत्र आदि अनेक रोगों यथा—हृद्रोग, पाण्डु, नेत्ररोग, श्वास, वृश्चिक दंश, अन्तर्विद्रधि, कामला, ज्वर, जलोदर के नाशनार्थ प्रयुक्त किया जाता है।

गोभी

गोभी कफपित्त को नष्ट करती है। लघु, कटु, कपाय, शीतल, हृदय को लाभदायक है। विटामिन सी ६६ मिलीलीटर प्रति १०० ग्राम होती है। गोभी की घी में बनी तरकारी अर्श नाशक है। गाँठ गोभी त्रिदोप नाशक है; मधुर, शीतल भारी होती है। गोभी के पत्ते लघु, कुष्ठ, प्रमेह, रक्तदोप, मूत्रकृच्छ, ज्वर, नाशक, गोभी मे कार्बोहाइड्रेट काफी मात्रा मे प्राप्य है।

उपरोक्त शाको के अतिरिक्त निम्नाकित कुछ और शाकों का भी उल्लेख पत्र-शाकवर्ग में मिलता है—

१. पोतकी (पोय) २. मरिपा (मरसा)
३. कालशाक (नाड़ीशाक) ४. चुक्रिका (चूका)
५. चंचु (चेंवुना) ६. हिलमोचिका (हुलहुल)
७. शितिवार (शिरियारी) ८. सर्षप (सरसों)
९. कारमर्द (कसोंदी) १०. कसाय (मटर शाक)
११. गुडूची (गिलोय) १२. पटोल पत्र (परमल के पत्ते)

प्रश्न—फलशाकों का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—टमाटर

टमाटर वहुत उपयोगी सब्जी है। दुर्बल आदमी को इसका रस विशेष लाभप्रद है। इसे फल भी माना जाता है और तरकारी भी। टमाटर में थोड़ी मात्रा में मैलिक एसिड, आक्जैलिक एसिड, साइट्रिक एसिड पाये जाते है। पाँच प्रकार के इसमें विटामिन प्राप्य है। इसके साथ ही इसमें लवण, पोटाश, लौह चूना और मैग्नेशियम पर्याप्त मात्रा मे है। यकृत, वृक्क पर उत्तम प्रभावकारी है। पकाकर देने की अपेक्षा कच्चा खाना विशेष लाभप्रद है।

परमल (१९६३)

परमल शाक अत्यन्त प्रचलित है। परमल पाचक, हृदय को हितकारी, वीर्यवर्द्धक, हल्का, अग्निदीपन, स्निग्ध, उष्ण, त्रिदोपघ्न तथा ज्वर, कृमि रोग,

कास, रक्तविकार कब्ज को दूर करता है। परमल के पत्ते पित्त को विशेष रूप से शान्त करते हैं। परमल एक कड़ुआ भी होता है, सब्जी मीठे वाले परमल की ही बनाई जाती है। इसको सभी खाते हैं, रोगियों को प्राय: अधिक दी जाती है।

लौकी

लौकी सर्वप्रचलित शाक है, इसे घिया, कद्दू, या तुम्बी भी कहते हैं। कड़वी लौकी सब्जी के काम नहीं आती है। लौकी गुरु, शुक्ल, हृदय को प्रिय, पित्त तथा कफ नाशक, रोचक तथा धातु पौष्टिक होती है। इनमे कुछ रोग भी निष्कासित किये जा सकते हैं। राजयक्ष्मा, उपदंश, रक्तपित्त के रोगियों को देना चाहिये। यह प्रयोग सिद्ध हुआ है कि पायोरिया मे लौकी हानिकारक है।

करेला

करेला जैसी सामान्य किन्तु आश्चर्यजनक गुण युक्त वस्तु शाक के रूप मे शौक से खाई जाती है। करेला के शास्त्रोक्त गुण इस तरह है—शीतल, मल-भेदक, दस्तावर, लघु, तिक्त तथा ज्वर, पित्त कफ, रक्तविकार, पाण्डुरोग प्रमेह कृमिनाशक है। पित्तकफ को नष्ट करता है फिर भी वात दोष की वृद्धि नहीं करता। क्वार मास में करेले की तरकारी नहीं खानी चाहिये। करेले को विभिन्न विधियों से मधुमेह, अर्श, रतौंधी, बच्चों का पेट फूलना, शीतज्वर पित्तज शिरःशूल मे प्रयोग करके लाभ उठाते हैं।

तोरई या तरोई

तरोई या तोरई सामान्य शाक है। शीतल, मधुर, दीपन, वातकारक, पित्तकारक, कफ को भी बढ़ाती है तथा श्वास ज्वर, कास, कृमि दन्तशूल, अर्धावभेदक (अधकपारी), मृगी रोग, अर्श व्रण में विभिन्न विधियों से प्रयोग करने पर लाभ करती है। तरोई एक मीठी होती है और दूसरी कड़वी। शाक मीठी तरोई का बनाया जाता है। इसका छिलका न निकालें, तो अच्छा रहता है।

कटहल

कटहल सर्वपरिचित फल है। कच्चा कटहल ग्राही, वातकारक, कषाय, गुरु दाहकारक, मधुर बलदायक कफ तथा मेद की वृद्धि करने वाला है, पका हुआ फल शीतल स्निग्ध वातपित्तहर तृप्तिकारक स्वादिष्ट मांस बढ़ाने वाला पौष्टिक

अत्यन्त कफकारक तथा शुक्राल्पता रक्तपित्त क्षय व्रण नाश करता है। कट-हल में कार्बोहायड्रेट प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है :

फलशाक वर्ग में वर्णित उक्त फल शाकों के अतिरिक्त निम्नांकित कुछ विशेष शाकों का उल्लेख प्राप्त होता है—

१. कूष्माण्ड (कुम्हेड़ा)	२. कर्कटी (ककड़ी)
३. चिर्चिण्ड (चिचेंड़ा)	४. महातोशातकी (नेनुआं)
५. तिम्वी (कन्दूरी)	६. शिम्वी (सेम)
७. वृन्ताक (वेंगन)	८. डिण्डिश (ढेंढश)

प्रश्न—पुष्प शाक, कन्द शाक, नाल शाक तथा संस्वेदज शाक वर्गों के प्रमुख शाकों का परिचय दीजिए।

उत्तर—(क) कन्दशाक—कच्चे वहुत पके हुये कृमि लगे तथा अग्नि से दूषित कन्दकाओं को काम में नहीं लेना चाहिए।

आलू

कन्दशाकों में आलू सर्वाधिक प्रचलित है। आलू के ३-४ भेद होते हैं। फिर भी सामान्य रूप से आलू शीतल, गुरु, मधुर, रूक्ष, मूत्र व मल प्रवर्तक, दुर्जर, वातकफकारक, वलदायक तथा रक्तपित्त, दौर्वल्य नाशक है। प्रायः यह आलू रोगियों को नहीं दिया जाता है। स्वस्थ मनुष्यों के ही काम की चीज है। इसमें पोषक तत्त्व ही पर्याप्त हैं। इसको अकेला न खाना चाहिए। पहाड़ी आलू में तो कार्वोहाइड्रेट ६८·७% होता है। आलू को आग में भूनने से उसका श्वेत सार (Starch) शीघ्र पानी हो जाता है।

प्याज

प्याज प्रसिद्ध कन्द है। यह पाक व रस में मधुर, शीतल, कफकारक, वल, वीर्य की वृद्धि करना है. वातघ्न व अधिक पित्तल नहीं हैं। यह अनेक रोगों को नष्ट करती है। यह रसायन, स्मरण शक्ति को वढ़ाने वाली, कण्ठ साफ करने वाली है। प्याज कच्ची भी खाई जाती है, पत्तियों का शाक वनता है और प्याज भी स्वतन्त्र या सहायक रूप में सव्जी के रूप में प्रयोग की जाती है। लू व हैजे के दिनों में विशेष लाभदायक है।

लहसुन

लहसुन तो अत्युपयोगी महौषधि है। इसमें पांच रस विद्यमान हैं। यह

पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, स्निग्ध, उष्ण, पाचक, विरेचक, पाक में कटु, भग्न-संधान कर्त्ता, कण्ठशोधक, गुरु, पित्त-वर्द्धक बल व वर्ण के लिए उत्तम-मेध्य, नेत्रों को सुखदायक, रसायन है। तथा अनेकों रोगों को विभिन्न रूप से प्रयोग करने से नष्ट करता है। यह भोजन को स्वादिष्ट बना देता है।

गाजर

गाजर सामान्य कन्द है। यह तीक्ष्ण, मधुर, उष्ण, लघु, अग्निदीपक, ग्राही कफवातहर तथा रक्तपित्त, अर्श संग्रहणी, हिचकी, आधासीसी (सिर का दर्द) खुजली में लाभकारी है। चर्म रोग में लगातार खाना चाहिए। बल भी बढ़ाती है। गाजर की पत्तियों का भी शाक बनाया जाता है। गाजर में विटमिन C मिलता है।

उपरोक्त कन्दशाकों के अतिरिक्त कई आलू के भेद, आलू की (घुइयाँ या अरई), मानक (मानकन्द) वाराही, (वाराहीकन्द), कसेरुक (कसेरू) तथा शाकक (भंकीड़ा) प्रभृति शाकों का उल्लेख प्राप्त होता है।

सूरण

यह कषाय कटुरस युक्त, अग्निदीपक, रूक्ष, खुजली करने वाला, विशद, रोचक, लघु, कफ अर्श नाशक है, जिमीकन्द अर्श के रोगियों को पथ्य है। सम्पूर्ण कन्द शाकों में सूरण को श्रेष्ठ माना जाता है। सूरण का अचार (सन्धान) विशेष लाभप्रद है। दद्रु, कुष्ठ तथा रक्तपित्त के रोगियों को हित नहीं हैं।

सामान्यत: जो कन्दशाक आम (कच्चा), बिना ऋतु में उत्पन्न हुआ हो, पुरान व्यथित, कीट आदि का खाया हुआ हो, अग्नि आदि से दूषित, अत्यन्त जीर्ण, रूक्ष, तैल आदि में पकाया न गया हो, निकृष्ट भूमि में उत्पन्न हुआ, कठिन, अत्यन्त कोमल, अत्यन्त शीतल—ऐसे लक्षणों से युक्त कन्द हो, उसे नहीं खाना चाहिए।

(ख) पुष्प शाक

इस वर्ग में कई वनस्पतियों के पुष्पों को शाक के रूप में व्यवहार करने का निर्देश किया गया है। इसमें अगत्स्य (अगस्त), कदली (केला), शिग्रु (संहिजन) शाल्मली (सेमल) के पुष्पों का समावेश है।

(ग) नाल शाक

नाल शाक वर्ग में सर्षप नाल (सरसों की डंडी) के शाक का उल्लेख शास्त्र में मिलता है।

(घ) संस्वेदज शाक

इस वर्ग में पसीम से उत्पन्न क्षुप (फंगाई ग्रुप) क्षत्रक हैं। संस्वेदज (मुई-छत्ता) तथा सम्वन्धित क्षुपों का संस्वेदज शाक के वर्ग में समावेश होता है। ये शीतल, दोषकारक, पिच्छिल तथा वमन, अतिसार ज्वर, कफ उत्पन्न करने वाले हैं।

प्रश्न—दुग्ध वर्ग मधुवर्ग तथा स्नेह वर्ग पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—दुग्ध वर्ग (१६६१, ६२, ६५, ६६,६७, ६८)

दूध मधुर,स्निग्ध, वात तथा पित्त नाशक, सारक, वीर्य को शीघ्र ही उत्पन्न करने वाला, शीतल, सबको सात्म्य, जीवन रूप, मेध्य, आयु को बढ़ाने वाला—रसायन, वाजीकरण है तथा जीर्ण ज्वर मानसविकार शोष, उन्माद, मूर्च्छा, भ्रम, संग्रहणी, पाण्डुरोग, दाह, तृषा, हृदय रोग, शूल, गुल्म, वस्तिरोग, अर्श, रक्तपित्त, अतिसार, गर्भस्राव, श्रम, ग्लानि नाश करता है। बालक, वृद्ध क्षतक्षीण, भूख से दुर्बल प्राणी को दूध का सेवन अवश्य करना चाहिए।

दुग्ध वर्ग के अन्तर्गत गाय, भैंस, बकरी, मृगी, घोड़ी, ऊंटनी, हथिनी, स्त्री के दुग्ध आते हैं। गाय का धारोष्ण दूध काफी गुण करता है। मध्यान्हकाल में दूध का पीना बलवर्धक तथा पित्तनाशक, अग्नि को दीप्त करने वाला होता है। रात्रि को पिया गया दूध बालकों को, वृद्ध लोगों को, वीर्यवर्द्धक, अत्यन्त पथ्य, नेत्रों को लाभ करने वाला तथा अनेक दोषों को शान्त करता है।

मधुवर्ग (१६६६, ६८, ७३)

शहद शीतल मधुर, रूक्ष, ग्राही, विलेखन, नेत्रों के लिए हितकारी, अग्नि-दीपन, स्वर्य, व्रणशोधक—रोपण, स्रोतोविशुद्धिकारक, प्रसादजनक वर्ण को उज्ज्वल करने वाला, बुद्धिकारक, वृष्य, विशद, रुचिकर, योगवाही, किंचित् वातकारक और मेद, तृषा, वमन, श्वास, हिक्का, अतिसार मलबन्ध, कुष्ठ, अर्श, कास नाशक है।

माक्षिक, भ्रामर, क्षौद्र, पौत्तिक, छात्र, आर्घ्य, औद्दालक और दाल—ये

६ भेद होते हैं। नवीन मधु पुष्टिकारक, दस्तावर तथा अति कफघ्न नहीं है। पुराना मधु ग्राही, रूक्ष, लेखन तथा मेद को नष्ट करने वाला होता है। शहद (मधुमक्खियों) के छत्ते से मोम कुछ निकलता है, वह कोमल, स्निग्ध, वातनाशक तथा व्रण, अस्थिभग्न, भूतबाधा, कुष्ठ, विसर्प, रक्त विकारों में लाभ करता है।

विभिन्न दुग्ध तथा गुण (१९६१, ६८)

निघण्टुओं में दुग्ध के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। सामान्य रूप से दुग्ध के पर्याय ये हैं (दुग्धं क्षीरं पयः स्तन्यं बालजीवनमित्यपि—
—भा. नि.)

१. दुग्ध। २. क्षीर। ३. पयस्। ४. स्तन्य। ५. बालजीवन।

दुग्ध के सामान्य गुण बताये जा चुके हैं। और इसको विभिन्न कर्म कर्त्ता तथा रोगनाशक कहा गया है। गोदुग्ध (गाय का दूध) विशेषकर रस-विपाक में मधुर शीत, दुग्धवर्धक, वातपित्तहर, रक्तशोधक, दोष धातु मल व नाड़ियों में किंचित् क्लेदकारक, गुरु तथा निरन्तर सेवन करने वालों की वृद्धावस्था तथा समस्त रोगों को शमन करने वाला है।

कृष्ण वर्ण आदि भेद से गायों के दुग्ध में गुण-कर्म की दृष्टि से वैशिष्ट्य होता है (कृष्णायांगोभवेद् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्—भा० नि०)। सद्यप्रसूता (तुरन्त ब्याही हुई) आदि गायों का दुग्ध त्रिदोषकारक होता है। देशविशेष से गायों के दुग्ध में अन्तर होता है, जैसे—जांगल, आनूप तथा पर्वत पर चरने वाली गायों का दुग्ध में अपेक्षाकृत गुरुता अधिक होती है, (जैसे—जांगलानूप शैलेषु-चरन्तीनां तथोत्तरम्···तथाऽह्नात प्रवर्तते—भा० नि०)।

इसके अतिरिक्त जो गाय जैसा आहार लेती है, तदनुसार उसके दुग्ध में गुणों की दृष्टि से अन्तर मिलेगा (स्वल्पान्नभक्षणाजातं क्षीरं गुरुकफप्रदम्, आदिं···भा० नि०) निघण्टु में इन प्राणियों के प्रमुख रूप से स्वतन्त्र गुणकर्मों का उल्लेख किया गया है—

१. माहिष (भैंस)। २. मृगी (हिरनी)। ३. आविक (भेड़)। ४. घोटकी (घोड़ी)। ५. औष्ट्र (ऊँटनी)। ६. हस्तिनी (हथिनी)।

विशेषत, नारीदुग्ध औषध तथा शिशु आहार की दृष्टि से उपयोगी है।

स्त्री का दुग्ध लघु, शीतल, अग्निदीपक एवं वात, पित्त, नेत्रों का शूल तथा अभिघात नाशक है और नस्य, आश्च्योतन कर्म के लिए उत्तम है।

धारोष्ण दुग्ध के गुण इस प्रकार हैं—धार के रूप में तुरन्त निकाला हुआ दूध बलकारक, लघु, शीतल, अमृत के समान, अग्निदीपक तथा त्रिदोष-नाशक है। दुहने के बाद देर तक रहने के बाद शीतल हो जाने पर छोड़ देना चाहिए। यदि पीना हो तो गर्म करके पीना चाहिए। धारोष्ण (दुहने के समय उष्णता रहती है) दुग्ध गाय का उत्तम होता है। धाराशीत (दुहने के समय रहने वाली उष्णता समाप्त होकर शीतल हो जाता है) दुग्ध भैंस का उत्तम होता है।

उबाला हुआ दूध भेड़ का पथ्य रहता है (शृतोष्णमाविकं पथ्यं शृत-शीतमजापय:) उबालकर शीतल किया बकरी का दुग्ध पथ्य होता है। गाय तथा भैंस के दूध को छोड़कर सभी प्रकार के दुग्ध (कच्चे) अभिष्यन्दी, गुरु कफ तथा आमवर्धक, अपथ्य होता है (ज्ञेयं सर्वमपथ्यं तु गव्यमाहिषवर्जितम्) परन्तु स्त्री का कच्चा ही हितकर होता है (नारी क्षीरं त्वाममेव हितं न तु शृतं हितम्)

सामान्य रूप से, दूध में आधा भाग जल मिलाकर गर्म किया जावे और जब सारे दूध में केवल दूध का भाग शेष रह जावे तो पीने पर कच्चे दूध की अपेक्षा अधिक लघु होता है (अर्द्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं पय:)। बिना जल मिलाया हुआ दुग्ध जितना औटाया जावे, उतना अधिक उत्तरोत्तर-गुरु, स्निग्ध, वीर्य तथा बल का वर्धक तथा ऐसा दुग्ध तीक्ष्ण अग्नि वालों के लिए हितकर होता है।

दुग्ध के वर्णन-प्रसंग में कई संज्ञायें है—

१. पीयूष—तत्काल व्याही हुई गाय-भैंस आदि का गाढ़ा दुग्ध।

२. किलाटक—बिगड़े हुए दूध को औटाने से गाढ़ाकर पिण्डाकार।

३. क्षीर शाक—कच्चा ही फटा हुआ दूध।

४. मोरट—दूध फट जाने पर, वस्त्र में बाँधने से टपकने वाला जल।

५. तक्रपिण्ड—दूध दही या तक्र के संयोग से फट जाने से उक्त जल भाग निकल जाने पर अवशिष्ट रहा भाग।

स्नेह वर्ग (१६६१, ६२)

घृत (घी) मधुर, शीतवीर्य, शीतल, वृष्य, अग्निनेदीपक, मधुरपाकी, पित्त वात नाशक, विषघ्न, पाप-दारिद्र्य नाशक, किंचित् अभिष्यन्दि, स्निग्ध कफ-कारक, स्वर को निर्मल करने वाला, आयुवर्धक, कान्ति, बल तेज वर्द्धक है और ज्वर, उन्माद, उदावर्त्त, शूल, अफारा, वर्ण क्षय, विसर्प, रक्त विकार, दौर्बल्य आदि रोगों में प्रयोग किया जता है।

घी अनेक बकरी, घोड़ी आदि के दूध का बनता है। दूध से निकला हुआ घी ग्राही, शीतल, नेत्र रोग, पित्त, दाह, रक्त विकार, मद, मूर्च्छा, भ्रम तथा वातनाशक है। पहले दिन दूध से निकले घी को शास्त्र की परिभाषा में हैयंगवीन कहते हैं। एक वर्ष का रखा घी पुराणघृत कहलाता है। सभी घी जितने प्राचीन होते हैं उतने ही उनमें गुण अधिक आते जाते हैं। बालक वृद्धि, राजयक्ष्मा, कफरोग, आमव्याधि, विषूचिका, मलबन्ध, मदात्यय, ज्वर, मन्दाग्नि में भी घी अधिक देना चाहिये।

तिल आदि स्निग्ध वस्तुओं का जो स्नेह भाग निकलता है, उसे तैल कहते हैं। सरसों का तेल अधिक प्रचलित है। सरसों का तैल पाक में कटु, लघु लेखन, वीर्य उष्ण, तीक्ष्ण पित्त, रुधिर को दूष्ट करने वाला व कफ, मेद, वात, व अर्श, मस्तक के रोग, कर्ण रोग, खुजली, कुष्ठ, कृमि, कोढ़ नाशक है। सर्व-तैलों के गुण इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जो तैल जिस पदार्थ से निकाला गया होता है, वह उसी की तरह प्रायः गुण करता है। इसी से काम चला लेना चाहिए।

प्रश्न—मांसवर्ग, धान्यवर्ग तथा लवणवर्ग पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—मांसवर्ग—प्रायः हर प्रकार के मांस वायुनाशक, धातुवर्धक, बल-वर्द्धक, तृप्तिदायक, देर में पचने वाले (भारी), हृदय को लाभदायक तथा पाक में मधुर है। मांस के अनेक भेद होते हैं। जांगल, आनूप और साधा-रण वर्ग यह तीन प्रकार से मांस वर्ग है।

जांगल वर्ग में जंघाल, बिलस्थ, गुहाशय, पर्णमृग, विष्किर, प्रतुद, प्रसह, ग्राम्य आठ मांस होते हैं। अनूप मांस वर्ग में कूलेचर, प्लव, कोशस्थ, पादी, मात्स्य यह पांच और इन्हीं के अन्तर्गत साधारण वर्ग भी समाविष्ट हो जाता

है। आनूप जातियों के मांस मधुर, स्निग्ध चिरपाकी, अग्नि की मन्दता करने वाले, कफ कारक, मांस को पुष्ट करने वाले, अभिष्यन्दी व विशेषतः पथ्य के लिए अत्युत्तम है। जांगल जातियों के मांस मधुर, रूक्ष, कषाय, बलदायक, धातु-वर्द्धक, पौष्टिक, अग्निदीपक, शीघ्रपाकी, बलनाशक, मूकता, अर्दित (मुख की मांसपेशी का आघात), बहिरापन, अरुचि, वमन, प्रमेह, मुखरोग, श्लीपद गलगण्ड तथा वातरोग नाशक है।

धान्यवर्ग (१९६१, ६२, ६३)

शालि, व्रीहि, शूक, शिम्बी और क्षुद्रधान्य ये धान्यों के पाँच भेद शास्त्रों में कहे गये हैं। शालिधान्य के अन्तर्गत लाल रंग के चावल, साठी इत्यादि आते हैं। शालिधान्य मधुर, स्निग्ध, बलदायक, अल्पपरिणाम में बद्ध मल को निष्कासित करने वाले, कषाय, लघु, रुचिकारक, स्वर को उत्तम करने वाले, वीर्य-वर्द्धक, शरीर को पुष्ट करने वाले, किंचित् वात कफ कारक, शीतल, पित्त नाशक एवं मूत्रवर्धक हैं। शालिवर्ग में रक्तशालि, कलम, पाण्डुक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कर्दमक, महाशलि दूषक पुष्पाण्डक शूक पुण्डरीक, महिषमस्तक दीर्घ-काचनक, हायन और लोध्रपुष्प आदि आ जाते हैं। व्रीहिधान्य मधुर, वीर्यवान् शीतल, अल्पाभिष्यन्दी मलरोधक तथा अन्य गुण साठी चावल के समान होते हैं। इस व्रीहि वर्ग में कृष्ण व्रीहि पाटल कुक्कुटाण्डक, शालमुख, जतुमुख आदि समाविष्ट हैं। षष्ठिक, शतपुष्प, प्रमोदक, मुकुन्दक, महाषष्टिक आदि साठी चावल इसी वर्ग में आ जाते हैं।

शूकधान्य कषाय, मधुर, शीतल, लेखन, कोमल, रूक्ष, गुरु, बल्य, स्वर बढ़ाने वाले, वात मल की वृद्धि कारक, दीपन, वर्ण्य तथा श्वास, गरस्तम्भ, रक्तविकार, तृषा, कण्ठरोग, चर्मविकार, पीनस, रोगों को नाश करने वाले होते हैं। शूक धान्यों के अन्तर्गत अतियव, निःशूक, कृष्णयव, अरुणयवों की जातियाँ हैं।

शिम्बी धान्य मधुर, रूक्ष, कषाय, पाककटु, वातल, कफ तथा पित्त नाशक, मूत्र व मल की बद्धता कारक शीतल होते हैं। मूग व मसूर को छोड़कर सभी आध्मान करते हैं। इनमें शिम्बी (सेम या फली) उत्पन्न होने वाले धान्यों का उल्लेख किया जाता है।

क्षुद्रधान्य अनुष्ण, कषाय, लघु, मधुर, विपाक में कटु, रूक्ष, क्लेदशोषक,

वातकारक, मलबद्धताकर, पित्तकफ दोष व रक्तविकार नाशक हैं। इसमें कंगुनी कोद्रव, ज्वार आदि आते हैं। प्रायः एक वर्ष के प्राचीन धान्य सेवन करना अच्छा रहता है।

लवण वर्ग

लवणों में सैन्धव, सामुद्रलवण, शाकम्भरीय, विड्लवण, सौवर्चल लवण, औद्भिदलवण हैं। सैंधानमक स्वादिष्ट, दीपन, पाचन, लघु स्निग्ध, रुचिकारक, शीतल, वृष्य सूक्ष्म, नेत्रों को हितकारी तथा त्रिदोष नाशक हैं। सांभर नमक लघु, अल्पुष्ण वातनाशक, भेदन, पित्तकारक, तीक्ष्ण, सूक्ष्म अभिष्यन्दी, कटु-विपाकी होता है। काला नमक (सौवर्चल) रुचिकारक, मलभेदक, दीपन, अतिपाचन, स्निग्ध, विशद, लघु एवं वायुनाशक, सामान्य पित्त कारक है। सामुद्रलवण (पांगा) मधुर, पाक में कटु मधुर, गुरु, साधारणोष्ण, अग्निप्रदीपक, मलभेदक, क्षारीय, दाहहीन, कटु, स्निग्ध, साधारणतया शीतल तथा वातघ्न, कफकारक है।

प्रश्न—रसोपरस कौन से हैं ? इनमें से प्रमुख द्रव्यों के शोधन मारण का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर—रस (१९६१, ६२, ६३, ६५, ६८, ७२, ७३)

रसायनार्थ मनुष्य पारद को खाते हैं, अतः इसका रस के रूप में विशेष महत्व है। शंकर जी के अंग से जो वीर्य पृथ्वी पर गिरा वह शरीर का सार भाग होने से श्वेत व स्वच्छ था, यही पारद कहलाया। पारद की अल्प मात्रा देने से शीघ्र क्रियाशील होकर आरोग्य प्रदान करता है। उसके सेवन में भी अरुचि नहीं हो सकती। शीघ्र नीरोगता देने के कारण रस अन्य औषधियों से श्रेष्ठ है। पारद के रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक पांच पर्याय हैं। पारद चार तरह का बताया गया है—श्वेत (ब्राह्मण जाति), रक्त (क्षत्रिय जाति) पीत (वैश्य जाति) तथा कृष्ण (शूद्र जाति)।

जिस पारद का अन्तःभाग अधिक नीलवर्ण का तथा बाहरी भाग दोपहर के सूर्य की तरह उज्ज्वल रंग का हो ऐसा पारद औषध कर्म के लिए ग्राह्य है। अशुद्ध पारद धूम्रवत्, कृष्णवर्ण, परिपाण्डु, विचित्रवर्ण का होता है। नाग, वंग, मल, अग्नि, चंचलता, विष, गिरि और असह्यअग्नि ये पारे के स्वाभाविक दोष हैं; सप्त कंचुकदोष-पर्पटी, पाटली, भेदी, द्रावी, मलकारी, अन्धकारी, ध्वांक्षी हैं;

अशुद्ध पारद का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। अन्यथा देह का नाश और महाभयंकर रोगों को पैदा करके अनेक भयानक बाधाओं को प्राप्त करता है।

पारद छः रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, अति वीर्यवर्द्धक, योगवाही, रसायन, सर्वदा नेत्रों में लाभदायक, सर्वरोग नाशक और विशेषतः कुष्ठों को लाभ करता है। पारद का शोधन करने के लिए उसे ५ तोला तो अवश्य ही लेना चाहिए।

सामान्यतः पारद का शोधन इस प्रकार करें। रसौंत के रस का पान के रस और त्रिफला के क्वाथ द्वारा यथाक्रम से मर्दन कर भली-भाँति धो लें। उसके वीर्यवर्द्धनार्थ नीबू के रस में और अम्ल में मर्दन कर लेने के बाद प्रयोग कर सकते हैं।

विशिष्ट शोधन क्रम में पारद के अठारह संस्कारों को जानना चाहिए। इनमें निम्न आठ संस्कार विशेष ज्ञातव्य हैं। सर्वप्रथम मल शैथिल्य कारण के लिए स्वेदन विधि करते हैं। त्रिकटु, सैंधानमक, त्रिफला, चीते का क्वाथ कांजी में डालकर दोलायन्त्र में एक दिन पकावें। मर्दन संस्कार में वहिर्दोष निराकरणार्थ सैंधानमक, गृहधूम्र, राजिका और शुण्डी से ३ दिन तक मर्दन करते हैं। पारद की उद्धृति क्रिया करने के लिए पारद से चौथाई मात्रा में हल्दी का चूर्ण और घृतकुमारी के रस में पारे को मर्दन कर पातन यन्त्र से ऊर्ध्व पातन करना चाहिए। पातन क्रिया में तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वपातन में पारे को शुद्ध किये ताम्र के साथ माँड़कर तीन बार ऊर्ध्वपातन करना चाहिए। अधोपातन में पारद को त्रिफला, सैंधानमक, चीता, घृतकुमारी के रस में मर्दन कर भूधर यन्त्र में अधःपतित करें। अब तिर्यक पातन क्रिया में कांजी के साथ शोधित अभ्रक और पारद एकत्र मांडकर एक ताल में पका कर तिर्यक पातन यन्त्र में गिराते हैं, अब रोधन क्रिया की जाती है। इसमें खिले हुए कमल में बांधकर रखने से पारे की निरोध क्रिया सम्पादित हो जाती है। इसके बाद नियामन संस्कार की बारी आती है : कांकरोल, श्वेत अपराजिता कमल और भृंगराज द्वारा कांजी के साथ तीन दिन भिगोना चाहिए। दीपन संस्कार में जवाखार, सज्जीखार, सैंधव, सीसा, राई, सरसों, सहंजना अम्लवेतस, मिर्च, कांजी, इन द्रव्यों के साथ पारद का मर्दन करके नेपाल देश के ताम्र पत्र में सुखाना चाहिए।

क्रमानुसार शोधन, स्वेदन, मर्दन आदि संस्कार कर पलाश बीज, चन्दन नीबू के रस में मर्दन कर भूधर यन्त्र अथवा बालकायन्त्र में पाक करने से पारद का मारण होता है। अपामार्ग बीज और पद्म कल्क के साथ पारद को मूषाबद्ध कर पुटपाक करने से भस्मीभूत हो जाता है।

उपरस (१९६६, ६८)

गंधक, हिंगुल, अभ्रक, हरिताल, मैनशिल, सुरमा, सुहागा, लाजवर्त्त, चुम्बक, फिटकरी, शंख, खड़िया, गैरिक, कसीस खपरिया कौड़ी, बालू, बोल, कंकुष्ठ, सौराष्ट्रीय मिट्टी ये सब उपरस माने गये हैं।

गंधक (१९६३)

गंधक—पार्वती के रज रंजित वस्त्र से जो क्षीर सागर में स्नान करते समय द्रव्य निकला, उससे गन्धक की उत्पत्ति मानी जाती है। गन्धक चार प्रकार का होता है—रक्त (स्वर्ण-संस्कार मे उपयुक्त) पीतवर्ण (रसायन कार्य के लिए) श्वेत, (रंग विभिन्न कार्यार्थ), कृष्ण वर्ण (स्वर्ण-संस्कारादि सब कार्यों में प्रयुक्त)। सामान्यतः गन्धक अत्यन्त रसायन, मधुर, पाक में कटु, उष्ण वीर्य, कण्डू, कुष्ठ, विसर्प, दद्रु, आमदोष, विष, कृमि नाशक, दीपन, पाचक पोषक है।

गन्धक के शिलाचूर्ण और विष दोनो के निवारणार्थ शोधन किया जाना चाहिए। गन्धक का चूर्ण गाय के घी के साथ अग्नि ताप से पिघला कर घृतक्त वस्त्र द्वारा छान लें और भर गाय के दूध मे भिगोकर जल मे धो डालें।

अभ्रक (१९६१, ६८)

अभ्रक—श्वेत, पीत, रक्त अभ्रक चिकित्सा मे उपयोगी नही। ग्राह्य कृष्ण प्रकार के पिनाक, नाग, मण्डूक वज्र भेद हो जाते है। ग्राह्याभ्रक गुरु, उज्ज्वल नीलाञ्जन वर्ण, सुख निर्मोच्य, मृदु, प्रयुदल होता है।

अभ्रक को अग्नि मे तपाकर त्रिफला क्वाथ या गोदुग्ध में सात बार निषेचन करें। अब धान्याभ्रक बनायें। अभ्रक के चौथाई माधो धान के साथ अभ्रक को एकत्र कम्बल से बांधकर ३ दिन तक जल में भिगोकर रखे। हाथों से मर्दन करने पर कम्बल से जो अभ्रक के छोटे-छोटे कण निकलें वही धान्याभ्रक

है। दो भाग सुहागा के साथ मर्दन कर अन्धमूषा में रख गजपुट में पाक कर लेने से भस्म हो जाता है। अभ्रक कषाय, मधुर, शीतल, आयु, पित्त, वर्धक, त्रिदोषहर, व्रण, प्रमेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदर रोग, ग्रंथि, विष कृमि को नष्ट करता है। मात्रा १-२ गुंजा है।

हरिताल (१६६१, ६३)

हरिताल—सोमल और गन्धक से सम्मिलन के प्रस्तुत हरिताल, वंशपत्र पिण्ड, गोदन्त, बकदाल हरिताल चार प्रकार का होता है जिसमें मुख्यतः पत्र ही ग्राह्य है।

हरिताल पत्रों को पृथक्-पृथक् कूष्मांडस्वरस में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करें। इस प्रकार शुद्ध ताल को पलास मूल के घन क्वाथ से भावना दें। भैंस के मूत्र में चक्रिका बनाकर सुखा लें। कपोतपुट में अग्नि दें और १२ पुटों में भस्म बन जाती है।

हरिताल भस्म अग्नि पर डालने से उसमें यदि धुआँ निकले तो भस्म ठीक जानना चाहिए। यह हरिताल भस्म तो अनेक रोगों में लाभ करती है। सर्व वात व्याधि, पित्तव्याधि, कफ व्याधि, कुष्ठ, मेह, श्वास, कास, क्षय, चर्म रोग नाशक मात्रा $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ गुंजा।

शंख (१६६२)

शंख—शंख के दोनों प्रकारों (वामावर्त्त व दक्षिणावर्त्त) का ही प्रयोग होता है। ग्राह्य शंख स्निग्ध, वृत, दीर्घकाय, सूक्ष्ममुख, गुरु, श्वेत होना चाहिए। शंख खण्ड-खण्ड करके घृत कुमारी स्वरस के मध्य में रखकर गजपुट में अग्नि दे। इसके पहले शोधन करने की विधि प्रसिद्ध है ही कि कांजी या निम्बू रस में मर्दन कर दोलायन्त्र में एक याम स्वेदन करना चाहिए, पुनः मारण कर लें।

यह शंख शीतल पाचन बल्य ग्राही क्षारीय अम्लपित्त परिणामशूल अग्निमांद्य संग्रहणी नेत्ररोग पित्त कफ दोष नाशक है।

हिंगुल

हिंगुल—यह शुकतुण्ड एवं हंसपाक दो प्रधान भेदों का है। ग्राह्य हिंगुल गुड़हल के पुष्प सदृश वर्ण का महोज्ज्वल व गुरु होना चाहिए। हिंगुल से पारद को निकाला जाता है। अदरक के रस में सात बार भावना देकर सुखाने से

हिंगुल निर्दोष होता है। शुद्ध हिंगुल दीपन पाचन बल्य रसायन त्रिदोष प्रमेह आमवात प्लीहावृद्धिहर है। मात्रा आधे से एक गुंजा है।

मनःशिला (१९६२, ६३)

मनःशिला—अशुद्ध मनःशिला का प्रयोग मूत्ररोध विवन्ध बल तथा कान्ति-नाशक है। अतः आर्द्रक (आदी) या अगस्त्य पत्रस्वरस से सात भावनाएं देकर शुद्ध कर लेना चाहिए। मनःशिला कटुतिक्त, उष्णवीर्य, कटुविपाकीस्निग्ध, श्वास, क्षय, अग्निमांद्य नाशक है। इसकी मात्रा १।२४ से १।१६ गुंजा तक है।

प्रश्न—रत्नोपरत्न का परिचय लिखें।

उत्तर—**हीरक** (१९६२, ६३, ६५, ७१)

धन की इच्छा रखने वाले मनुष्य इसमें अत्यन्त प्रेम रखते हैं, अतः इसे रत्न कहते हैं। रत्नों की संख्या ९ है। रत्न (हीरक), पन्ना, पुखराज, मानिक पद्मराग, नीलम गोमेद, लहसुनियां, मूंगा यह होते हैं। इनका सामान्यतः गुण इस प्रकार—भक्षण करने में मधुर, शीतल, हितकारी, सारक तथा नेत्रों को हितकारी है। धारण करने से रत्न विषनाशक, मंगल, मनोज्ञ व ग्रहदोष निवा-रक होते हैं।

हीरक—हीरा नर नारी, नपुंसक तीन प्रकार का होता है, जो हीरा स्निग्ध, उज्ज्वल रेखा रहित, तीक्ष्ण, षट्कोण तथा स्वयं अलेख्य हो, वही ग्राह्य है। प्रायः सब रत्नों में गौर, त्रास, बिन्दु रेखा, जलगर्भता पांच दोष पाए जाते हैं।

तीव्राग्नि में हीरे को गर्म करके शुद्ध पारद में शतधा सेवन करें। इससे भंगुरता भी हीरे में आ जाती है। अथवा कुलथी के काढ़े के साथ एक प्रहर तक भिगोने से हीरा शुद्ध हो जाता है। तदन्तर मारण के लिए शुद्ध हीरा, शुद्ध मनःशिला, शुद्ध गंधक सब समान भाग लेकर गजपुट में अग्नि दें। दूसरी पुट में तथा उसके बाद रसभस्म न डालें। इस प्रकार १४ पुटों में हीरक भस्म बन जाता है।

हीरा परम हृद्य, रसायन, योगवाही, प्रमेह, यक्ष्मा, जीर्ण ज्वर शामक, षड्स संयुक्त, मेध्य, होता है। बलदायक तथा वीर्य की वृद्धिकारक, वर्णदायक, सेद रोगों को नष्ट करता है। मात्रा इसकी १।३२ से १।१६ गुंजा तक है।

रत्नों का सामान्य शोधन-मारण स्मरण कर लेना चाहिए। अम्ल वस्तु द्वारा माणिक्य, जयन्ती के पत्तों के रस से विद्रुम, गोदुग्ध द्वारा मरकत, कुलथी क्वाथ मिले मद्य व कांजी द्वारा पुखराज, चौलाई के रस से हीरा, नील वृक्ष के रस द्वारा नीलमणि, गोरोचन द्वारा गोमेद और त्रिफला के जल द्वारा वैडूर्यमणि का शोधन हो जाता है। आक का रस, मैनशिल, गन्धक और हरिताल के साथ मर्दन करके आठ बार पुट देने से (हीरे को छोड़कर) सब रत्नों का मारण हो जाया करता है।

उपरत्न

कांच, बिल्लौर, मोती की सीप, शंख आदि बहुत से उपरत्न माने गये हैं। जो गुण रत्नों में कहे हैं वही इनमें भी होते हैं परन्तु कुछ न्यून मात्रा में हुआ करते हैं।

अकीक

यह प्रसिद्ध उपरत्न है। गर्म पानी या निम्बू रस में दोलायन्त्र द्वारा १ याम तक स्वेदन करें। फिर शतपत्री अर्क पीस लें। साधारणतः पिष्टी उत्तम है। भस्म के लिए ३ लघुपुट दें। अकीक भस्म रूक्ष, शीतल, हृदयरसायन, मेध्य, रक्तास्रावरोधक तथा प्रदर, उन्माद आदि नाशक है। मात्रा ३ गुंजा से १ माषा तक दे सकते हैं।

प्रश्न—धातु और उपधातु में क्या अन्तर है? दोनों कितनी हैं? उनके क्या नाम हैं? और कहाँ मिलते हैं? इनकी उपयोगिता क्या है। (१९७२)

उत्तर—**धातु**

रसायन आदि कर्मों के कारण शरीर धारक होने से इन्हें धातु कहा जाता है। सोना, चाँदी, ताँबा, रांग, जस्ता, शीशा, लोहा—ये सात धातुयें हैं। इनमें से प्रमुख धातुओं पर टिप्पणी प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वर्ण

पुराने समय में मारीचि, अंगिरा आदि सात परमर्षि थे। उनके आश्रम में इनकी पत्नियों (जो यौवनपूर्ण सुन्दर थीं) को देखकर कामबाण से मुग्ध और पीड़ित चित्त वाले अग्नि देव का जो वीर्य पृथ्वी पर गिरा, वह स्वर्ण नाम से पैदा हुआ। असल सोने को गलाने से वह लाल रंग का हो जाता है, काटने

से रौप्य वर्ण धारण करता है; कसौटी पत्थर पर घिसने से कुंकुम समान वर्ण हो जाता है।

अशुद्ध स्वर्ण मनुष्यों के बल वीर्य का नाशक, अनेकों रोग उत्पन्न कर शरीर को सुखा देता है। सदा दुःख देने वाला तथा मृत्यु भी करने वाला है। त्याज्य स्वर्ण सफेद, कठोर, रूक्ष, खराब वर्ण वाला, मलसहित, गांठदार, तपाने व काटने में काला, कसने में सफेद, हल्का और चोट मारने से फूट जाता है।

स्वर्ण प्रायः दो प्रकार का है—रसेन्द्रवेधज, खनिज। प्रथम प्रभेद के १६ प्रकार के वर्ण तथा खनिज प्रभेद के १४ प्रकार के वर्ण होते हैं। स्वर्ण का शोधन इस प्रकार करते हैं। एक कर्ष स्वर्ण पात्रों पर नीम्बू रस में पीसे हुए मृत्ताकापचक लेप कर कपोत पुट में सात बार पुट देना चाहिए। शुद्ध स्वर्ण, पत्र एक कर्ष (१ तोला), शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध हिंगुल, गन्धक मनःशिला, नरसार प्रत्येक १-१ तोला लें। सुवर्ण पत्र तथा पारद को मिला लें। निम्बू रस में पीसकर उष्ण जल से प्रक्षालन करें। ऐसा करने पर काला द्रव निकलेगा। पूरा द्रव निकल चुकने के बाद शेष द्रव मिला लें और पूर्ववत् अम्ल द्रव से मर्दन करके धूप में सुखाकर लघुपुट में अग्नि देकर भस्म तैयार कर लें। स्वर्ण मधुर, शीतल, मधुरविपाकी, रसायन, त्रिदोषहर, क्षयरोग, प्रमेह, उन्माद जीर्णव्याधि नाशक है। मात्रा आधे से १ गुंजा तथा अनुपान शहद दूध आदि है।

ताम्र (१९६३, ६५)

ताम्र—प्राचीन विद्वानों का विचार है कि कार्तिकेय का जो वीर्य पृथ्वी पर गिर पड़ा, उससे ही ताम्र की उत्पत्ति हुई है। नेपालताम्र स्निग्ध, कोमल गुरु, रंग में गुड़हल के फूल के समान, घनघात सह होता है। म्लेच्छताम्र, कठोर, कृष्णश्वेत, अरुण छाया वाला, लघु भंगुर, कठोर होता है। इसमें से प्रथम का ताँबा ग्राह्य है। अशुद्ध ताम्र के प्रयोग से आयु का क्षय, कान्ति वीर्य बल का नाश और वमन, मूर्च्छा भ्रम उत्क्लद, कुष्ठ, शूल, को उत्पन्न करता है। ताम्र का उचित रीति से भस्म करने से यह—उष्णवीर्य, पित्तकफ-नाशक ऊर्ध्व अधोभाग का शोधन कारक, स्थूलता नाशक, क्षुधावर्धक, नेत्ररोग में हितकर, लेखन, तथा विषदोष, यकृद्विकार, जाठर रोग, कुष्ठ, आमदोष क्रिमी अर्श, क्षय, पाण्डुरोग को नष्ट करके आरोग्य लाभ करता है। मात्रा १ रत्ती है।

ताम्र के पतले पात्रों को चांगेरी स्वरस में सात बार बुझाएं अथवा अष्टमांश सैन्धवयुक्त गोमूत्र में दोलायन्त्र द्वारा दो याम तक स्वेदन करना चाहिए। अब ताम्र का मारण करना चाहिए। शुद्ध ताम्र १ तोला, कज्जली १ तोला दोनों को निम्बूक स्वरस से पीसकर कुक्कुटपुट में पुट दें। तीन पुटों में कृष्ण-भस्म बन जाती है। ताम्र के वान्ति, भ्रान्ति, चित्तसन्ताप, शोष, उत्क्लेद, अरुचि, दाह, मोह—दोषों के निवारणार्थ अमृतीकरणविधि करनी चाहिए। ताम्र भस्म १ पल, शुद्ध गन्धक ½ पल, पंचामृत से मर्दन कर पुट दें। तीन बार पुट देने से अमृतीकरण हो जाता है अथवा निम्बूरस में तब तक पुट देते रहें जब तक ताम्र की कषायता नष्ट न हो जाये।

लौह (१६६५, ६८)

प्राचीनकाल में देवताओं के द्वारा मारे हुए लोमिन नामक दैत्यों के शरीरों से कई प्रकार के लौह पैदा हो गये। लौह तीन प्रकार का होता है—मुंड, तीक्ष्ण व कान्त। मुण्ड लौह मृदु, कुण्ठ, कड़ार—तीन प्रकार का है। तीक्ष्ण, लौह स्वर, सार हृन्नाल, तारावट्ट, वाजिर, कालालौह—६ प्रकार का है। कान्त लौह—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक, रोमकान्त पाँच प्रकार का है। ग्राह्य लौह की परीक्षा कर लेनी चाहिए। उज्ज्वल लौहफलक को धात्री-काशीश से लेप करें। यदि लेप शृंगाकार हो जावे तो उत्तम तीक्ष्ण लौह समझना चाहिए।

लौह के गुरुता, दृढ़ता, ग्लानिकरता, मूर्च्छा दाहकरता, अश्मीरी दोष, दुर्गन्ध—इन सातों दोषों के निराकरणार्थ शोधन करना चाहिए। एक सेर से चार सेर तक लौहचूर्ण को अग्नि में तपाकर त्रिफला क्वाथ अथवा कदली मूल क्वाथ में सात बार बुझाना चाहिए। इसमें लौह एक भाग, ४ भाग त्रिफला सोलह भाग जल, ४ भाग सब शेष रहना चाहिए। मारण इस विधि से करें—शुद्ध लौहे को निम्बुकस्वरस की भावना देकर चक्रिका बना लें। इनको धूप में सुखाकर गजपुट में भस्म करें। पचास पुट लगाने से रक्त वर्ण के कमल के समान लौहभस्म बन जायेगी। निरुत्थीकरण की विधि—गोघृत, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, समान भाग लेकर घी क्वार रस से भावना देकर, गजपुट में भस्म करें एक बार में ही भस्म निरुत्थ हो जाती है।

गुण—मधुर, कषाय, शीतवीर्य, दीपन, कटुविपाक, सर, गुरु, रूक्ष, पित्त-

कफहर, लेखन, वातकारक एवं विष, शूल, शोथ, पाण्डु, अर्श, प्लीहा, यकृत, विकार, मेदोरोग, प्रमेह, उदररोग, यक्ष्मा, श्वास, कृमि, क्षीणता जन्य व्याधि नाशक है। मात्रा १ रत्ती है। वातवृद्धि में विभिन्न अनुपान से सेवनीय है।

उपधातु

धातुओं के अल्प मात्रा योग से बने हुए यौगिक उपधातु कहलाते हैं। आयुर्वेद के अनुसार उपधातु सात हैं। सोनामाखी, रूपामाखी, तूतिया, कांसा, पित्तल, सिन्दूर तथा शिलाजीत। सम्पूर्ण धातुओं में उसी धातु के गुण विद्यमान हैं। किन्तु धातु के अंश कम होने से अल्पगुणवती होती है।

स्वर्ण माक्षिक (१६६२)

यह स्वर्ण की उपधातु है। सोनामाखी स्वर्ण वर्ण की, कोण सहित, स्निग्ध श्यामलकान्ति गुणों से युक्त सदैव लेनी चाहिए। स्वर्ण माक्षिक में अल्प मात्रा में स्वर्ण के गुण विद्यमान हैं। इसके केवल स्वर्ण के ही गुण नहीं होते, बल्कि द्रव्यान्तर के संयोग से अन्य गुण ही होते हैं।

अशोधित स्व०.माक्षिक के सेवन से नेत्र रोग, मन्दाग्नि, कोष्ठवात, हलीमक, कुष्ठ अनेक व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः स्वर्णमाक्षिक को २१ वार तपाकर नींबू के रस में बुझा लेना चाहिए। अब इस शुद्ध स्वर्णमाक्षिक को इसी नींबू के रस में पीसकर गजपुट में १० वार अग्नि देने से लाल रंग की भस्म तैयार हो जाती है। सोनामाखी स्वादु, तिक्त, वृष्य रसायन तथा नेत्र रोग, बस्ति गत व्याधि, कुष्ठ प्रमेह विष, उदररोग, अर्श शोथ, कण्डू नाशक व त्रिदोषघ्न है।

शिलाजतु—ग्रीष्म ऋतु में धातु मिश्रित पर्वत उत्तप्त होकर धातुओ के सार को गोंद की तरह छोड़ते हैं, उसे शास्त्र में शिलाजीत नाम दिया गया है। सौवर्ण, राजस, ताम्र व लौह—इन चार शिलाजीत के भेदों में लौहशिलाजीत उत्तम होता है। गोमूत्रगन्धि (ससत्व) शिलाजीत भी औषधि के लिए अच्छा माना गया है। जो शिलाजीत अग्नि में डालने पर निर्धूम भाव पूर्वक जलता रहे और जल में डालने पर वह पहले तैरता रहे। फिर क्रम से तार की तरह गल कर नीचे बैठ जाये, वही उत्तम मानना चाहिए।

शिलाजीत अनम्ल, कटुतिक्त, नात्युष्ण, कटुविपाक, नातिशीतल होता है। रसायन, छेदन, कफ, कम्प, अश्मरी, क्षय, श्वास, मृगी, वात, अर्श, उन्माद,

कुष्ठ, वमन क्रिमि, ज्वर, पाडु, उदररोग, प्रमेह, गर्भरोग, त्वचा विकार नाशक है। शिलाजीत का शोधन इस विधि से किया जाता है—शिलाजीत के पत्थरों को चूर्ण करके चौगुने जल या गोमूत्र में डालें। भली प्रकार मिलाकर एकान्त स्थान में रखकर मल भाग को एकान्त स्थान में स्थिर होने दीजिए। फिर फिल्टर पेपर या अन्य किसी वस्तु से छान लेना चाहिए। पुनः मृदु अग्नि पर जल को रखकर वाष्प के द्वारा इस जल को उड़ाकर मधुवत् काले रंग की शिलाजीत प्राप्त करते हैं। इसे अग्नि पर तपाने के कारण अग्नितापी कहते हैं। परन्तु जब सूर्य के ताप में सुखाया जाता है तो इसे सूर्यतापी शिलाजीत का नाम देते हैं। शिलाजीत सत्वरूप है, अतः मारण नहीं किया जाता, इस पर मतान्तर है। शिलाजीत की मात्रा २-४ गुंजा तक है।

तुत्थ—ग्राह्य तूतिया गुरु स्निग्ध मयुर—कण्ठप्रनिम उज्ज्वल होता है। तूतिया को रक्तचन्दन तथा मंजीठ के काढ़े से सात बार भावना दें। इस शुद्ध तुत्थ को नींबू रस तथा दही के पानी में तीन घण्टे तक मर्दन करके लघु पुट में अग्नि दें। इससे शीघ्र काले वर्ण की दोषरहित भस्म बन जाती है।

तूतिया कटु क्षारीय कषाय वामक लघु लेखन दस्तावर शीतल नेत्रों को हितकारी, कफपित्त, विष, पथरी कुष्ठ, कण्डू को नाश करता है। मात्रा से रत्ती तथा वमन के लिए १ रत्ती होती है।

प्रश्न—विष तथा उपविष का परिचय दीजिए।

उत्तर—विष

सामान्यतः विष के स्थावर (१० प्रकार का विष), जंगले (१६ प्रकार का विष) तथा गर—तीन भेद होते हैं। परन्तु यहाँ नौ प्रकार के शास्त्रानुसार विष स्मरण रखने चाहिए। वत्सनाभ, हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृंगिक, कालकूट, हालाहल और ब्रह्मपुत्र—ये विष होते हैं।

विष साधारण रूप से रूक्ष, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, शीघ्र व्यवायि, विकासी विसर और दुष्पाच्य है। इन सब दोषों के कारण प्राणों का भी नाश कर देते हैं। कालकूट आदि विष रस कार्य में विष तैयार करने में तथा लौह आदि धातुओं को स्वर्ण में परिवर्तित करने के कार्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। कुछ वत्सनाभ आदि विशेष रूप से शोधित होकर तदन्तर औषध कर्म में उपयोग किए जाते हैं।

जो दुर्गुण अशुद्ध विषों में पाये जाते हैं, वे शोधन करने से हीनता को प्राप्त हो जाते हैं। अतः वत्सनाभ आदि इन विषों का इस विधि से शोधन करें। कन्द विष की छाल छुड़ाकर फेंक दें। फिर उसे टुकड़े-टुकड़े करके एक रात-दिन गो-मूत्र में भिगो रखना चाहिए। फिर उसे तीव्र सूर्य की धूप में सुखा लेने पर शोधन को प्राप्त हो जाता है। इस विधि से सुखाने के बाद चूर्ण कर प्रयोग किया जा सकता है। कन्द विषों का मारण भी किया जाता है सम परिमाण में विष को सुहागा के साथ मर्दन करें। विष—कुष्ठ, चर्मरोग, वातकफनाशक, प्राणदायक पित्तनाशक, पौष्टिक होता है।

उपविष (१९६८, १९७१)

आयुर्वेद में उपविष सात माने गये हैं। आक का दूध, थूहर का दूध, कलिहारी, कनेर, घुंघची, अफीम, धतूरा—ये उपविष होते हैं। अधिक मात्रा में खाने से इससे मृत्यु हो जाती है। सब प्रकार के विष व उपविषों द्वारा पारद का मर्दन करने से उसमें धातु-ग्रासन शक्ति पैदा हो जाती है।

उपविषों की सामान्य रूप से शुद्धि कर सकते हैं। उपविषों में पंचगव्य की भावना देने से सभी प्रकार से वे शुद्ध हो जाते हैं अथवा दोलायन्त्र में दूध के साथ एक प्रहर पाक करने से भी उपविष शुद्ध कर सकते हैं।

(१) अर्क—विरेचक, वायु, कुष्ठ, दाह, विष व्रण, प्लीहा, गुल्म, उदर रोग, क्रिमि, दद्रु, अर्श रक्तपित्तनाशक है। (२) कुचला—कुचला(कुचला)को दो प्रहर दोलायन्त्र में कांजी या गोबर के जल में पका कर घी में भून लेने से यह शुद्ध हो जाता है। यह शीतवीर्य, तिक्त कुछ वायुवर्द्धक, मत्तताजनक, लघु, अतिशय वेदना को शान्तिप्रदान, अग्निवर्धक, पित्तश्लेष्मा और रक्तपित्तनाशक है। (३) गुंजा—के श्वेत व लाल दो भेद होते हैं। गुंजा केशों के लिए हितकारी, वायु, पित्त, ज्वर, मुखशोष, क्रिमि, विषदोष, श्वास, मदात्यय भ्रमनाशक है। (४) लांगली—विरेचक, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तकर, गर्भनाशक, क्रिमि कास, कुष्ठ, अर्श स्फोटक, शूलरोग नाशक है। (५) धत्तूरा—(१९६८) कषाय, मधुर, उष्णवीर्य गुरु मत्तताकर, वर्ण, क्षुधा, वायु कारक तथा ज्वर, कुष्ठ, श्लेष्मा विष दद्रु क्रिमिनाशक है।

(६) कुछ अन्य द्रव्य—जमालघोटा गुरुस्निग्ध विरेचक पित्तकफनाशक

है। इसको भी शुद्ध करके व्यवहार करना चाहिए। जमालघोटा का छिलका छुड़ाकर दूध में वा माहिष के गोबर मिले जल में दोलायन्त्र से १ दिन पकाकर बीच का जीभ (या पत्ते) से अंश अलग कर धूप में सुखा लें। मिलावा पाक में मधुर लघु कषाय पाचक तीक्ष्ण छेदन विरेचन मेदनाशक अग्निवृद्धिकारक वायु व्रण उदररोग कुष्ठ अर्श गुल्म ग्रहणीनाशक है। भिलावे को चूर्णित कर सुर्खी में २ दिन रखकर धो डालने से उसके फल शुद्ध हो जाते हैं तब प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न—जंगम द्रव्यों की उपयोगिता सिद्ध करें।

उत्तर—जैसा कि स्पष्ट है द्रव्यों की तीन यौनियाँ या मूल साधन सम्बन्धी प्रकार हैं—औद्भिद खनिज तथा जंगम जिनको व्यवहार में चिकित्सा अथवा अन्य आहारादि में प्रयोग किया जाता है। द्रव्य गुणविज्ञान के क्षेत्र में सभी प्रकार के द्रव्यों उनके स्वरूप तथा गुणकर्म पक्षों का प्रतिपादन होना आवश्यक है। अतः सर्वांगीणता की दृष्टि से जंगम द्रव्यों की व्यावहारिकता विवेच्य है और वह प्राचीन उल्लेख पर आधारित है।

क्षेत्र

द्रव्य के वर्गीकरण में अंकित किया जाता है कि जन्तु चार समूहों में प्राथमिक रूप से विभाजित किये गये हैं। (जागमाः खल्वपि चतुर्विधाः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः—सु०)—

वर्ग	परिभाषा	उदाहरण
१. जरायुज—	जरायु से उत्पन्न	मनुष्य, पशु
२. अण्डज—	अण्ड से उत्पन्न	पक्षी, सर्प
३. संस्वेदज—	स्वेद से उत्पन्न	कृमि, कीट
४. उद्भिज्ज—	पृथ्वी को उभारकर उत्पन्न	मण्डूक, इन्द्रगोप

यह निर्देश कर दिया गया है। जंगम साधन से प्राप्त औषधियों का अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से उक्त वर्गीकरण कर दिया गया है, वैसे जंगम द्रव्यों की आकृति तथा प्रभाव स्थान के वैशिष्ट्य के कारण इनमें विविधता तथा अपरिसंख्येयत्व उपलब्ध हो जाता है (तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैकायोनिरपरिसंख्येय भेदाभवति, भूतानामकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्—चरक)।

परिगणन

चिकित्सा की विविधता तथा औषध की आवश्यकतानुसार उपयोगिता और तदनुसार ही, न्यूनाधिक रूप में अभीष्ट क्रियावान् द्रव्यों के प्रयोग को सिद्धियुक्त प्रतिफलित करने के लिए जांगम साधन (Animal origin) से प्राप्त उपद्रव्यों के उन अंगों का निर्देश कर दिया गया है, जो आहार अथवा औषध में प्रयोग किये जाते हैं उनको परिगणित किया गया है—

१. मधु	२. गोदुग्ध
३. पित्त	४. वसा
५. मज्जा	६. रक्त
७. मांस	८. पुरीष
९. मूत्र	१०. चर्म
११. शुक्र	१२. अस्थि
१३. स्नायु	१४. शृंग
१५. नख	१६. खुरा
१७. केश-रोम	१८. रोचन

इन जंगम द्रव्यांगों में शरीर के दोष, धातु, मल, उपधातु, अंगोपांग तथा विकारों का प्रयोग किया गया है। (तत्र: जंगमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः— सु.)।

आधार

जांगम द्रव्यों के प्रयोग तथा शरीर में जाकर आहार अथवा औषधि के रूप में उनके कार्मुकत्व का आधार पूर्णस्पष्ट तथा सहजरूप में प्रतिपादित किया गया है। शरीर तथा द्रव्य—दोनों की पांचभौतिकता से औषधियों का प्रयोग करना, जो पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर में जाकर कार्य करती है, एक प्रारंभिक तथा मूलस्वरूप का सिद्धान्त है। इसी के आधार पर समान गुण रखने वाली धातुओं की ह्रास अथवा वृद्धि की रोग कारक अवस्थाओं में वैसे ही क्रिया-शक्ति सम्पन्न अर्थात् धातुओं का प्रयोग कर, साक्षात् रूप का प्रभाव पड़ता है। इनमें सामान्य—विशेष सिद्धान्त सर्वत्र अनुकरण किया जाता है जिसके अनुसार, उदाहरणार्थ मांस की न्यूनता में मांस का सेवन सर्वाधिक रूप में क्षति

पूतिकारक है (तस्मान्मांसमात्यायते मांसेभूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः च०) ।

प्रश्न—सर्वप्रकार के दुग्ध, मूत्र, विभिन्न मलों, विभिन्न पशुओं के बाल आदि का औषध उपयोग लिखिए।

उत्तर—सर्व प्रकार के दुग्ध (१९६२, ६०, ६७)

गाय का दूध विशेषतः रस-पाक में मधुर, शीतल दुग्धवर्धक, वातपित्त रक्त दोष नाशक तथा अनेक रोगों में लाभकारी है। बकरी का दूध शीतल ग्राही लघु है। भेड़ का दूध क्षारीय, मधुर, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, कफपित्तकारक है। ऊँटनी का दूध दीपन, सारक, कृमि, कुष्ठ, कफ अफारा, शोथ, उदररोग हर है। स्त्री, का दुग्ध लघु, वातपित्त नेत्ररोग नाशक है। दूध का दही उष्ण, दीपन, स्निग्ध, श्वास, पित्त, कफ कारक है तथा मूत्रकृच्छ, जुखाम, विषमज्वर, अतिसार, दौर्बल्य नाशक है।

मूत्र (१९६८)

मूत्र कटु, लवण, वीर्य उष्ण, कफवातनाशक व पित्त संशोधक है। सामान्य रूप से मूत्र—विषघ्न, लेखन, अनुलोमक, आर्त्तवजनक, रक्तशोधक त्वचारोग नाशक है। सामान्य रूप से 'मूत्र' शब्द से गोमूत्र का ग्रहण होता है। वैसे गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, गदहा, ऊँट। पुरुष का मूत्र भी प्रयोग किया जाता है। मनुष्य का मूत्र खारा, तीक्ष्ण, रक्तविकारनाशक, खुजली, विषनाशक तथा रसायन हैं। गाय, बकरी, भेड़, भैंस का स्त्री-जाति का तथा शेष पुरुष जाति का मूत्र श्रेष्ठ माना गया है।

मल (पुरीष) (१९६१, ६८)

पुरीष (लीद, मेंगनी, लेंड़ी) अनेक पशु, पक्षियों का रोग निवारण कार्य में प्रयुक्त की जाती हैं। सामान्यतः पुरीष कटु, उष्णवीर्य त्रिदोषनाशक है। वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, त्वचावर्णकारक, संज्ञाप्रबोधक, छर्दिनिग्रहण, रक्तशोधक श्वासघ्न, विषघ्न हैं।

गाय, ऊंट, घोड़ा के पुरीष (गोबर या लीद) किस अंग पर स्वेदन कर्म करने के लिए व्यवहृत होते हैं। बवासीर में इन पुरीषों के अलावा हाथी-की लीद से धूपन करना भी हितकारी माना गया है। कबूतर व मुर्गे की विष्ठा का गुदा पर लेप करना भी लाभदायक रहता है। कबूतर की विष्ठा रक्तविकार

में शहद घी में मिलाकर देते हैं। कबूतर मुर्ग, गीध आदि की विष्ठा व्रणों पर दारणकर्म के लिए प्रायः लेप की जाती है। इनका लेपन, धूपन, स्नान व अभ्यंग आदि अपस्मार, उन्माद में किया जाता है। प्रमेह में अनेक मृगों के पुरीष का चूर्ण प्रयोग होता है। विषों में गोमय स्वरस का लेप और अंजन किया जाता है। गाय का शकृत (गोबर), तिमिर में नस्य रूप में प्रयुक्त होता है। बकरी, गाय, घोड़ा आदि के मलों से सिद्ध घृत का प्रयोग टी० बी० में लाभकारी है। मलेरिया में बिड़ाल का पुरीष लाभ करता है। चूहे की मेंगनी दूध के साथ स्त्रियों के प्रदर में देनी चाहिए। विष में गोबर के रस का अंजन करने से लाभ होता है। कै (वमन) आने पर मक्खी की विष्ठा दी जाती है। उदररोग, पाण्डु, कामला कृमि में विभिन्न पुरीषों का प्रयोग किया जाता है। पेट के कृमियों में घोड़े का मल लाभ करता है। गदहे के मल का स्वरस उदावर्त्त में दिया जाता है। आँख के रोगों में बकरी के मल का अंजन लाभकारी है। कुष्ठ में मुर्ग के पुरीष का लेप करते हैं। जौंक के पुरीष को जलाकर उसका नस्य अपस्मार में दिया जाता है। उन्माद में उल्लू, लोमड़ी, सियार के मलों का सेकादि करते हैं। गलगण्ड रोग में गोबर की भस्म प्रयुक्त करते हैं। खरगोश के मल का धूपन और उसके सिद्ध तेल का नस्य, मालिश बालग्रह जैसे रोगों से हितकारी है।

बाल, नख, चर्म

प्राणियों के नख लेखन तथा विषघ्न हैं। व्याघ्र का नख चावल के जल में पीसकर सब प्रकार के विषों में देते हैं। हाथी के नख की भस्म भी पागलपन में व्यवहार की जाती है। इस अवस्था में कुत्ते का नख भी उपयोगी है। उल्लू सियार, बिल्ली के नख मृगी में अंजन, धूपन, नस्य आदि के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। ग्रामीण एवं जलीय स्थानों के पशुओं के खुरों की भस्म व्रणों में पाण्डुकरण क्रिया की सम्पन्नता हेतु लेपविधि से व्यवहृत हैं। खुरों की भस्म श्वसन संस्थान के रोगों में प्रायः चिकित्सक दिया करते हैं।

प्राणियों के ये बाल (संज्ञाहीन भाग) चिकित्सा में भी उपयोग में लाये जाते है। पागलपन में केश रोम (सियार, उल्लू) की भस्म देते हैं। गाय की पूंछ के बाल का भस्म का नस्य भी देना चाहिए। बवासीर में मनुष्य के बालों की धूनी लाभदायक है। गाय के रोमों का धूम्रपान श्वास, हिक्का, कास में

देना चाहिए। भेड़ की ऊन का प्रयोग स्वेदक है, इसको अन्तधूम भस्म कण्टा-तंव में हित है। भेड़ के रोम का धूप मलेरिया में दिया जाता है। जिन रोगों में स्वेदन सेव्य है उनमें सरोम चर्म से उपनाह करते हैं। व्रणों में रोम उत्पन्न करने के लिए विभिन्न पशुओं के चर्म का प्रयोग किया जाता है। कुष्ठ में शेर के चर्म का लेप लाभ करता है।

प्रश्न—प्राणियों के विशिष्ट अंग, पित्त, सर्प निर्मोक, रक्त, चर्वी भूनाग आदि जीव इनके प्रमुख चिकित्सा प्रयोग लिखें।

विशिष्ट अंग—अजा का यकृत् (जिगर) जलोदर के रोगी को प्रतिदिन पाव भर खिलाने से लाभ होता है। यकृत् का प्रयोग यकृत की क्रियाओं को उत्तेजित करता है। इससे यकृत् चूर्ण, यकृत सत्त्वपानक योग बनते हैं। तिल्ली का सेवन भी रक्तनिर्माण के कार्य में उत्तेजना देता है। यह यक्ष्मा में लाभकारी है। पाचन संस्थान का महत्त्वपूर्ण अंग अग्न्याशय (पेंक्रियाज) के अन्तःस्राव में इंस्युलीन का प्रयोग मधुमेह में प्रचुर मात्रा में किया जाता है। शरीरस्थ ग्रंथियाँ यथा थायरायडग्लैंड, पैराथायराइड, पिच्युटरी सुप्रारीनल ग्लैण्ड आदि—उनके सत्त्व विभिन्न रोगों में अधिकाधिक व्यवहृत होते हैं।

पित्त व शुक्र आदि (१९६१)

वृषणों का बहिःस्राव शुक्र होता है व अन्तःस्राव पुंस्त्व प्रदर्शक होता है। विशेषतः बकरे, वृषभ, बिडाल के वृषण, नपुंसकता में सेवनीय हैं। जुन्दवेदस्तर (गन्धमार्जार) खरगोश जाति के वृषण (त्वचा रहित) कफवातशामक, कासहर वाजीकरण विषघ्न है। गन्धमार्जार का वीर्य भी अनेक रोगों का नाश करता है। घड़ियाल का शुक्र आयुर्वेद में सर्वोत्तम माना गया है।

पित्त गहरे हीताभ पीत वर्ण का यकृत् में उत्पन्न होकर पित्तकोष में संचित द्रव्य है। यह विशेषतः भैंसा, सुअर, बकरा, मयूर, कृष्णसर्प, रोहूमछली त्रिल्ली से प्राप्त किया जाता है। यह पित्तगण है। मछली, गाय घोड़ा, मनुष्य मयूर के पित्तों को पित्तपंचक कहते हैं। नेत्र रोगों में पित्त का अंजन करते हैं। उन्माद, पाचनसंस्थान के विकारों, फुफ्फुस शोथ, मलेरिया, कुष्ठ, विष में पित्तों का प्रयोग करते हैं।

कस्तूरी (१९६५, १९७३)

नर कस्तूरीमृग की नाभि के पास जो अण्डाकार कोष स्थिर होता है,

उसमें से दानेदार, उग्रगन्धि, रक्ताभ कृष्णवर्ण का पदार्थ कस्तूरी नामक निकलता है। कस्तूरी कामरूपीय, नैपाली, काश्मीरी तीन प्रकार की होती हैं, जिसमें से प्रथम प्रकार की श्रेष्ठ है। कस्तूरी तिक्त- कटु, वीर्योष्ण, विपाक कटु, कफवातशामक, दुर्गन्धनाशक, मेध्य, हृद्य, वाजीकरण, ज्वरघ्न, अवसादहर होती है। उसके कारण कस्तूरी उपयोगी व मूल्यवान द्रव्य है। यह अनेक रोगों में आधी से एक रत्ती की मात्रा में दी जाती है। विशेषत: हृदयावसाद, शैत्यता, सन्निपातज्वर, काम दौर्बल्य नाशक है।

चर्बी, रक्त, निर्मोक, अण्डा

वसा (चर्बी) वात-विकारों में स्नेहों से श्रेष्ठ मानी जाती है। वातव्याधि, क्षत, अस्थि भग्न, ध्वजभंग आदि में इसका अभ्यंग (मालिश) करते हैं। दवासीर मे कृष्णसर्प, ऊंट, सुअर विडाल की चर्बी का लेपन व व्याघ्र की वसा का नस्य दिया जाता है। योनिरोग में मुर्गी की वसा उपयोगी है। ध्वजभंग में वराह की चर्बी का पान कराते हैं।

रक्त शरीर का वर्ण का द्रव धातु है। रक्त में मुख्यत. लौह की उपस्थिति होती है। रक्त कफवात शामक, पित्तवर्द्धक है। वराह और गाय के रक्त का लेप कुष्ठों में करते हैं। कृमिज शिरःशूल में रक्त का नस्य लाभकारी है। जब किसी कारण शरीर में रक्त की एकाएक क्षीणता हो जाती है तो रक्त मुख, शिरा या गुदा मार्ग से दिया जाता है। विषों में बकरी का रक्त पिलाया जाता है।

सर्पमांस मधुर, मेध्य, दीपन, अर्शोघ्न दूषीविष नाशक, नेत्र रोगनाशक होता है। सन्निपातिक उदर रोग में उत्तम औषधि है। सर्पशिर का धूम विष में लाभकारी सर्पनिर्मोक (केंचुली) पर्याप्त उपयोगी अंग है। बवासीर तथा बालग्रह रोगों में इसकी धूप देने से लाभ होता है। स्त्रियों का बच्चा होने के बाद जब जेर (प्लेसेन्टा) नहीं निकलती, तब इसकी धूनी देने से लाभ होता है।

पक्षियों में विशेषत: मुर्गी के अण्डे प्रयोग किये जाते हैं। अण्डे की जर्दी और उसके तैल की वातव्याधि में मालिश करने से लाभ होता है। अण्डे के कवच की भस्म अतिसार, कास, श्वास, यक्ष्मा, प्रदर, नपुंसकता में उपयोगी है। प्रमेह, रक्तपित्त को भी नाश करती है। अण्डे की जर्दी पौष्टिक आहार के रूप में पर्याप्त व्यवहार होती है।

भूनाग

भूनाग (केंचुवा) वर्षा में रेंगने वाला प्रसिद्ध उद्भिज्ज है। केंचुवे को साफ करके तिला आदि में डालते हैं। यह वल्य, शोथहर, वाजीकरण, यक्ष्मा नाशक है। इसका सत्वपातन कर ताम्रसत्व (इससे ही) निकाला जाता है। यह सत्वविष रोगों में उपयोगी माना जाता है।

शम्बूक (घोंघा) गढ़े में एकत्रित जल के कीट का शंखाकार कोश है इसमें कैलशियम कार्बोनेट पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। शम्बूक कीट तक कोशस्थ जल सूखारोग में पर्याप्त लाभदायक है। अजीर्ण परिणामशूल तथा गुल्म के लिए घोंघा प्रशस्त औषध है।

कच्छप (कछुवा) प्रसिद्ध जलीय प्राणी है। इसका मांस स्निग्ध मधुर रस युक्त, मधुरपाकी तथा शीतवीर्य है। मांस मेध्य, नेत्रों में हितकारी तथा वाजीकरण है। मांस इसके कारण अनेक रोगों में लाभ करता है। कच्छप पृष्ठ की भस्म खटिक से परिपूर्ण है यह खांसी, श्वास, रक्तपित्त, सूखा रोग, क्षय में उपयोगी है। इसकी वैक्सीन का टी० बी० मे प्रयोग होता है।

अम्बर

अम्बर (अग्निजार) कैचलॉट नामक प्राणी की आन्त्रस्थित विकार जनित गांठ है। इसमें अम्बरीन नामक श्वेत दानेदार सत्व काफी मात्रा में पाया जाता है। अम्बर त्रिदोषघ्न, शीतप्रधान रोग, दुर्वलता, मानसिक व्याधियाँ, हृदयरोग, पेट का दर्द नाश करता है और वाजीकरण कर्म के लिए व्यवहृत होता है। नजले मे प्रशस्त है।

गोरोचन (१९६१, ६५)

यह वैल या गाय के पित्ताशय (गाल ब्लैडर) की पित्ताश्मरी (पथरी) है कुछ पीतम तथा हल्की सुगन्ध भी होती है। गोरोचन अर्क गुलाव में घिस कर अपस्मार में पिलाने से लाभ होता है। यह दौर्वल्य, बच्चों के सूखारोग, यकृत् विकार, रजःरोध, पथरी आदि में प्रयुक्त होता है।

शृंग (१९६१, ६८)

विभिन्न पशुओं की सींगों की भस्म खांसी, श्वास, हिचकी आदि में सेवनीय है। मृगशृंग को घिसकर पसली के दर्द तथा फेफड़ों की सूजन आदि

में लगाना प्रसिद्ध औषधि है। नेत्रों में अंजन भी किया करते हैं, बाहरी प्रयोग के अलावा खाया भी करते हैं। अन्तःप्रयोग प्रमेह, हृदयशूल कफरोग, वातरोगनाशक है।

इन्द्रगोप (१९६१)

यह वर्षा में रेंगने वाला कीट इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के नाम से प्रसिद्ध हैं। बीरबहूटी रूक्ष, उष्ण, कफवातनाशक तथा वाजीकरण है। वातव्याधि, ध्वजभंग में इसको लगाते हैं, खिलाते भी हैं, चेचक के दानों को बाहर सरलता से निकालने के लिए बीरबहूटी उपयोगी माना जाता है।

प्रश्न—मुक्ता तथा प्रवाल के गुण क्या हैं एवं इनकी उत्पत्ति का विवरण क्या है? (१९६९)

उत्तर—**मुक्ता**

साधारण भाषा में इसे मोती कहा जाता है इसके संस्कृत पर्याय मौक्तिक, शौक्तिक, मुक्ता तथा मुक्ताफल ये सब हैं। मोती एक सफेद और चमकीला मूल्यवान रत्न है। इसका स्वाद फीका होता है। जवाहरात के जानने वाले विद्वानों ने मोती आठ प्रकार की कही है। वे आठ हैं—(१) सीप से (२) हाथी से (इसे गजमुक्ता कहा जाता है।) (३) सूअर से (४) सर्प से (५) मछली से (६) मेंढक से (७) शंख से (८) बाँस से। इन आठ में प्रायः सीप का ही मोती अधिक मिलता है और व्यवहार में आता है। रंग में फीका टेढ़ा मेढ़ा, चिपटा, ललाई लिए मछली की आँख के समान, रूखा, ऊंचा और नीचा ऐसा मोती न पहनने और न खाने के काम में लेना चाहिए। जो मोती नक्षत्र के समान चमकीला, गोल, चिकना, मोटा, छिद्ररहित, चन्द्रमा के समान श्वेत, निर्मल, वजन में भारी हो, वह धारण करने और खाने योग्य है

उत्तम मोती की परीक्षा यह है कि एक पात्र में आधा सेर गोमूत्र और आधी छटांक सांभर नमक डालकर उसी में दो प्रहर पर्यन्त मोती को दोला-यंत्र में पकावें और निकालकर धान की भूसी में डालकर मलें और पानी से धो डालें। यदि मोती का रूपान्तर न हो तो उसको शुद्ध सेवन करने योग्य समझना चाहिए।

आजकल मोती बसरा से अधिक आता है। नन्हें-नन्हें गोल दाने उत्तम

होते हैं। आस्ट्रेलिया से भी मोती आता है। किन्तु आस्ट्रेलिया वाला मोती बेडौल होता है। अनविध मोती ही खाने के काम में लिया जाता है।

मुक्ता के गुण बताते हुए भाव प्रकाश में लिखा है कि 'मोती शीतल, वीर्य-वर्धक, नेत्रों के लिए हितकारक—बल तथा पुष्टि को देने वाला होता है।'

मोती की पिष्टी बनाकर तथा भस्म बनाकर काम में ली जाती है।

प्रवाल

साधारण हिन्दी भाषा में इसे मूंगा कहा जाता है। मूंगे का वृक्ष झाड़-दार होता है और उसकी माला बनाकर गले में पहनते हैं—जो मूंगा अत्यन्त लाल हो और अपने रंग को न बदले वह अत्यन्त उत्तम होता है अन्यथा त्याज्य होता है।

असली प्रवाल (मूंगे) की उत्पत्ति एक प्रकार के समुद्री कीड़े से होती है। इन कीड़ों को पाश्चात्य वैज्ञानिक कोरेल्लम (Corallum) कहते हैं। ये प्रायः अमेरिका, अफ्रीका, लाल सागर, परनिमन गल्फ, इंडियन ओशन में अधिकतर पाया जाता है। यह फ्लोरीडा में भी उत्पन्न होता है।

मूंगे के कीड़े एक प्रकार की खोल बनाते हैं। जिसमें वे रहकर शाखान्वित मूंगे को उत्पन्न करते हैं। मूंगे की जड़ मधुमक्खियों के छत्ते के समान दीख पड़ती है। यह लालीयुक्त सफेद और काले रंग की होती है।

असली प्रवाल पके हुए कुन्दरूफल के समान रक्तवर्ण का, गोल, स्निग्ध, वक्रभाव से रहित छिद्र रहित और तोल में भारी होता है। पत्थर पर रगड़ने से भी इसकी कान्ति नहीं बदलती—बल्कि यह लाल ही रहता है। मूंगे की शाखाएं टेढ़ी-मेढ़ी लाल रंग की होती हैं।

मूंगे के गुण भी मोती के ही समान समझने चाहिए। इसकी भी पिष्टी और भस्म बनाई जाती है।

प्रश्न—शिम्बीधान्य के सामान्य गुण लिखकर उड़द तथा मूंग के गुण लिखिए।

उत्तर—संस्कृत भाषा में शमीज, शिम्बिज, सूप्य, वैदल ये सब नाम शिम्बीधान्य के हैं। ये फली में लगने वाले दाल रूप में बन सकने योग्य होते हैं।

शिम्बीधान्य के साधारण गुण बताते हुए लिखा है कि शिम्बीधान्य मधुर

तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, विपाक में कटुरसयुक्त, वातजनक, कफ तथा पित्त-नाशक, मूत्र तथा मल को बाँधने वाले शीतल होते हैं। शिम्बीधान्यों में मूंग तथा मसूर को छोड़कर शेष सभी आध्मान करने वाले होते हैं।

इस वर्ग में मूंग-मसूर-उड़द-चना-अरहर-मटर, कुलथी, लोबिया इत्यादि शिम्बीधान्य कहलाते हैं।

(१) उड़द (१९६९)

संस्कृत भाषा में 'माष' कहा जाता है। यह भारतवर्ष में बहुत प्रसिद्ध है।

"उड़द गुरु, मधुरविपाक, स्निग्ध, रोचक, वातनाशक होता है। स्रंसन, सन्तर्पण करने वाला बलकारक, शुक्रजनक, अत्यन्त बृंहण, मूत्र तथा मल का भेदन करने वाला, दुग्धवर्धक, मेद-पित्त-कफ को बढ़ाने वाला एवं गुदकील, अर्दितवात, श्वास, पक्तिशूल, इन सब रोगों को दूर करने वाला होता है।"

इस प्रकरण में यह समझ लेना चाहिए कि उड़द कफ-पित्त कारक एक गुरु पौष्टिक द्रव्य है। इसी के समान कर्म करने वाले दही-मछली तथा बैंगन होते हैं। इन चारों को कफ पित्त कारक द्रव्य चतुष्टय कहा जाता है। उड़द साबुत भी पकाकर खाए जाते हैं और दाल बनाकर भी प्रयोग किए जाते हैं।

(२) मूंग (१९६९)

मूंग की भी खेती की जाती है। भारत में यह भी बहुत प्रसिद्ध है। इसको भी पूरे दाने के रूप में पकाकर खाते है। दाल बनाकर भी प्रयोग किया जाता है।

मूंग रूक्ष गुण, लघु, ग्राही (संग्राही) कफ तथा पित्तनाशक, शीतल, किंचित वायुकारक, नेत्रों के लिए हितकारक तथा ज्वरनाशक होते हैं। जंगल में उत्पन्न होने वाली मूंग गुणों में खेती की गई मूंग के समान ही समझनी चाहिए।

मूंग के शास्त्रों में कई भेद बताए गए हैं। श्याम-हरी-पीली-सफेद और लाल रंग की मूंग होती है। इनमें एक दूसरी की अपेक्षा पूर्व पूर्व लघु होती है। अर्थात् लाल की अपेक्षा सफेद, सफेद से पीली, पीली से हरी, हरी से श्याम लघु होती है। सुश्रुत संहिता में हरी मूंग को गुणों में श्रेष्ठ बताया है। चरक आदि ने भी हरी मूंग को ही गुणकारी बताया है।

प्रश्न—शूकधान्य वर्ग के जौ और गेहूं के गुण लिखें।

उत्तर १—जौ कषाय तथा मधुररसयुक्त, शीतल, लेखन, मृदु होते हैं।

व्रणों में तिल के समान पथ्य, रूक्ष, मेधा तथा जठराग्नि को बढ़ाने वाला, किंचित अभिष्यन्दी, कण्ठ-स्वर को उत्तम करने वाला, बलकारक, गुरु, अधिक रूप से वात तथा मल को करने वाले, शरीर के वर्ण को स्थिर रखने वाला, पिच्छिल, एवं कण्ठ तथा चर्म सम्बन्धी रोग, कफ-पित्त-मेद-पीनस-श्वास-कास उरुस्तम्भ-रक्तविकार तथा तृषा को दूर करने वाला है।

यह संस्कृत भाषा में 'यव' कहा जाता है। सम्प्रति एलोपैथिक चिकित्सा में 'बारली' के नाम से जौ का प्रयोग किया जा रहा है, जौ कितनी ही रोगा-वस्थाओं में प्रयोग कराई जाती है।

(२) गेहूँ

गेहूँ को संस्कृत भाषा में गोधूम या सुमन कहा जाता है।

गेहूँ मधुर-शीतल, गुरु, कफकारक, वीर्य जनक, बलकारक, स्निग्ध, सन्धान कारक, सारक, जीवनी शक्ति को बढ़ाने वाला, बृंहण, वर्ण को उत्तम करने वाला, व्रण के लिए हितकारी, रुचिकारक, स्थिरता करने वाला, वात तथा पित्त-नाशक होता है।

इस प्रकरण में यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि नवीन गेहूँ ही कफकारक होता है। पुराना गेहूँ कफ की वृद्धि नहीं करता। पुराना गेहूँ कफप्रद नहीं होता इसीलिए आचार्य वाग्भट्ट ने वसन्त ऋतुचर्या में पुराने गेहूँ का प्रयोग करने का विधान बताया है।

प्राचीन निघंटु ग्रन्थों में गेहूँ की तीन जातियाँ बताई गई हैं—महागोधूम, मधूली और दीर्घगोधूम। पंजाब आदि से जो बड़े आकार का गेहूँ आता है वह महागोधूम है। आगरा-मथुरा आदि में जो उससे कुछ छोटा उत्पन्न होता है वह मधूलिका है तथा दीर्घ गोधूम शूक रहित होता है। इस जाति को कहीं-कहीं पर नन्दीमुख भी कहा जाता है।

प्रश्न—निम्नलिखित औषध गणों का परिचय देते हुए गुणकर्म बताइये—

उत्तर—**दशमूल** (१९६३)

बृहतपंचमूल और लघुपंचमूल के योग को दशमूल कहते हैं। बृहतपंचमूल में पाँच द्रव्य होते हैं, बिल्व; गम्भीर; पाढ़ल, अरनी और सोनापाठा, इन पाँचों के योग का नाम बृहतपंचमूल है। शालपर्णी (सरिवन) प्रश्निपर्णी (पिठवन) बड़ी कटेली, छोटी कटेली और गोखरू इन पाँच के योग का नाम

लघुपंचमूल है। इस तरह इन दस द्रव्यों के मिलाने पर दशमूल बनता है।

दशमूल त्रिदोषनाशक है। श्वास-कास, सिरदर्द, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वपीड़ा एवं अरुचि को दूर करने वाला होता है।

प्रसंगवश वृहतपंचमूल और लघुपंचमूल के गुणकर्म भी संक्षेप में लिखना चाहते हैं।

वृहतपंचमूल तिक्त, कषाय तथा मधुररसयुक्त, कफवातनाशक, श्वास तथा कास को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, लघु और अग्निदीपक होता है।

लघुपंचमूल लघु स्वाद, बलकारक, वातपित्त नाशक, वृंहण, ग्राही एवं ज्वर श्वास-अश्मरी को दूर करने वाला होता है तथा यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है।

(२) **अष्टवर्ग** (१९६२) अष्टवर्ग में जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि ये आठ द्रव्य होते हैं। इनके विषय में *काफी मदभेद हैं और भावप्रकाश ने यहाँ तक लिख दिया है कि राजाओं को* भी ये आठ द्रव्य उपलब्ध होने कठिन हैं, फिर जनसाधारण की तो बात ही क्या ?

इस प्रकरण में इसीलिए अष्टवर्ग के स्थान पर कुछ द्रव्यों को प्रतिनिधि द्रव्य कहकर वर्णित किया गया है। इनके प्रतिनिधि द्रव्यों के विषय में लिखा है—मेदामहामेदा के स्थान पर सतावर मूल; जीवक और ऋषभक के स्थान पर विदारीकन्द, काकोली-क्षीरकाकोली के स्थान पर असगन्धमूल, ऋद्धि एवं वृद्धि के स्थान में वाराहीकन्द को समान गुण समझ कर ग्रहण करें।

अष्टवर्ग के गुणकर्म बताते हुए लिखा है कि अष्टवर्ग शीतवीर्य; स्वादिष्ट (मधुर) वृंहण, शुक्रजनक, गुरु, भग्नसन्धानकारक; काम-कफ-तथा बल की वृद्धि करने वाला, वात-पित्त-रक्त-तृष्णा-दाह-ज्वर-प्रमेह और क्षय रोग को दूर करने वाला होता है।

(३) त्रिजात—(१९६२)—चतुर्जात—(१९६३)—दालचीनी, इलायची और तेजपात—इन्हीं तीनों द्रव्यों का समभाग में योग होने से उसे 'त्रिसुगन्धि' या 'त्रिजातक' कहते हैं और यदि इन्हीं द्रव्यों में समभाग से 'नागकेशर' भी मिला दी जाए तो उसे चतुर्जातक कहते हैं।

त्रिजातक तथा चातुर्जातक रुचिकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मुख की

दुर्गन्ध को दूर करने वाले. लघु, पित्त तथा अग्निवर्धक, वर्ण्य, कफ वात तथा विष को नष्ट करने वाले होते हैं।

(४) पञ्चकोल (१६६१)—पीपल, पीपलामूल. चव्य, चित्रक और सोंठ ये सब पाँच द्रव्य यदि कोलमात्र अर्थात् आधा २ तोला की मात्रा से एकत्र किए जाएं तो उसी को पंचकोल कहते हैं। पंचकोल स्वाद तथा पाक में कटु रस युक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य होता है, तथा पाचक, अत्यन्त दीपक, कफ-वातनाशक, गुल्म-प्लीहा उदर सम्बन्धी रोग, आनाह और शूल का नाश करने वाला तथा पित्त को कुपित करने वाला होता है।

(५) षडूषण—(१६६३) ऊपर कहे हुये 'पंचकोल' के पीपल आदि पाँचों द्रव्यों के साथ यदि छठा द्रव्य मरिच भी समभाग में मिला दिया जाए तो उसे "षडूष्ण" कहते हैं। पंचकोल के जो गुण कहे गए हैं, वे ही सब षडूष्ण के भी समझने चाहिए, अन्तर केवल इतना ही है कि यह रूक्ष उष्ण तथा विष-नाशक भी होता है।

(६) त्रिकटु—सोंठ, मिर्च, पीपल इन तीनों के योग को त्रिकटु कहते हैं। कटुत्रिक, त्रिकटु त्र्यूष्ण, और व्योष—ये संस्कृत नाम 'त्रिकटु' के हैं। त्रिकटु अग्निदीपक होता है। श्वास, कास चर्म सम्बन्धी रोग, गुल्म-मेह-कफ-स्थूलता-मेद-श्लीपद और पीनस इन सब रोगों को दूर करता है। त्रिकटु में पिपलामूल मिला दिया जाए तो उन चारों को 'चतुरूष्ण' कहते हैं। गुणों में त्रिकटु के समान जानें।

(७) त्रिफला—"पथ्या (हरड़) बहेड़ा और आँवला—इन तीनों के फल यदि समान भाग से एकत्रित किए जाएं तो त्रिफला कहलाता है। इस के फल त्रिक और वरा ये भी नामान्तर हैं। त्रिफला कफ तथा पित्त को नाश करने वाला, प्रमेह-कुष्ठ नाशक, रेचक, नेत्रों के लिए हितकारक, अग्निदीपक, रुचि कारक और विषम ज्वर को नाश करने वाला होता है।"

(८) चतुर्बीज—"मेथी, चनसूर, काला जाजी, अजवायन इन चारों के बीजों के योग को चतुर्बीज कहा जाता है। इन चतुर्बीज का चूर्ण बनाकर नित्य खाने से वात सम्बन्धी रोग, अजीर्ण, शूल, आध्मान, पार्श्वशूल और कमर का दर्द दूर होता है।"

(९) तृणपञ्चमूल (१६६२)—'तृण पंचमूल में कुश, काश, नरसल, दर्भ

और काण्डेक्षुक—ये द्रव्य होते हैं। इन्हें दुग्ध के साथ प्रयोग करने से मूत्र दोष तथा रक्त पित्त नष्ट होता है।

(१०) कण्टक पञ्चमूल—करौंदा, गोखरू, पियावांसा, शतावरी और बदर वृक्ष को कंटक पंचमूल कहते हैं। ये रक्त पित्तनाशक शोथनाशक, प्रमेहनाशक तथा शुक्र के दोषों के संहारक होते हैं।

प्रश्न—हंसोदक, तुषोदक एवं उष्णोदक के विषय में आप क्या जानते हैं।

उत्तर (१) हंसोदक (१९६२, १९७१)—संस्कृत भाषा में इसे 'अंशूदक' कहा जाता है। जिस जल के ऊपर दिन में सूर्य की किरणें तथा रात में चन्द्रमा की किरणें पड़ी हों उसे अंशूदक कहते हैं। स्निग्ध, गुणयुक्त, त्रिदोष-नाशक, अनभिष्यन्दी, निर्दोष, अन्तरिक्ष जल के समान, बलकारक, रसायन, मेधा के लिए हितकर, शीतल, लघु तथा अमृत के समान होता है।

(२) तुषोदक (१९६२) कच्चे तुष सहित जौ के दलिए का जो सन्धान किया जाए तो वह तुषाम्बु (तुषोदक) कहलाता है।

(३) उष्णोदक (१९६९) अष्टभाग, चतुर्थभाग, आधा भाग शेष अथवा केवल उबालकर ही सिद्ध जल उष्णोदक कहा जाता है।

उष्णजल दीपन-पाचन-कण्ठ के लिए हितकारक वस्तिशोधन करता है। हिचकी आध्मान वातकफरोग तुरन्त की हुई वमन विरेचन आदि शुद्धि, नवज्वर कास आम दोष, पीनस, श्वास और पसली के शूल में हितकारी है।

प्रश्न—मद्य निर्माण का विधान बताते हुए भेदों का वर्णन कीजिए। मद्य के गुण-दोष बताइए।

उत्तर—मद्यनिर्माण

विधानुसार आसव अथवा आरिष्ट बनाकर उसको वारुणी यन्त्र (जिसे साधारण भाषा में भवका कहते हैं) से मद्य को खींचा जाता है। मद्य में जैसे-जैसे जल का अंश कम होकर सुरासार की मात्रा अधिक होती है वैसे ही वैसे मद्य भी तीव्र होता जाता है। सुरासार की मात्रा कम और जल की मात्रा अधिक हो तो मद्य मृदु रहता है।

इस प्रकरण में यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि मद्य निर्माण में पहले आसव-अरिष्ट का निर्माण करना पड़ता है फिर भी वारुणीयन्त्र क्रिया

से उसमें से मद्य को खींचा जाता है। हम यहां आसव-अरिष्ट की निर्माण विधि को संक्षेप में लिखने जा रहे हैं।

आसव निर्माणार्थ दृढ़ एवं साफ नूतन मिट्टी के मटके को लाकर पिसे हुए धाय के फूल और लोध से उसके अन्दर लेप करें। जब लेप सूख जाय तं पात्र को जमीन में गाड़ देवें। उस पात्र में शुद्ध जल (जितना आवश्यक हो) भर कर उसमें गुड़ को (यथोक्त मात्र में) घोल देवें। फिर उसमें जितना चूर्णो-षध पड़ेगी उनको भी घोल कर पात्र के मुख को बन्द कर देवें। सात दिन बाद पात्र के मुख को खोल कर थोड़ी देर बाद बन्द कर देवें। इस प्रकार बार-बार मुख खोलना और बन्द करना चाहिए। फिर एक मास के बाद बहुत अच्छी तरह से छानकर बोतलों में भर कर रख लें। चीनी मिट्टी के बर्तन में भी रख सकते हैं। बोतल की डाट सख्त लगावें ताकि दवा की तेजी के कारण खुल न सके। कुछ समय बाद बोतलों को पुनः छानें। उनमें तल में जमा गाढ़ा द्रव्य फेंक देना चाहिए वह हितकर नहीं होता। अब यह उत्तम आसव कह-लाता है।

अरिष्ट बनाने का नियम भी आसव की तरह ही है अन्तर केवल इतना है कि आसव बनाने में केवल जल को मटके में भरते हैं जब कि अरिष्ट बनाने में जल में औषधियाँ डालकर क्वाथ बना लिया जाता है। इस प्रकरण में यह समझ लेना चाहिए कि यह सिद्धान्त प्रायिक है। कई स्थानों पर आसव बनाने में भी क्वाथ करना पड़ता है और कुछ अवस्थाओं में अरिष्ट बनाते समय भी पानी ही भर देना होता है। क्वाथ नहीं करना पड़ता।

इस तरह आसव-आरिष्ट का निर्माण कर फिर ऊपर लिखे अनुसार वाष्पी भवन क्रिया से मद्य का निर्माण किया जाता है।

मद्य के भेद

मद्य के कई भेद होते हैं। सुरामण्ड को 'प्रसन्ना' कहा जाता है जिसे आजकल स्पिरिट कहकर सम्बोधित करते हैं। इसमें ९०% सुरासार (अल्को-हल) होता है स्पिरिट दो प्रकार की होती है—शुद्ध स्पिरिट (Rectified Spirit) और अशुद्ध स्पिरिट (Methylated Spirit) शुद्ध का प्रयोग पीने की दवाओं में किया जाता है—अशुद्ध का बाह्य उपयोग—जलाने के लिए काम में लेते हैं। यदि इनको नशे के लिए अधिक मात्रा में भी लिया जाए तो यह मृत्युकारक हो सकती है।

प्रसन्ना से मृदु मद्य को कादम्बरी कहते थे। इसको थोड़ी मात्रा में पीने से काफी नशा होता है। आधुनिक रम (Rum) जिन (Gin) ब्राण्डी Brandy) और ह्वीसकी (Whiskey) नामक मद्य को कादम्बरी श्रेणी में गिना जा सकता है। इसमें लगभग ५०% सुरासार होता है। ऐसे मद्य को नित्य पीने वाले प्रायः मदात्यय रोग से मरते हैं।

कादम्बरी से मृदु मद्य को 'जगल' कहा जाता था। आधुनिक समय की पोर्ट वाइन (Port wine) इसी वर्ग में आती है। मैडीरा (Medeira) संस्कृत शब्द मदिरा है, शेरी (Sherry) और श्याम्पेन (Chempagne) नामक मद्य इस वर्ग में गिने जाते हैं। इसमें १० से ३२% तक सुरासार होता है। मद्यपान करने वाले धनी लोग इन मद्यों को नशे के लिए पीते हैं। मेदक नामक आधुनिक मद्य में सुरासार बहुत कम होता है। आधुनिक बीयर-सीडर एल में भी सुरासार बहुत कम होता है। अतः इनको पीने वालों को अधिक हानि नहीं होती है।

इस तरह प्रसन्ना, कादम्बरी और जगल क्रमशः मद्य के तीक्ष्णतासे मृदुता की ओर जाने वाली मद्य की जातियाँ थीं।

वारुणी नामक मद्य वह है जो खजूर अथवा ताड़ी के रस से बनता है। आसव और सुरा को एक ही पात्र में सन्धित किया जावे अर्थात् आसव बनाने के लिए जल के स्थान पर मद्य को लिया जावे तो मौरेये मद्य कहलाता है। इसमें मद्य तथा आसव दोनों का गुण रहता है।

मद्य के गुण

चरक संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय २४ में मद्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि देवराज इन्द्र सहित देवताओं से जिसने पुराकालमें प्रतिष्ठा पाई थी। सौत्रामणि यज्ञ में जिसकी आहुति दी जाती है। जो यज्ञकर्मों में प्रतिष्ठित है। जो यज्ञ का वहन करने वाली है। जिसके द्वारा सोमरस के अत्यन्त पान से निर्बल ओजरहित और अन्धकार से आच्छन्न इन्द्र का उस दुःख से उद्धार किया गया था। यज्ञ करते हुए महात्माओं की यज्ञ की सिद्धि के लिए जिसका वर्णन या स्पर्श करना अभीष्ट है। जो योनि-संस्कार तथा नाम आदि विशेषताओं से बहुत प्रकार की होती है, फिर भी सब में मद लक्षण समान होने से एक प्रकार की होती है जो अमृत रूप में देवताओं को, स्वधा होकर पितरों को तथा सोम होकर द्विजातियों वा ब्राह्मणों को उत्तम कल्याणों से युक्त करती है। जो अश्विनी कुमारों का महान तेज है, सरस्वती का बल है, जो इन्द्र का

वीर्य है, जो सिद्धि की गई सौत्रामणि यज्ञ में सोमरस रूप होती है, जो शोक आरति-भय और उद्वेग को नष्ट करती है जो महाबल देने वाली है, जो प्रीति मति वाणी पुष्टि और शान्ति है, जिस सुरा को देव-असुर-गंधर्व, यक्ष-राक्षस तथा मनुष्यों ने रति नाम से कहा है, उस सुरा को विधिपूर्वक पीवें।

इस तरह चरक-संहिता में सुरा (मद्य) की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकरण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि "जो पुरुष प्रसन्न चित्त होकर विधिपूर्वक मात्रा में उचितकाल में अपने बल के अनुसार और हितकर अन्नों के साथ मद्य को पीता है, उसके लिए वह अमृत सदृश होती है।

चरक संहिता में मद्यपान विधि का भी वर्णन किया गया है। कहा गया है, कि 'देह का स्नान आदि द्वारा संस्कार करके पवित्र उत्तम चन्दन आदि गन्धों का अनु- लेपन करके, तीव्र सुगन्धों से युक्त एवं ऋतु के अनुकूल साफ वस्त्र पहनकर विचित्र विविध पुष्पमालाओं को धारण किए हुए रत्न और आभू- षणों से भूषित होकर देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा तथा उत्तम मंगल द्रव्यों का स्पर्श करके ऋतु के अनुसार प्रशस्त देश में जो संवास के लिए श्रेष्ठ हो, जो धूप की गंध से सुगन्धित हो, जहाँ पलंग और कुर्सियाँ उपाधान युक्त हों, वहाँ. अपने शरीर को जैसे आराम मिले वैसे आराम बैठकर अथवा मसनद का सहारा लेते हुए तिर्यक अवस्था में लेटकर सोने-चाँदी के पात्रों में मद्यपान करें।

मद्यपान के समय रूप और यौवन के कारण मतवाली विशेषतः शिक्षित ऋतु के अनुसार वस्त्र-आभूषण तथा पुष्पमालाओं को धारण किए हुए पवित्रता तथा अनुराग से युक्त प्रिय एवं सुन्दरी स्त्रियाँ इधर-उधर अंगों का संवाहन कर रहीं हों। श्रेष्ठ मद्य का पान करना चाहिए।

इस प्रकार मद्य विधान पूर्वक पान करने से लाभ करता है अन्यथा हानि करता है।

मद्य से हानियाँ (१६६८, १६७०)

कहा गया है कि 'जो रूक्ष देह तथा नित्य परिश्रम का कार्य करने वाला पुरुष जब और जैसा भी मद्य मिले—उसे ही बिना विचारे पी जाता है, उसके लिए वह विष के सदृश होती है।

मद्य हृदय में पहुँचकर अपने लघु आदि दस गुणों से ओज के गुरु वस आदि दस गुणों को विक्षुब्ध करके चित्त में विकार उत्पन्न कर देती है। यह बात ध्यान रखने की है कि ओज ही शरीर का परम सार है जो सप्त धातुओं के

साररूप में शरीर को धारण करता है। ओज के विक्षुब्ध होने से ओज पर आश्रित सत्त्वसंज्ञक मन के विक्षुब्ध हो जाने पर मद उत्पन्न होता है।

रस धातु आदि के मार्गों का तथा सत्व-बुद्धि इन्द्रिय-आत्मा व उत्कृष्ट ओज का आश्रय हृदय ही है। मद्य के अतिपान के कारण ओज के न्यून हो जाने से हृदय और हृदय में आश्रित धातुएं विकृत हो जाती हैं, मद्य के अत्यन्त सेवन के कारण उसके गुणों से हृदय के प्रभावित होने पर हर्ष-तर्ष रतिसुख-मन के अनुकूल विचित्र नाना प्रकार के राजस व तामस विकार तथा अन्त में महानिद्रा (Coma) भी हो जाती है। इस मद्य विभ्रम को मद नाम से कहा जाता है।

आयुर्वेद में मद की तीन अवस्थाएं बताई गई हैं—प्रथमावस्था में हर्ष-आनन्द होता है—प्रीति उत्पादक—गाने-बजाने में रुचि लेने वाला होता है। दूसरा मद में बारम्बार मोह होता है। वाणी भी कभी २ रुकने लगती है। इस अवस्था में रजोगुणी तथा तमोगुणी वृत्ति हो जाती है। यह 'उन्माद' 'पागलपन' की सी अवस्था होती है। तीसरी अवस्था में मन के अत्यधिक मोह से आच्छादित हो जाने के कारण टूटी हुई लकड़ी की तरह निश्चेष्ट होकर गिर पड़ता है। वह जीता हुआ भी मुर्दे के सदृश होता है।

इस तरह विष के समान मद्य शरीर के लिए कितना हानिकारक होता है यह विचार किया जा सकता है। इसी से कोई भी बुद्धिमान इस हानि को नहीं प्राप्त होना चाहेगा।

प्रश्न—निम्नलिखित द्रव्यों के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—(१) उदुम्बर (१९६९) साधारण भाषा में (हिन्दी में) गूलर कहा जाता है। यह वृक्ष जाति की वनस्पति है। जिसके फल, दूध और त्वचा काम में आती है। यह भारत में सर्वत्र उपलब्ध होता है।

उदुम्बर शीतवीर्य है, रूक्ष है, गुरु है तथा पित्त-कफ-रक्त को जीतता है। मधुर तथा कषाय है तथा व्रण को शोधन और रोपण करता है। यह मूर्च्छा-दाह तथा तृष्णा को शमन करता है।

रक्तातिसार-प्रवाहिका और संग्रहणी में छाल का क्वाथ देते हैं और कच्चे फलों का शाक खिलाते हैं। रक्तपित्त में छाल और फल का प्रयोग करते हैं। गर्भ पोषणार्थ तथा प्रमेह नाशनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है।

चमेली (१९६९, १९७४)

संस्कृत में जाति—चेतिका नाम से वर्णित है। इसकी प्रतानिनी लता होती है—संयुक्त पत्रक होते हैं, श्वेतवर्ण के सुगन्धित पुष्प लगाते हैं—पुष्पदल

संख्या में पांच होते हैं। इसकी दो जातियाँ होती हैं—'श्वेत' और 'पीत'। पीत जाति को स्वर्ण जाति भी कहा जाता है। इसके पुष्प, मूल, पत्र औषध में काम में आते हैं।

चमेली तिक्तरस, कषाय रस, उष्णवीर्य, कटुविपाक, लघु होती है। सिर वेदना, अक्षिरोग, मुख-दांत के रोग, विषविकार, कुष्ठ, व्रण तथा रक्त के विकारों को नष्ट करती है।

इसका बाह्य प्रयोग अधिक होता है। चमेली का मूल उबटन में मिलाकर लगाने से वर्ण निखरता है दांतों के दर्द मुख पाक में इसके पत्तों को चबाते हैं। क्वाथ बनाकर कुल्ले किये जाते हैं। पक्षाघात-अर्दित आदि विकारों में तेल का अभ्यंग करते हैं। त्वचा के दोषों में कुष्ठ में, कण्डू में इसके पत्तों का या पुष्पों का लेप करते हैं।

रक्तविकार-मूत्रकृच्छ-रजोरोध और नपुंसकता में इसका आभ्यान्तरिक प्रयोग किया जाता है। विषनाशक भी है।

(३) लसोड़ा (१९६८)

संस्कृत में श्लेष्मान्तक कहा जाता है। यह एक वृक्ष जाति की वनस्पति है जिसके वृक्ष ३०-४० फुट ऊँचे होते हैं। इस वृक्ष के फल और छाल औषध में प्रयोग किए जाते हैं।

इसका फल मधुर होता है। छाल कषाय और तिक्तरस है। यह स्निग्ध-गुरु-पिच्छल है। शीतवीर्य है। फल का विपाक मधुर तथा छाल का विपाक कटु होता है इसका प्रभाव विषघ्न है।

इसका फल वातपित्तशामक और कफवर्धक है। वृष्य है। वातिक कास, प्रतिश्याय में, शुक्र दौर्बल्य में, ज्वर में प्रयोग किया जाता है।

छाल का प्रयोग ग्रहणी-प्रवाहिका और कृमिरोगों में करते हैं। छाल का क्वाथ विषों को नष्ट करने के लिए प्रयोग किया जाता है और सामान्य दुर्बलता में भी प्रयोग करते हैं।

(४) मट्ठा (१९६८)

संस्कृत में तक्र कहा जाता है। इस विषय में लिखा है कि दही में चौथाई जल मिलाकर मथने पर जो द्रवपदार्थ प्रस्तुत होता है—उसे तक्र कहा जाता है। बिना जल मिलाए मलाई रहित दही को मथने पर जो द्रव्य तैयार होता है उसको मथित कहते हैं। इसी विधि से मलाई सहित दही का द्रव घोल कहलाता है।

रसभेद से तक्र तीन प्रकार का होता है—मधुर तक्र, अम्ल तक्र और अत्यम्ल । तक्रस्वरूप भेद-रूक्ष तक्र—अर्धस्निग्ध तथा स्निग्ध तीन प्रकार का होता है । रूक्ष तक्र वह है जिसमें से पूरा घृत निकाल लिया गया है, अर्ध-स्निग्ध वह है जिसमें से थोड़ा घृत निकाला हो और स्निग्ध वह है जिस में से घृत न निकाला गया हो ।

तक्र के गुणकर्म लिखते हुए बताया है कि 'तक्र मधुर-अम्ल-कषाय अनुरस होता है । उष्णवीर्य है । लघु-रूक्ष गुण है । अग्निदीपक है । शोथ-अतिसार-ग्रहणी-पाण्डु रोग-अर्श-प्लीहा-गुल्म-अरोचक-विषमज्वर-तृष्णा-छर्दि, शूल, श्लेष्म-वात नाशक है । मधुरविपाक है । हृद्य है । मूत्रकृच्छ नाशक है । अर्श और ग्रहणी रोग के लिए तक्र को एक श्रेष्ठ औषध कहा गया है ।

बताया गया है कि वात के विकारों में अम्ल तक्र लवण मिलाकर प्रयोग करना चाहिए । पित्तज रोगों में मधुर तक चीनी मिला कर प्रयोग करें—कफज विकारों में त्रिकटु और क्षार के साथ तक्र का प्रयोग करना चाहिए ।

(५) सिंघाड़ा (१९६७)

संस्कृत में शृंगाटक कहा जाता है । यह पानी में होने वाली एकलता है । इसका फल सिंघाड़े कहलाते हैं । उन फलों में सफेद गिरी निकलती है जो खाने के काम आती है । इस को सुखाकर चूर्ण कर प्रयोग किया जाता है ।

सिंघाड़ा शीतल, मधुर-गुरु-वृष्य, कषाय होता है । संग्राही है शुक्र वायु और कफवर्धन है । दाह-रक्तपित्त का नाश करता है ।

इसे पित्त शमनार्थ एवं गर्भस्राव को रोकने के लिए काम में लिया जाता है ।

(६) सुपारी (१९६७)

संस्कृत भाषा में इसको पूग कहते हैं । यह एक वृक्ष के फल होते हैं । इस के शाखारहित वृक्ष ३०-४० फीट ऊँचे होते हैं । फल एक साथ अनेक लगते हैं जो एक दो इंच लम्बे-गोलाकार-चिकने-कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ या रक्त वर्ण के हो जाते हैं । इसका ऊपरी आवरण सौत्रिक कोश का होता है जिसे हटाने पर सुपारी निकलती है । भारत में उष्ण प्रदेशों में विशेष-कर मैसूर, आसाम, बंगाल में यह उत्पन्न होता है ।

सुपारी गुरु, शीतल, रूक्ष, कषाय कफपित्त नाशक है । मोहकारक है । दीपन रोचन, मुख की विरसता का नाश करता है । आर्द्र गुरु-अभिष्यन्दी-अग्नि तथा दृष्टिनाशक है । स्विन्न त्रिदोषनाशक है, छेदन कर्म करती है । प्रायः पान में सुपारी खाने की प्रथा है । श्वेतप्रदर-शुक्रमेह की अवस्था में एक योग

बनता है जिसे सुपारी पाक कहा जाता है—वह इससे ही बनने वाला योग है।

(४) भल्लातक (१९६४)

इसे भिलावा कहा जाता है। यह फल है जो औषध में प्रयोग किए जाते हैं। इसके वृक्ष मध्यमाकार के होते हैं। फल १ इन्च लम्बा, हृदयाकृति का अपक्वावस्था में हरित वर्ण का तथा पकने पर चमकीला कृष्णवर्ण का होता है। कच्चे फल के भीतर का रस दूध की तरह सफेद होता है जो हवा लगने पर काले रंग का हो जाता है। पके फल का रस मधु के समान गाढ़ा और कृष्ण वर्ण का होता है। फल के ऊपर की टोपी लाल रंग की होती है जो पकने पर खाई जाती है। फल के अन्दर बादाम की सी गिरी निकलती है, जो मधुर होती है। यह बिहारबंगाल-उड़ीसा और आसाम में उत्पन्न होता है।

इसके गुणकर्म बताते हुए लिखा है कि भिलावा का पका हुआ फल स्वादुपाक एवं मधुर रस वाला होता है। लघु है। कषाय है। स्निग्ध-तीक्ष्ण-उष्ण है। यह पाचन-छेदन भेदन है। मेध्य-वह्निकर-कफ-वातनाशक है। व्रण के विकारों को तथा उदर रोगों को नष्ट करता है। कुष्ठ-अर्श-ग्रहणी-गुल्म-शोथ-आनाह-ज्वर-क्रिमि रोगनाशक है।

इसकी मज्जा मधुर-वृष्य-बृंहण कर्म करने वाली वात पित्तनाशक है। यह स्पष्ट किया गया है कि अर्श रोग का नाश करने के लिए भिलावे का प्रयोग किया जाना बहुत ही हितकारक होता है। इसी तरह यह कफज रोगों को दूर करने तथा कब्ज को दूर करने वाली अमोघ औषधि है जो मेधा और अग्नि की वृद्धि करती है।

(८) गुलाब (१९६४)

संस्कृत भाषा में तरुणी कहते हैं। क्षुपजाति की वनस्पति है जिस में कांटे होते हैं, इसमें पुष्प लगते हैं जो अनेक रंग आकृति के होते हैं। वैज्ञानिकों का ऐसा कथन है कि गुलाब की १३ जातियाँ अपनी मौलिक हैं और कुछ जंगली गुलाब भी होते हैं।

औषध में इसके पुष्प ही प्रयोग किए जाते हैं।

यह शीतल, हृद्य, संग्राही शुक्रल तथा लघु होते हैं। त्रिदोषनाशक है। रक्त के विकारों को दूर करते हैं। वर्ण निखारने वाले हैं। कटु, तिक्त हैं और पाचक हैं।

दाहशमनार्थ, मस्तिष्क को बल देने के लिए, हृदय को शक्ति प्रदान करने के लिए गुलाब का अर्क बनाकर प्रयोग किया जाता है। पेचिश आदि में गुलकन्द देते हैं।

(९) जयपाल (१९६४)

इसे जमाल गोटा भी कहा जाता है। यह एक क्षुपजाति की वनस्पति है जिसके फल जयपाल के नाम से काम लिए जाते हैं। यह फल लगभग १ इन्च लम्बा-अण्डाकार तथा त्रिकोणयुक्त होता है, इसमें बादामी रंग के बीज निकलते हैं जो औषध में प्रयोग किये जाते हैं।

जयपाल गुरु-तीक्ष्ण-रेचन वात कफनाशक है। यह कटु-उष्ण कृमिनाशक है। दीपन है। जलोदर रोग को नष्ट करता है। चर्मरोगों-खालित्य पर इसके बीजों का लेप करते हैं। इसे बहुत विधान से प्रयोग करना चाहिए अन्यथा हानि भी कर सकता है।

(१०) कटहल (१९६३)

संस्कृत में पनस कहते हैं। यह वृक्ष के फल हैं। यह फल बृहताकार में १० से ६० इंच लम्बा और ६ से १८ इन्च मोटे और कण्टकित होते हैं। इनका वजन ५ सेर से २० सेर तक होता है। शाक बनाने के काम आता है।

कटहल शीतल-पक्वावस्था में स्निग्ध-पित्त वातनाशक हैं। तर्पण-बृंहण-स्वादु-मांसल-श्लेष्मावर्धक है। बल्य-शुक्रल-रक्तपित्तनाशक हैं। कच्चा फल विष्टम्भकारक-वातल और कषाय-गुरु है - दाहकारक-मधुर-बल्य कफमेद बढ़ाता है। इसके बीज वृष्य होते हैं—मधुर होते हैं।

(११) पपीता (१९६३)

पपीता प्रसिद्ध फल है। यह अग्नि मान्द्य-अजीर्ण-संग्रहणी-अर्श-यकृत प्लीहा वृद्धि में लाभ करता है। कास-श्वास में लाभकारक है। ज्वरनाशक है। मूत्रल है। विषघ्न है-बल्य है—कटुपौष्टिक है। हृद्रोग-शोथ में भी लाभकारक है।

प्रश्न—'यवागू' का विस्तृत विवरण दीजिए।

उत्तर—जिसमें कुछ द्रवभाग (तरल) तथा कुछ सिक्थ भाग (घनभाग) मिलित है—ऐसे अन्न को यवागू (पाक) कहते हैं। यवागू २ प्रकार की है।

(१) पेया (२) विलेपी

पेया में द्रवभाग अधिक और सिक्थ भाग अल्प होता है। इसलिए यह पीने के योग्य होती है अतः इसे पेया कहा जाता है।

विलेपी में द्रवभाग थोड़ा और सिक्थ भाग अधिक होने के कारण यह दर्वी (कर्छी) वगैरह में चिपकती है। इसीलिए इसको विलेपी कहा जाता है।

पेया के ऊपर के तरल भाग को 'मण्ड' कहते हैं। इसमें सिक्थ नहीं रहने से इसको यवागू नहीं कह सकते तथापि इसको बनाने की विधि में तथा गुण में

यवागू की समानता है। इसलिए यवागू के साथ इसका वर्णन किया जाता है।

पाक विधि भेद से यवागू दो प्रकार का है।

(१) कल्कसाध्य (२) क्वाथ साध्य

इनको पकाने के लिए औषध के साथ दाल चावल मूंग प्रभृति अन्य द्रव्य को मिला दिया जाता है। विलेपी को पकाने के लिए अन्न जितना होगा उससे चार गुना जल डालकर पकाना चाहिए। जब द्रव भाग थोड़ा रहे तो उतार लेना चाहिए। पेया को पकाने के लिए छः गुणा जल डालकर द्रव भाग अधिक रहते हुए उतारना चाहिए। मण्ड पकाने के लिए चौदह गुणा जल डालकर पकाना चाहिए ताकि सिक्थ भाग सभी घुल जाए।

कल्क साध्य यवागू बनाने की विधि यह है एक प्रस्थ जल से जितनी यवागू पकाई जाती है उसमें सोंठ—पीपल प्रभृति तीक्ष्ण द्रव्य हों तो दो तोले पंचमूल प्रभृति मध्यम द्रव्य हो तो ४ तोला और मूली—आमला आदि मृदु द्रव्य हो तो ८ तोला लें। औषध द्रव्य को कल्क करके डालकर केवल जल से ही अन्न और औषध को पकाना चाहिए। जब पेया आदि में अपना-अपना लक्षण देखने को आवे तब पका हुआ समझना चाहिए।

क्वाथ साध्य यवागू में दो तोले औषध को चार सेर पानी से पकाकर जब दो सेर रहे तो छान लेवें। फिर उस दो सेर पानी में यथोचित दाल-चावल आदि अन्न डालकर यवागू पकावें। जब पेया आदि के अपने २ लक्षण प्रकट हो जावें तो उतार लें।

कैसे भी यवागू बनाई जावे उसको स्वादिष्ट करने के लिए उसमें हल्दी जीरा धनिया नमक आदि को यथाकाल में यथायोग्य परिमाण में संस्कार के लिए डालना चाहिए।

एक मनुष्य को जितना खाने का अभ्यास है उससे चौथाई भाग यवागू खिलाना चाहिए।

अत्यन्त अल्प परिमाण चावल आदि में यवागू बनानी हो तो चार गुणे जल से विलेपी, ६ गुणे जल से पेया तथा चौदह गुणे जल से मण्ड का पाक सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए वहाँ और भी अधिक जल डालना चाहिए ताकि पाक हो सके। पाक के समय उसे कर्छी से चलाते रहना चाहिए ताकि पात्र में लगने का भय न रहे।

—:o:—

छात्रोपयोगी आवश्यक निर्देश

तृतीय पत्र में शरीर रचना विज्ञान एवं शरीर क्रिया विज्ञान रक्खा गया है। इसमें जिन विषयों का समावेश किया गया है, वे इतने विस्तृत हैं कि उन को जानने के लिए परिश्रम की अधिक आवश्यकता है। यों तो शरीर रचना और शरीर क्रिया वैसे ही बड़े विषय हैं। उस पर इन को प्राच्य दृष्टिकोण से तथा प्रतीच्य दृष्टिकोण जानना आवश्यक है। आधुनिक विज्ञान में एनाटमी एवं फिज्योलाजी का कितना विस्तार से वर्णन किया है, यह किसी से छिपा नहीं है। ऐसी स्थिति में इस विषय का अध्ययन एवं यदि सम्भव हो तो चित्रों से माडलों से अथवा मृतशरीर पर सभी अंगों की रचना का प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करना चाहिए।

इस परीक्षा में प्रश्न पत्र में प्राय: पांच या छ: प्रश्न करने होते हैं। परीक्षक कभी सात प्रश्न भी देते हैं। और उन में कोई पांच प्रश्न करने होते हैं। पूरा पत्र एक सौ अंक का होता है। दोनों ही विषयों पर प्रश्न होते हैं। कभी-कभी परीक्षक किसी विषय का एक ही अंग पूछना चाहता है। उस अवस्था में विद्यार्थी को सावधानी से उतनी बात का उत्तर देना चाहिए जितनी पूछी जाए।

पाठ्यक्रम में निम्न विषय रखे गए हैं—'शरीरोत्पत्ति, शुद्धाशुद्ध शुक्रातर्व लक्षण, शरीर क्रियाज्ञान प्रयोजन, शरीर परिभाषा—अस्थि विवरण—अस्थियों का प्रयोजन, उत्पादन और भेद, अस्थि संख्या, नवीन और प्राचीन मत समन्वय, अस्थियों का स्थूल परिचय।

सन्धि विवरण—सन्धिपदार्थ, सन्धिभेद, सन्धियों के कार्य, श्लेष्म धरा-कला, सन्धिबन्धन, स्नायु तथा सन्धियों का स्थूल परिचय। पेशीविवरण—पेशियों के स्वरूप, पेशियों के भेद और कण्डराओं के स्वरूप, पेशियों के प्रभाव—निवेश कार्य आदि का स्थूल परिचय।

रक्तसंवहन विवरण—हृदय का स्थान, हृदय का स्वरूप, हृदय की क्रिया, हृदय सम्बन्धी सिरा और धमनी, सिरा—धमनी और रसायनी का सामान्य विवरण, रक्तसंवहन क्रिया, शोणित तथा लसीका का स्वरूप, लसीका ग्रन्थी।

श्वास यन्त्र विवरण—स्वरयन्त्र—तालु—गल—क्लोम, फुफ्फुस आदि का विवरण फुफ्फुसछदाकला, उरोग्रह के भीतर—बाहरी स्वरूप तथा कार्यादि का विवरण, क्रिया का प्रयोजन, श्वास संपादन प्रकारादि ।

अन्न विपाक क्रिया का विवरण—मुखविवर—जिह्वा, लालाग्रन्थी, दन्त वेष्ठ—अधिजिह्वा, उपजिह्वा, कौवा, अन्नमार्ग, आमाशय, क्षुद्रान्त्र, ग्रहणी, वृहदान्त्र, उण्डूक, आन्त्रपुच्छ, आन्त्रधर महाकला—आन्त्रमलस्थ ग्रन्थियाँ, यकृत—पित्त प्रकोप, अग्न्याशय, प्लीहा आदि आशयों का स्थान, संस्थान कार्यादि विवरण तथा अन्नपाक क्रिया विज्ञान ।

मूत्रयंत्रादि विवरण—वृक्क, गवीनी, मूत्रस्रोतसीन मूत्राशय, मूत्र प्रसेक, शिश्न, पौरुषग्रन्थि, शुक्रस्रोत, शुक्राधर, फलकोप, बीजकोप—बीजस्रोत, योनि, गर्भाशय, अपत्याशयादि का स्थान संस्थानादि विज्ञान ।

मस्तिष्क विज्ञान और नाड़ी विज्ञान—मस्तिष्क-मस्तिष्क की आवरण कला, अनुमस्तिष्क, पृष्ठवंश सुषुम्ना कांडादि की भीतरी विशेषताएँ, नाड़ियों के स्वरूप, भेद तथा क्रिया विशेषता इड़ा-पिंगलास्थानादि ग्रन्थि तथा नाड़ी चक्र का वर्णन ।

इन्द्रियविभाग—नेत्र गुहा—नेत्रगोलक—दृष्टिनाड़ी—नेत्रपेशी, अश्रु ग्रन्थी, अश्रुभाग, घ्राणेन्द्रिय, घ्राणमार्ग, श्रोत्रेन्द्रिय, श्रुतिमार्ग, श्रुतिपटह, श्रुति, शबूक, श्रुति नाड़ी आदि के स्थान स्थान कार्यादि का विवरण, तथा सम्पूर्ण संज्ञा और चेष्टाओं का वर्णन । आयुर्वेदिक कर्मस्थानों का विवरण, क्रियात्मक में अस्थि परिचय, सन्धि-आशय, . . और अंग विवरण (अस्थि और चित्रों द्वारा) २५ अंक ।

तृतीय-पत्र

शरीर रचना और क्रिया विज्ञान

प्रश्न—शरीर क्रिया विज्ञान की चिकित्सा क्षेत्र में क्या उपयोगिता है ? (१९७४)

उत्तर—"जब शरीर में दोषादि के गुण-कर्मों की स्वाभाविकता, वृद्धि या क्षीणता को देखकर चिकित्सक यह जान लेता है कि अमुक रोगी को समता-प्रकोप या क्षय है और उसी के अनुसार चिकित्सा कर दोषादि के साम्य की रक्षा करता है।" यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि दोषादि-धातुओं की क्रिया का सम्बन्ध क्रिया विज्ञान से है और बिना क्रिया विज्ञान की सहायता से चिकित्सा कार्य पूर्ण नहीं होता।

क्योंकि दोष-धातु-उपधातु तथा मल के समुदाय से यह शरीर बना है। यद्यपि शरीर पांच भौतिक है फिर भी जिस द्रव्य में भूत की अधिकता होगी वह उस भूत की अधिकता वाले दोष, धातु उपधातु या मल की वृद्धि करेगा। इसके विपरीत उसमें जिस भूत की अल्पता होगी उस भूत की अधिकता वाले दोषादि को क्षीण करेगा। अर्थात् चिकित्सा के लिए चिकित्सक को दोषादि के ज्ञान में पूर्ण अधिकार रखना चाहिये। जिस प्रकार क्रिया विज्ञान से हमें यह ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति दिन भर में २ किलो के लगभग मूत्र का त्याग करता है, दिन भर में नाड़ी गति निम्न है, शरीर का ताप निम्न है, इनके प्राकृत रूप इत्यादि अगर ठीक हैं तो व्यक्ति स्वास्थ्य है अन्यथा रोगग्रस्त है।

प्रत्येक मनुष्य की अपनी २ प्रकृति होती है उसी के अनुसार, अगर वह रोग विकार से ग्रस्त होता है, वह रोगी होगा अर्थात् उस प्रकृति के लक्षण प्रतीत होंगे।

चिकित्सा के क्षेत्र में निदान में सहायक निम्न भाग होते हैं:—

(i) प्रकृति (ii) शरीर-अवयव

प्रकृति के बारे में वर्णन शास्त्रों में किया गया है। फिर भी यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रकृति के अनुसार ही रोगों के लक्षण पाये जाते हैं अर्थात् वात-पित्त-कफ जिस भी प्रकृति का होगा, पाये जायेंगे।

शरीर-अवयवः—शरीर में विभिन्न अवयव हैं जैसे—यकृत्-प्लीहा, हृदय, वृक्क इत्यादि, अगर ये अवयव ठीक प्रकार कार्य करते रहें तो शरीर ठीक है और किसी भी अवयव में कोई अवस्था क्षीण हो जाये तो क्रिया विज्ञान उसे हमें ज्ञान कराने में सहायक होगा, ज्ञान होने पर चिकित्सा उत्तम प्रकार की हो जायेगी। अतः चिकित्सा के क्षेत्र में शरीर क्रिया की उपयोगिता बहुत है।

प्रश्न—शारीर तथा शरीर का परिचय दीजिए। (१९६३)

उत्तर—शरीरोत्पत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए सृष्टि आरम्भ की ओर जाना चाहिए। शरीर २४ तत्वों की मिलावट से बना माना गया है। इन चौवीस तत्वों में ८ प्रकृति १६ विकार होते हैं। इसी शरीर रूपी गृह में शुभ तथा अशुभ कर्मों के अधीन होता हुआ, मन रूपी दूत से युक्त होकर जीवात्मा निवास करता है। शरीर में प्रकृति या पुरुष का संयोग होता है। इसमें जीवात्मा-ज्योति स्वरूप, चिदानन्द रूप, नित्य, निःस्पृह, निर्गुण होता हुआ भी प्रकृति से संयुक्त होने से सगुण जगत् की उत्पत्ति करता है। प्रकृति स्वयं अचेतन जड़ होती हुई भी चेतन रूप अव्यक्त परमात्मा के श्रय से शरीरोत्पत्ति करती है। केवल प्रकृति या पुरुष से ही सृष्टि नहीं हो सकती। यह प्रकृति सब पंचभूतों का कारण है। स्वयं अकारण है तथा जो सत्व, रज, तम स्वरूप वाली, आठ रूप युक्त है, यह सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति करती है। इसको अव्यक्त या मूल प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति व पुरुष दोनों ही अनादि, अनन्त, अलिंग, नित्य ऊपर तथा दोनों ही ओर सर्वत्र व्याप्त हैं। फिर भी प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणी, प्रसवधर्मवाली, अमध्यस्थ धर्मवाली है, परन्तु पुरुष अनेक, चेतन, निर्गुण, अप्रसवधर्म वाला अबीज धर्म तथा मध्यस्थ धर्म से युक्त होता है।

अष्टरूपा प्रकृति में महत्तत्व, प्रकृति अहंकार तथा शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा गन्धतन्मात्रा—ये पाँच तन्मात्राएँ—कुल आठ विकार या रूप हैं। १६ विकार समूह में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन तथा महा पंचाभूतों की गणना की जाती है।

यह प्रकृति पुरुष से आक्रान्त होती हुई क्षोभ को प्राप्त होकर गुणों के समभाव को त्याग कर महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से पाँच तन्मात्राओं आदि को क्रमानुसार उत्पत्ति कर सृष्टि करती है। इसमें 'समसत्वरजस्तम'

स्वरूपिणी प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति हुई। यह महत्तत्व त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्वप्रधान है। इस त्रिगुणात्मक महत्तत्व से तीनों गुणों से युक्त अहंकार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अहंकार राजस, तामस, सात्विक तीन प्रकार का होता है। राजस अहंकार से युक्त सात्विक अहंकार से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका तथा पाँच कर्मेन्द्रियां हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ तथा वाणी—ये दस इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। मन को ग्यारहवीं तथा उभय इन्द्रिय माना है। क्योंकि समस्त इन्द्रिय इस मन के ही आधीन हैं। मन के विना कोई इन्द्रिय अपने विषयों (कानों का शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्रों का रूप, जिह्वा का रस, नासिका का गंध ग्रहण करना) के प्रति सक्रिय नहीं रह सकती है। राजस अहंकार से युक्त तामस अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इन पाँच तन्मात्राओं से क्रमशः पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) पैदा होते हैं।

इस प्रकार २४ तत्वों से प्रस्तुत शरीर में कर्मों के आधीन होता हुआ, मन युक्त जीवात्मा निवास करता है। यही जीवात्मा सुख दुःख व्याप्त तथा मन के द्वारा कृत्रिम कर्म के वंधनों से वंधा हुआ शरीर कहलाता है।

शारीर (१९६३)

स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का संरक्षण और रोगी के विकार की उपशान्ति आयुर्वेद का प्रयोजन सर्वविदित है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए रस, रक्त, मांस आदि शरीरावयवों के स्वाभाविक तथा वैकारिक स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए स्वस्थ अवस्था का सर्वप्रथम पूर्ण ज्ञान स्पष्ट रूप से करते हैं। सारांशतः शरीर के प्रकृतिक स्वरूप का ज्ञान शरीर-विज्ञान या शरीर से होता है। शरीर शास्त्र का पंडित होना चिकित्सक की कुशलता के लिए आवश्यक है। चरक ने विशेषोल्लेख किया है।

शाखायें (१९६७,६८)

इस विद्या के दो वरावर भाग कर दिए गए हैं। शरीर रचना विज्ञान (Anatomy) और शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology)। रचना शरीर में शरीर के अंग प्रत्यंग की रचना, संख्या, स्थिति आदि का निरूपण होता है। क्रिया शरीर में शरीरावयवों के प्रकृति लक्षणों का निरूपण अर्थात् स्वाभाविक कर्मों का प्रतिपादन किया जाता है। रचना व क्रिया की दृष्टि से शरीर का

प्रकारान्तर से भी विभाग किया जाता है। प्रत्यक्ष शरीर व क्रिया शरीर में शरीर को अनन्त परमाणुओं (Cell) में विभक्त कर देते है। उभय रचना व क्रिया को सम्मिलित कर शरीर के ६ संस्थान (System) भी बना दिए गए हैं।

इस प्रकार शरीर में, प्रकृति व पुरुष का संयोग होता है। सारांशतः प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों तथा आत्मा का शुक्र-शोणित के साथ योग होने पर शरीर नामक कार्य द्रव्य होता है। गर्भ पर पंचभूत की क्रिया होकर उसकी क्रमशः पुष्टि होती रहती है और हाथ पैर आदि. अंग-प्रत्यंग बनते है। ऐसी अवस्था में गर्भ को शरीर कहते है। चिकित्सा का अधिष्ठान यह शरीर है। स्वस्थ्य व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी व्यक्ति के रोग का नाश शरीर में किया जाता है।

उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए शरीर के अवयवों के स्वाभाविक तथा वैकारिक स्वरूप व उनकी क्रियाओं का ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार रोगों के निदान तथा चिकित्सा विषय के अध्ययन के पूर्व उसके आधारभूत विषय शारीर का ज्ञान चिकित्सा के लिए आवश्यक होता है। शरीर सम्बन्धी शास्त्र को शारीर कहा जाता है। इस विषय के दो भाग होते है।

१. रचना शरीर (Human Anotomy)
२. क्रिया शरीर (Human Physiology)

१. परमाणु तथा संस्थान

मानव शरीर के स्थूल रूप से छः विभाग है—शाखा चार, मध्य तथा ग्रीवा सहित शिर एक। इनके प्रत्यंग रस, रक्तादि धातुओं स्रोतों से निर्मित है। अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए हैं। इन परमाणुओं के संयोग से अवयवों तथा शरीर की रचना होती है और परमाणुओं के विभाजन से मृत्यु होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह प्रत्यक्ष कर लिया गया है कि शुक्रगत पुंबीज (Spermatozoa) तथा स्त्री बीजवाहिनी गत स्त्री बीज (Ova) के मिलन (फर्टीलाइजेशन) से एक गर्भबीज (फर्टीलाइज्ड ओवम) तैयार होता है। ये तीनों—पुबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज—शरीर परमाणु या कोष ही है। गर्भबीज खण्ड-वृद्धि होकर नये कोषों की उत्पत्ति होती रहती हैं। ये तीनों प्रकार के बीज प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को उत्पन्न करने योग्य बीज भागों (Nucleus)

के संयोग से बनते हैं। एक गर्भबीज से उत्तरोत्तर विभाजन से आकृति, रचना तथा क्रिया की दृष्टि से अनेक प्रकार के कोष, मांस सूत्र, नाड़ी कोष, रक्तकण आदि का निर्माण होता है। शरीर परमाणु का वर्णन शास्त्र में मिलता है।

अनेक धातु (Tissues) के संयोग से एक ही कार्यकारी एक विशेष शरीर के अवयव (प्रत्यंग या अंग Organ) का निर्माण होता है। प्राचीन शास्त्र में जिस प्रकार समान कर्म के आधार शरीरावयवों के विभाग बना दिए हैं, उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान में समान कार्य वाले अंगों को एक वर्ग या संस्थान (System) में समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार शरीर के अनेक अंग अपना-अपना कार्य पृथक्-पृथक् करते हुए एक कार्य को मिलकर भी करते हैं। संस्थानों की संख्या नौ है—

१. अस्थि संथान (Skeletal System)
२. मांस संस्थान (Muscular System)
३. पाचन संस्थान (Digestive System)
४. रक्तानुधावन संस्थान ((Circulatory System)
५. श्वसन संस्थान (Respiratory System)
६. विसर्ग संस्थान (Excretory System)
७. अन्तर्ग्रन्थी संस्थान (Endocrine System)
८. प्रजनन संस्थान (Genital System)
९. नाड़ी संस्थान (Nervous System)

प्राणि कोष

कोषों की रचना पिच्छिल व गाढ़े द्रव्य प्रोटोप्लाज्म से होती है। इस द्रव्य के मध्य में गोल पदार्थ न्यूक्लियस तथा इसके चारों ओर अर्धद्रव पदार्थ साय्टोप्लाज्म होता है। कोष के चारों ओर की दीवार की रचना किनारे के प्रोटोप्लाज्म से होती है। इन प्राणिकोषों का आकार निरन्तर बदलता रहता है। इस प्रोटोप्लाज्म में जल (अधिकांश भाग), प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, सेन्द्रियनिरेन्द्रिय लवण आदि पदार्थ रहते हैं। न्यूक्लियस लिनिन व क्रोमेटिन नामक दो द्रव्यों से बनी जालीमय होता है। कोषों में अधिकतर प्रोटोप्लाज्मा का छोटा-गोल अंग सेंट्रोसोम न्यूक्लियस से बाहर होता है। प्राणिकोषों का आपस में सन्धान अणुश्लेष्मा (इण्टर सेलूलर मेटीरियल) से हुआ करता है।

प्राणिकोशों की रचना के समान क्रिया में भी विभिन्नता होते हुए कहीं समानता होती है। चैतन्य के लक्षणों का वर्णन करते हुए प्राणिकोषों की क्रिया का विषय प्रसंग में आता है। मानव आदि अनेक कोषाओं वाले प्राणियों में पाये जाने वाले चिह्न एक कोषमय प्राणियों में भी देखने में आते हैं। प्रत्येक कोष स्वयं चेतनायुक्त द्रव्य होता है। चेतनता के लक्षणों का ज्ञान अमीब. (कोषवाला पानी का जन्तु) से किया जा सकता है।

शरीर के धातु

एक-एक पुंज या समूह के रूप में एक ही प्रकार-कर्म वाले कोष एकत्रित रहा करते हैं। अस्थि आदि और उनके साथ आकुंचन-प्रसार की आज्ञाओं के लाने व ले जाने तथा चेष्टाओं के सम्पादन के लिए मांस सूत्र (Muscle fibres) तथा नाड़ी कोष (Nerve cell) साथ रहते हैं। मूलत: शरीर के धातु चार प्रकार के होते हैं।

आस्तरण धातु (Epithelial Tissue)

इस धातु से शरीर के सभी पृष्ठ—त्वचा के रूप में बाहरी पृष्ठ, मूत्राशय आमाशय, महास्रोत आदि आशयों, प्राणवह स्रोत आदि के अन्दर के पृष्ठ के रूप में बनते हैं। इसकी रचना करने वाले कोष न्यूनतम अणुश्लेष्मा से अत्यधिक जड़े रहते हैं। यह धातु कोषों के एक या अनेक स्तरों के रूप में आवरण कार्य करने के साथ ही स्रावों का उत्पादन तथा कफ आदि के वहन का कार्य भी करते हैं। आस्तरण धातु के कई प्रकार हैं—साधारण आस्तरण धातु में कोषों का एक ही स्तर तथा मिश्र आस्तरण धातु में कोषों के अनेक स्तर रहते हैं। कई उपभेद होते हैं—

१. कुट्टिम आस्तरण (Pavement Epithelium)
२. अन्तरास्तरण (Endothelium)
३. स्तम्भ आस्तरण (Columnar Ep.)
४. घन आस्तरण (Cubical Ep.)
५. पक्ष्मवल (Cilliated Ep.)
१. ग्रन्थिभूत आस्तरण (Glandular Ep.)
२. संक्रामी आस्तरण (Transitional Ep.)

३. प्रचित शुक्ति सम आस्तरण
४. नाड़ी आस्तरण (Nuro-epithelium)

(क) योजक-धारण धातु (Connective Tissue)

इस धातु में आस्तरण धातु से विपरीत, कोपमय अल्प तथा अधिक उपयोगी धातुओं का आपस में संधान और धारण कार्य करती हैं। उपभेद, जो कि गर्भ के मध्य चर्म से निर्मित होते हैं, कई हैं।

१. पिच्छासम (Mucoid Tissue)
२. सशुषिर (Areoler)
३. श्वेत तन्तुमय (Fibrous)
४. स्थिस्ति स्थापक (Elastic)
५. मेदातुध (Adipose Tissue)
६. जातमय तथा लसीका धातु (Ratiacular and Lymphoid)
७. तरुणास्थि, अस्थि, दन्त तथा रक्त धातु।

(ख) माँस धातु (Muscular Tissue)

इस धातु का मुख्य कर्म आकुञ्चन है। मांस धातु मांसपेशियों में रहता है।

(ग) नाड़ी धातु (Nervous Tissue)

इस धातु से नाड़ी संस्थान की रचना हुई है। नाड़ी धातु के कुछ कोष अपने-अपने विषय को ग्रहण कर संस्थान के प्रमुख प्रदेशों में पहुंचाते हैं तथा कुछ कोप आदेशों को उन अंगों में पहुँचाया करते हैं।

प्रश्न—शुक्र तथा आर्त्तव का वर्णन कीजिए। (१९६३, ६४, ६७, ६८, १९७४)

उत्तर—बारहवें वर्ष के बाद स्त्रियों के योनि मार्ग से प्रतिमास रक्तस्राव हुआ करता है। इसे आर्तव, पुष्प, रज कहते हैं। प्रत्येक आर्तव प्रायः तीन दिन तक रहता है। पचास वर्ष की वय के लगभग रजोनिवृत्ति (Menopause) हो जाती है। रक्त स्राव की क्रिया को मासिक धर्म (Menestruation) कहते हैं। इस काल में स्त्री को रजस्वला कहा करते हैं। आर्तव के शीघ्र अथवा देर से प्रारम्भ होने में विभिन्न परिस्थितियां प्रभाव डालती हैं।

मासिक रक्त, साधारण रक्त से अभिन्न है परन्तु उसकी पुष्टि व आविर्भाव एक मास में होता है। सूक्ष्म शिरायें रक्त से परिपूर्ण होकर गर्भाशय की श्लेष्मककला की पुष्टि करती है। वायु के प्रभाव से यह कुछ कृष्ण और विकृत गंध वाला रक्त योनि द्वार पर आकर निकलता है। रक्त का वहन व उत्सर्ग रोकने वाले स्रोत दो होते हैं। मासिक धर्म में जो गर्भाशय की कला विदीर्ण हो जाती है, उसे पूर्व स्थिति में आने में पक्ष (१५ दिन) लग जाता है।

जो आर्त्तव मास में एक वार आए (पांच या तीन-दिन रहे), छिछड़ों से रहित, समकाल मे दाह या वेदना न हो, न अधिक न अत्यल्प लगभग २॥ तोला की मात्रा में, रंग खरगोश के रक्त के समान अथवा गुंजाफल या लाक्षा-रसवत् वस्त्र पर लगाने से उसके दाग सरलतापूर्वक स्वच्छ किए जा सकें वही शुद्ध समझें अन्यथा विपरीत लक्षण होने पर अशुद्धता या विकार मानना चाहिए।

शुक्र

शुक्र सम्पूर्ण शरीर में रहता है, तथापि प्रहर्षकाल में वृषणों द्वारा शुक्र का आकर्षण तथा च्युत होता है। वृषणों द्वारा शुक्र का उत्पादन कार्य होता है। ये वृषण शुक्रवाही स्रोतों से व्याप्त हैं। काम-वासना के समय वायु की प्रेरणा से स्रोतों की पतली दीवारों से शुक्र का स्राव होता है। जिस प्रकार वस्त्र से पानी निचोड़ दिया जाता है। शुक्रवहस्रोतों की शुक्रस्राविणी तथा वीज जननी कला को शुक्रधरा कला कहते हैं। वृषण, वस्तिशिर, शुक्राशयों, शिश्नमूल ग्रंथियों तथा शुक्रवहाओं की एकीकृत रस को शुक्र कहा गया है।

आधुनिक मतानुसार शुक्र अनेक ग्रन्थियों से रसों का मिश्रण माना जाता है। इसमें प्रधान भाग के रूप में पुंवीज (Spermatozoa) होते हैं। एक बार के संभोग में वीस करोड़ की संख्या से अधिक में पुंवीज रहते हैं। यह शुक्र, जिस प्रकार ईख में रस दूध या दही में घी अलक्षित रूप में सर्वत्र रहता है—उसी प्रकार, सर्वांग शरीर में व्याप्त होता है।

शुक्र के कर्म इस प्रकार हैं—धैर्य काम सुख दुःखादि द्वन्द्वों की उपस्थिति में भी निर्विकारता, शूरता तथा निर्भयता, मैथुन के समय सुख च्युत, स्त्रियों पुरुषों की तथा स्त्रयों की पुरुष पर प्रीति, शरीर में बल-उत्साह तथा पुष्टि, काम की प्रबलता तथा गर्भोत्पत्ति के लिए बीज का प्रदान करना।

दोष दूषित शुक्र के लक्षण ये हैं। वात दूषित शुक्र फेनयुक्त, पतला व रूक्ष

अरुण कृष्ण वर्णयुक्त तथा निकलते समय कठिनता, वेदना, मात्रा में कमी होती है। पित्त दूषित शुक्र नील पीत वर्णयुक्त, अति उष्ण, दुर्गन्धित तथा निकलते समय दाह करने वाला होता है। श्लेष्म दूषित शुक्र वर्णयुक्त अति पिच्छिल तथा कंडू आदि करने वाला होता है। त्रिदोषज या द्विदोषज शुक्र के लक्षण दोषों के अनुसार समझने चाहिए।

गर्भोत्पत्ति

पुरुष में विद्यमान शुक्र विश्वरूप संज्ञक जीवात्मा का रूपद्रव्य है। सुख दुःखादि में निर्विकारिता, धैर्य, सुखयुक्ति, प्रीति, बलोत्साहपुष्टि, हर्ष गर्भोत्पत्ति के लिए बीजशुक्र के कर्म हैं। शुद्धशुक्र स्फटिकवत् निर्मल मधुगन्धी, स्निग्ध, कुछ द्रव्य, पिच्छिल, मधुर, शुक्ल, अविदाही होता है। शुद्ध शुक्र तथा आर्तव से गर्भोत्पत्ति होती है।

प्रश्न—अस्थियों का परिचय तथा अस्थिसंस्थान की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अस्थियों की उपयोगिता (१९६१, ६२, १९७०)

जिस प्रकार वृक्ष के भीतर दृढ़ काष्ठ होता है और मकानों के अन्दर लोहे के खम्बे आदि लगते हैं उसी प्रकार प्राणी शरीर को—शरीर की सार अस्थियां पूर्ण दृढ़ता प्रदान करती हैं। बाहरी आघातों से मस्तिष्क आदि कोमल अंगों की रक्षा करती हैं। इनसे मांस, शिरा, स्नायु, पेशी आदि बंधे हैं और क्रिया करने में सहायक सिद्ध होते हैं। शरीर की आकृति विशेष का अस्थिपंजर (Skeleton) से निर्माण होता है, मांसपेशियां भी गति इससे ही करती हैं।

इस प्रकार से अस्थियों की वास्तव में उपयोगिता है।

अस्थि संस्थान (Osteology) अति महत्त्वपूर्ण है। शरीर के मांस, मूत्र आदि को निकाल कर शेष भाग का अस्थिपंजर और उसके भागों को अस्थियां (Bones) नाम दिया जाता है। आयुर्वेद के अनुसार मेद धातु से अस्थि धातु का निर्माण होता है। आधुनिक मत से कतिपय शिरः कपालास्थियों को छोड़कर शरीरस्थ समस्त अस्थियां प्रारम्भ में तरुणास्थियां (Cartilage) होती हैं। शिशुकालिक तरुणास्थियों से अस्थि रचना का कार्य दो रीतियों से सम्पन्न होता है। प्रथम प्रकार के अणु सुधा के निक्षेप का कार्य करते हैं, दूसरे अणु सुधा के इस संग्रह के अनावश्यक अंश का भक्षण कर अस्थि को बाह्य आकृति

प्रदान करते हैं व आभ्यन्तर सच्छिद्रता प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतः देखने से ज्ञात होता है कि अस्थियों की रचना या संघात दो भाग या प्रकार रखता है। घनसंघात (Compact tissue) और शिशुसंघात (Spongy tissue)। कपालास्थियों तथा अण्वस्थियों में भी वाहर का घन संघात का पतला आवरण तथा अन्दर सुषिरसंघात होता है। अस्थियों का ऊपरी भाग एक कला से आवृत होता है, इसे अस्थिधराकला (Periosteum) कहा जाता है। इसमें होकर शिरा, धमनी आती है।

प्रश्न—अस्थियों के भेद एवं संख्या निर्देश कीजिए (१९६८)

उत्तर—अस्थियों का परिगणन (१९६१, ६५, ६८)

प्रकार—आचार्य सुश्रुत ने वताया है कि अस्थियां पांच प्रकार की होती हैं। यथा—नलकास्थि, तरुणास्थि, वलयास्थि, कपालास्थि, रुचिकास्थि,। जानु, तंब, अंस, गंडस्थल, तालु, शंख, शिर की टेड़ी-मेढ़ी अस्थियाँ कपालास्थि (Irregulr Bones), कान, गर्दन, आँख के खोल की नम्र अस्थियां तरुणास्थि (Cartilage); कील के समान दांतों की अस्थियां, रुचिकास्थि (Teeth Bone); हाथ, पांव, पीठ, पंसवाड़े, पेट, छाती की अस्थियां वलयास्थि (Flat Bone) तथा शेष वांह, उंगली, जांघ आदि की हड्डियाँ नलकास्थि (Long Bones) कहलाती हैं।

संख्या (१९६८, १९७१, १९७३)

आयुर्वेद में चरक व वाग्भट अस्थियाँ ३६०, सुश्रुत तथा भावमिश्र ३०० मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक २०६ अस्थियां लिखते हैं। यह विवाद वस्तुतः विचारणीय है। संभव है कि आयुर्वेदज्ञ प्राचीन काल में कठिन पदार्थों को अस्थियां कहते हों; कार्टिलेज, दाँतों को नख को आजकल अस्थियाँ नहीं माना जाता। प्राचीनों ने छाती में ८२ अस्थियाँ गिना दी हैं, पर आधुनिकों ने २४ अस्थियों की गणना की है। हो सकता है कि वैदिक काल से अब तक शरीर की अस्थियों में मृदुता या लोपावस्था आकर डाक्टरी क्षेत्र से अलग हो चुकी हों। किन्हीं स्थानों की अस्थियों को आयुर्वेद ने नहीं गिना और डाक्टर गणना करते हैं। कपाल में स्थित अस्थियों पर भी मतभेद है। सामान्य रूप से आयुर्वेदानुसार ३०० और आधुनिकानुसार २०६ मानकर काम चलाना चाहिए।

अंगानुसार स्थित शिर की अस्थियां कुल ८ (१९६६, ६८)

सम्मुख कपालास्थि	१
पार्श्व कपालास्थि	२
पश्चात् कपालास्थि	१
शंखास्थि	२
झर्झणास्थि	१
जतुकास्थि	१

मुख की अस्थियाँ—कुल १४

नासास्थि	२
ऊर्ध्वहन्विकास्थि	२
गंडास्थि	२
आश्राविका	२
तात्वस्थि	२
नासाफलकास्थि	२
हलाकार अस्थि	१
अधोहन्विका	१

ऊर्ध्व शाखा (Upper Limb) की अस्थियाँ कुल-३४ (१९६६)

जिह्वा मूलकास्थि	१
अक्षक	२
अंसफलक	२
प्रगंडिका	२
अंतःप्रकोष्ठास्थि	२
बहिःप्रकोष्ठास्थि	२
मणिवन्ध-अस्थियाँ	१६
हस्ततलीय करभास्थियाँ	१०
अंगुलियों की अस्थि	२८

(एक हाथ की अंगुलियों में ३ तथा अंगूठे में २=१४ अतः इस प्रकार २८)

अधःशाखा (Lower Limb) की अस्थियाँ—कुल ६२

नितम्बास्थि या श्रोणिफलक	२
उर्विका	२
जानुकपालास्थि	२
अंतर्जंघनिका	२
वहिर्जंघनिका	२
गुल्फ प्रदेशीय अस्थियां	१४
पादतलीय अस्थियाँ	१०
अंगुलियों की अस्थियां	२८

पृष्ठवंश की अस्थियां—कुल २६ (१९६८)

ग्रीवा कशेरुका	७
पीठ कशेरुका	१२
कटि कशेरुका	५
त्रिक प्रदेशस्थ त्रिकास्थि	१
गुदस्थ पुच्छास्थि	

वक्षः स्थल की अस्थियां—कुल २५

उरोअस्थि	१
पर्शुकाएं	२४

कर्ण (कान) की अस्थियां—कुल ६

शूर्मिकास्थि	२
मुद्गरास्थि	२
रकाबास्थि	२

इस प्रकार अस्थियों की संख्या स्मरण करना चाहिए। स्थूल रूप से आयुर्वेद के अनुसार शाखाओं में १२०, पार्श्व-पृष्ठ-वक्ष में मिलाकर ११७ ग्रीवा व उससे ऊपर ६३ अस्थियाँ समझनी चाहिए।

प्रश्न—संधियों का परिचय देते हुए महत्त्व प्रकाशित कीजिए।

उत्तर—**सन्धि परिचय** (१९६१,६४,१९७४)

जब दो या दो से अधिक अस्थियों के सिरे या किनारे आपस में मिलते है तो इस जोड़ को संधि (Joint) कहा जाता है। संधियों के सिरे एक-दूसरे से सौत्रिक तन्तुओं द्वारा जुड़े रहते हैं। बाहु की प्रगण्डास्थि कन्धे को

स्कन्धास्थि जुड़ी होती है, इत्यादि संधियों के उदाहरण हैं। दो अस्थियों या तरुणास्थियों के बीच की गति में संधियां हेतु हैं। परन्तु कुछ में गति नहीं भी होती है।

प्रकार (१९६६)

अन्तः चल सन्धियाँ (Movable)—तथा स्थिर सन्धियाँ (Fixed Joint) दो भेद हो जाते हैं। स्कन्ध सन्धि, नितम्ब की सन्धि आदिचल सन्धियों के उदाहरण हैं। अंगुलियों की सन्धियाँ (Partially movable) तथा बलुत-चेष्टावान् (Freely movable)—दोनों प्रकार की हो सकती है। उदाहरणतः अक्षक (Clavicle), वक्षोस्थि (Sterum) तथा स्कन्धास्थि, विटपसन्धि (भागास्थि सम्मिलित स्थान) में केवल अल्पगति ही होती है। कपाल में पाई जाने वाली अस्थि सन्धियाँ अचल सन्धियों के उदाहरण हैं। वे अस्थियां 'दांतों' में फंसी रहती हैं।

चेष्टावान संधियों में—अस्थियों के सिरे एक-दूसरे से संधि बन्धनों (Ligaments) द्वारा बँधे रहकर कार्य करते रहते हैं। बन्धनों में जब विकृति हो जाती है या बन्धन टूट कर खिच जाते हैं तो संधि भंग (Dislocation) हो जाता है। भिन्न-भिन्न संधियों की किवाड़ और उसकी कीलों से तुलना की जा सकती है। इनको Hinge Joints कहा जाता है।

द्वितीय रूप में उदूखल—संधियां— (Ball and socket) होती हैं। कलाई की छोटी अस्थियाँ प्रतरासंधि के वर्ग में समाविष्ट हैं। संधियों पर जो क्रिया होती है, उससे ही अस्थियों में गति उत्पन्न हो जाती है, कुछ स्थानों पर सन्धि बन्धन नामक तन्तु झिल्ली के रूप में तो अस्थियों के शिरों पर चढ़ कर थैली सा आकार बना लेते हैं। इसको बन्धन कोष (Capsular ligament) कहा जाता है। संधिकोष के आभ्यन्तर पृष्ठ, पर एक स्नैहिक झिल्ली स्थित रहती है इसमें स्नेह भाग रहने से मशीन के तेल की भांति कार्य सिद्ध होता है। संधिभाग के अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सूत्रों के जोर से खिच जाने पर मोच आ जाती है, यह बन्धन (Sprain of ligament) होता है। मोच आ जाने में सन्धि समीपस्थ मांसपेशियों के कुछ कोष व कन्डारायें भी प्रभावित होकर उनमें कण्डरावितान (Sprain of tendons) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

संधियों की व्याख्या—यह पहले ही बताया जा चुका है कि दो हाथ-पैर कमर व हनु की संधियों के अतिरिक्त सभी संधियां अचल हैं। सन्धियों की संख्या में भी वैज्ञानिकों में मतभेद है। आयुर्वेद ग्रन्थों में २१० संधियां मान्य हैं। आजकल के अनुसार २९९ चल संधियां हैं। सामान्यतः, आधुनिक मतानुसार सन्धियों की गणना इस प्रकार की जाती है—

कशेरुका (Vertebra) की सन्धियां	११७
निम्न हन्वस्थि तथा शंखास्थि की सन्धियां	२
पर्शुकाओं, कशेरुका सन्धियां	२४
पर्शुकाओं व कशेरुका का प्रवर्द्धनों की सन्धियाँ	२०
पर्शुकाओं की तरुणस्थियों तथा वक्षोऽस्थित में	२४
वक्षोऽस्थित में ऊर्ध्वभाग (दो) की संधि	१
नितम्बास्थि तथा त्रिक की सन्धियाँ	२
भगास्थि (जननावयव प्रदेश) की सन्धि	१
ऊर्ध्व शाखा (हाथ) की सन्धियाँ	६२
निम्नशाखला (पैर) की संधियाँ	६५

इस प्रकार शरीर में चलसन्धियों की संख्या २९९ मानी जाने लगी हैं। आयुर्वेद स्थूल रूप से ६८ सन्धियाँ चारों शाखाओं (साथ पैरों) में कोष्ठ में ५९ तथा ग्रीवा से ऊपरी भाग में ८३ सन्धियों को मान्यता देते हैं।

प्रश्न—मांसपेशी संस्थान का परिचय देते हुए पेशियों की संख्या का निर्देश कीजिए।

उत्तर—पेशी (१९६२, १९७१, १९७२)

मांस स्थान (Myology) के अन्तर्गत पेशी महत्वपूर्ण उपादन है है। पेशी माँस के छोटे-छोटे टुकड़े हैं। वायु अपने प्रयोजन के अनुसार ऊष्मा से युक्त होकर स्रोतों को विदीर्ण करता हुआ मांस के अन्त भाग में प्रवेश करके सूत्र के गुच्छे के रूप में मांसपेशी की रचना कर देती है। पेशियों का वर्ण स्याही मायल लाल या हल्का गुलाबी होता है। अस्थि कंकाल मांसत्वच् है और यह मांस छोटे-छोटे गट्ठरों से मिलकर बना है। पेशियों में सौत्रिक तंतुओं से बन्धन या गठन क्रिया सम्पन्न हुई होती है। पेशियों के सूत्रों के मध्य में रक्त की नलिकाएँ, धमनी, शिरा, वात तन्तु, रसवाहिनियों आदि के सूत्र या नलियाँ विद्यमान रहती हैं।

आकार

पेशियों का आकार भी विभिन्न प्रकार की स्थिति के अनुसार पाये जाते हैं। इसी कारण (तरह) रंग भी एक सा नहीं रहता। पेशीस्थ श्वेत भाग सौत्रिक तन्तु से निर्मित हैं, इसे कण्डरा कहा जाता है। लाल भाग मास तन्तुओं से निर्मित होता है।

मांस पेशी एक स्थान से आरम्भ होकर एक या अनेक संधियों से सम्पर्क बनाए रखती हुई दूसरी अस्थि से संयुक्त हो जाती है। पेशियों के कार्य बतलाने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शरीर को गतिमान करना पेशी का धर्म है। हाथ-पैर उठाना, मैथुन करना, अन्न मार्ग से भोजन ग्रहण क्रिया, चलना, फिरना आदि सभी क्रियाओं का मांसपेशियां (Muscles) ही संचालन करती हैं, इनमें स्थिति-स्थापकता अर्थात् पूर्व दशा में खिचकर फिर आ जाना—विशेष गुण विद्यमान है। मांस-पेशियों से सिरा, स्नायु, अस्थि, पोरवे, संधियां—ये सब ढके रहने से बल युक्त रहते हैं।

संख्या

पेशियों की संख्या—अस्थियों, सन्धियों की तरह पेशियों में विशेष मतभेद का सामना नहीं करना पड़ता है। मानव शरीर ५१९ या इसके आसपास की संख्या में पेशियां रखता है। इनकी स्थिति इस प्रकार स्थूल रूप से समझनी चाहिए—

ऊर्ध्वशाखा के सम्पर्क में		५९	
अधोशाखा के सम्पर्क में		५९	
धड़ के सम्पर्क में		६७	
शिरा, ग्रीवा प्रदेश में	४०		=२५५
इस प्रकार दोनों ओर मिलाकर	४५०		
वक्षोदर मध्यम पेशी (डायाफ्राम)	१		=४५१

इन अस्थियों की गतिक्रिया में सहायक संख्या इस प्रकार ४५१ है और शेष अन्य आवश्यक अंगों से सम्बद्ध पेशियाँ ये हैं—

तालु	५	जीभ	४
गला	५	स्वर यन्त्र	५

वाह्यकर्ण	६	मध्यकर्ण	२
अक्षि गोलक और ऊर्ध्वपलक	७		=३४
वायें व दायें दोनों ओर मिलाकर			६८

इस प्रकार ४५१ तथा ६८ मिलाकर कुल ५१९ हो जाती हैं। आयुर्वेद में ५०० पेशियाँ गिनी गई हैं। स्थूल रूप से इन संख्या सहित स्थान निर्देशन इस प्रकार ग्रन्थों में कर दिया गया है कि ४०० पेशी (एक शाखा में १०० होने के हिसाब से चारों हाथ पैरों में ४०० हुए), कोष्ठ (गर्दन से लेकर कमर तक), में ६६ पेशियाँ और गर्दन के ऊपरी भाग में ३४ मांस पेशियाँ होती है। पेशियों का नाम करण विभिन्न आधारों पर रखा गया है। विशिष्ट आकार के अनुसार कटि चतुरस्रा पेशी (Quadratus lumborum) आदि, पेशियों के सिरे के अनुसार त्रिशिरस्का (Triceps) पेशी, देशानुसार—कन्धों को ढकने वाली अंसाच्छादनी पेशी (Deltoid) आदि विभिन्न नाम प्रस्तुत किए गये हैं।

मांसपेशियाँ प्रक्रिया

संरचना

संघटन की दृष्टि से देखा जावे तो ज्ञात होगा कि पेशी में कुल भाग का ७५ प्रतिशत जल तथा २५ प्रतिशत ठोस भाग रहता है, जिसमें निम्नांकित अंश सम्मिलित हैं—

प्रोटीन	२० प्रतिशत
फेट्स	० २ ,,
कार्बोहायड्रेट्स	२ ० ,,
इनआर्गेनिक लवण	१—१·५ ,,
एक्सट्रेक्टिव्स	नाइट्रोजन युक्त तथा नाइट्रोजन रहित
पिगमेन्ट्स	पोरफायरिन डेरीवेटिव्स
एन्जाइम्स	को—एन्जाइम सहित

इसके साथ ही प्लेन तथा कार्डियक मसल्स की अन्तःसंरचना स्केलेटल पेशी से भिन्नता लिए होती है, इसका उल्लेख आवश्यक है और हृदयस्थित पेशी में और भी वैशिष्ट्य रहता है। सामान्य रूप से पेशी की प्रोटीन इस प्रकार उपलब्ध की गयी है।

	लगभग मात्रा
१. मायोजन	२० प्रतिशत
२. मायोसिन	४० ,,
३. ग्लोब्यूलिन (X)	२० ,,
४. मायोएल्ब्यूमिन	२० ,,
५. स्ट्रोमा-प्रोटीन्स	
६. न्यूकिलयो-प्रोटीन्स	
७. मामोहेमोग्लोबीन	

इस प्रकार पेशीगत प्रोटीन की महत्ता तथा स्थिति स्पष्ट हो चुकी है, शरीर रचना तथा क्रिया-विधान की दृष्टि अन्तःसंरचना में इन तत्वों तथा उपादानों का विशेष महत्त्व रहता है, क्योंकि उक्त तालिका से ठोस भाग में प्रोटीन की सर्वाधिक मात्रा में पेशीगत उपस्थिति स्पष्ट हो चुकी है। इस मांसल प्रोटीन के कतिपय कर्म हैं—

१. प्रोटीन का भण्डार
२. वेम्मर के रूप में सहयोग
३. पेशीगत लचीलापन
४. एंजायम क्रिया
५. आक्सीजन का भण्डार

कार्य

आस्थिकंकालगत पेशियाँ (Skeletal muscles) में कतिपय गुण-कर्म सामान्य रूप से रहते है, जिनके सामूहिक संयोजन से पेशियां विभिन्न कर्म करती हैं—

१. एक्साइटेबिलिटी—पेशी में यान्त्रिक, रासायनिक, वैद्युत या तापीय-किसी प्रकार के उत्तेजन से देखा जा सकता है कि उनमें उत्तेजना ग्रहण करने तथा तदनुसार प्रकट करने की शक्ति रहती है।

२. रिफ्रेक्टरी पीरिएड—एक उत्तेजना के बाद कुछ समय का ऐसा काल होता है, जिसमें पेशी में उत्तेजना नहीं आती है, इन दोनों उत्तेजनाओं के मध्य का जो समय होता है, वह विभिन्न प्रकार की पेशियों तथा तापक्रम पर बढ़ या घट जाता है।

३. कन्ट्रक्टिलिटी—पेशी जिस समय उत्तेजना की स्थिति में होती है, तो उसमें संकोच उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया का अध्ययन विशद रूप में किया जा सकता है और सीम्पल मसल कर्व का प्रयोग प्रमुख है, पेशी का उत्तेजनशीलता तथा संकोचशीलता पर कतिपय बातों का प्रभाव पड़ता है, यथा—उत्तेजन की शक्ति व अवधि, तापक्रम, पुनरावृत्ति करना, भार की मात्रा, लवण च आयन्स इत्यादि।

४. ऑल आर नन् लॉ—यदि सम्पूर्ण रूप में से मांसीय तन्तु संकुचित होता है तो वह अधिकतम सीमा तक संकोच उत्पन्न कर सकेगा और यदि अन्तः व बाह्य स्थितियों में परिवर्तन आ जाता है तो उसके परिणामस्वरूप संकुचन मात्रा में भिन्नता आ जायेगी।

५. फटिग्—यदि पेशी बार-बार उत्तेजित की जाती रहेगी तो क्रमशः उत्तेजनशीलता कम होते-होते संवेदना अत्यन्त न्यून हो जायेगी।

६. टानिसिटी—शरीरगत पेशियाँ (स्केलेटल मसल्स) में सदैव हल्के तनाव की स्थिति में रहती हैं। पेशी की टान (tone) को प्रत्यावर्तित क्रिया तथा आंशिक संकुचन के रूप में समझा जा सकता है। यदि मोटर नर्व काट दी जावे तो पेशीगत तनाव समाप्त हो जाता है।

७. कण्टक्टिविटी—पेशियों मे रहने वाली चालकता में उत्तेजन के उपरान्त संकुचन की धारा संवेदन के सिरे से प्रारम्भ होती है तथा दोनों मार्ग पेशीगत इस क्रिया से सम्बद्ध रहते हैं। ऐसे कई परीक्षण मांसपेशी पर किये जा सकते हैं तथा मात्रा विभिन्न प्राणियों में अन्तर लिए होते हैं।

८. एक्सेटेंसिबिलिटी तथा लचीलापन—पेशियों में जब उत्तेजन क्रिया प्रारम्भ होती है, तो वह प्रसारित हो जाती है तथा तनाव (टेंसन) समाप्त हो जाने पर वह अपनी मूल आकृति (लम्बाई) पर आ जाती है। इसको भी कई प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

गति (Movements)

पेशियाँ दो प्रकार से गति किया करती हैं—ऐच्छिक (Voluntary) तथा अनैच्छिक (Involuntary)। अतः इनकी गति में उत्पादन बनने के लिए इसी प्रकार मांस से युक्त विभिन्न स्थानों पर मांस पाया जाता है।

१. चलना-फिरना भोजन चबाना—हाथ घुमाना-फिरना, बोलना, हँसना,

भागना आदि क्रियायें ऐच्छिक वर्ग में और हृदय के
अन्न मार्ग का आकुञ्चन, नेत्रस्थ तारिका का विकास-संक
अनैच्छिक होती हैं। इस कार्य की सिद्धि के लिए नला, आन्त्र,
हृदय, नेत्र आदि अनैच्छिक माँस रहता है। अनैच्छिक मांसे सैलें लम्ब
में से मोटी, सिरों पर पतली और नुकीली होती हैं। सभी प्रकार की मांस
नाड़ी मण्डल से प्रसारित सूक्ष्म तन्तु से युक्त रहती हैं। इन्हीं के द्वारा मस्तिष्क
की आज्ञानुसार संकोच व प्रसारण प्रक्रियायें संचलित रहती होती हैं।

प्रश्न—रक्त क्या है ? रक्त की संरचना लिखिए। (१९७०)

उत्तर—रक्त का परिचय (१९६३, ६५)

रस धातु से रक्त का निर्माण होता है अर्थात् रस रक्त से मिलकर उसे पुष्ट करता है। रस जैसे-जैसे रक्त के अधिक संसर्ग में आता है, वह स्वयं अधिकाधिक रक्तरूप होता जाता है। आहार द्वारा उपलब्ध पोषणा की प्रभूत राशि अन्य धातुओं को विदीर्ण कर रस पतला होता है। इसका जो अंश रक्त धातु की पुष्टि करता है, वह रंजकपित्त की क्रिया से रक्त वर्ण हो जाता है। इस रंजक पित्त के स्थान शास्त्रों में लिखित हैं। रक्त एक द्रव्य संयोजन तन्तु है, जिनमें कोषाणु (रक्तकण) द्रवरूप तथा अत्यधिक परिमाण में विद्यमान हैं, अतः कोषाणवीय पदार्थ के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। अन्य संयोजक तन्तुओं की भाँति रक्त का विकास मध्यान्तर से होता है। इसी रक्त द्रव माध्यम के द्वारा शरीर के सभी तन्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पोषण प्राप्त करते हैं। इसी रक्त के द्वारा हमारे सब शरीर का-पोषण होता है।

रक्त सामान्यतः गहरे लाल रंग का तरल है। जल की अपेक्षा इसका आपेक्षित भार (Specific gravity) अधिक माना गया है। रक्त के आर-पार नहीं देखा जा सकता है। रक्त का स्वाद लवण रस लिए होता है। प्रायः ताप परिणाम भी १०० डिग्री फारेनहाइट होता है, विकारग्रस्त अवस्था में रक्त के तापक्रम में परिवर्तन स्वयं संभावी है। नवीन रक्त में प्राणी की प्रकृति के अनुसार प्रायः विशिष्ट गन्ध आती है। विशुद्ध रक्त का स्वरूप आयुर्वेद में विशेष उल्लिखित है। शुद्ध रुधिर का वर्ण लाल होता है। मनुष्य की वातिक, पैत्तिक कफज तथा सम प्रकृति के कारण खून की रक्तिमा में भी वैचिष्य मिलता है। सम प्रकृति वाले मनुष्य की लाली रक्तिमा वीरबहूटी के वर्ण सदृश प्राप्त

है। शेष वातादि प्रकृति वाले पुरुषों के खून का रंग तप्त स्वर्ण, लाल कमल ।रस या गुंजा के समान होता है। आधुनिक विवेचनों के आधार पर वायु-ण्डल ऑक्सीजन रक्त के हीमोग्लोबीन से मिलती है, यही ऑक्सीहीमोग्लोबीन रक्त के वर्ण में हेतु है।

रक्त संरचना (१९६३) रक्त का स्वरूप (१९७०)

रक्त को भली भाँति निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि रक्त के दो भाग होते हैं। एक तरल भाग (Plasma) और दूसरा रक्तकण (Cells) होते हैं। प्लाज्मा हल्के पीले रंग का तरल पदार्थ है। यह प्लाज्मा रक्त से केन्द्राप-कर्षक विधि अथवा जीवित परीक्षण-नलिका (Living test tube) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्लाज्मा में रक्त के कण तैरते रहते हैं। इसमें ९० भाग जल तथा १० भाग अन्य घुली वस्तुओं के होते हैं। इन घुली वस्तुओं में इनका वर्णन उल्लेखनीय है। रक्त में तीन प्रकार की प्रोटीनें होती हैं। प्लाज्मा में वसा, अंगूरी शक्कर (Glucose), शर्कराजन (Glycogen) कुछ लवण, आक्सीजन, कार्बन डाईआक्साइड, नाइट्रोजन गैसें, यूरिया, यूरिक एसिड प्रभृति पदार्थ, कुछ एन्टीटाक्सीजन—पाये जाते हैं। सारांशत थक्का रक्त के कण और एक दूसरी वस्तु जिसे फाइब्रिन कहा जाता है, रक्त ६०-६५ भाग प्लाज्मा में घुली रहती है। रक्त में जमने के समय इस प्रोटीन में एकाएक परिवर्तन होकर यह आच्छादित हो जाती है। अतः इसे प्लाज्मा से बाहर निकलना पड़ता है और रक्त का जमाव प्रारम्भ हो जाता है। एक रक्तरस (Serum) नामक तरल द्रव्य भी होता है। रक्तरस वह भाग है जो फाइब्रन नामक प्रोटीन के अनघुल बनकर निकल जाने के पश्चात् शेष रह जाता है। रक्त बाहर निकलने पर जम जाता है किंतु रक्तवह स्रोतों में वह नहीं जमता। इस कार्य में यह तथ्य है कि यकृत् के द्वारा एक स्कन्दन विरोधी पदार्थ उत्पन्न होता है जिसे प्रतिस्किन्दन (Antithrombin) कहते हैं। उसी के कारण स्कन्दन की क्रिया सूत्रजन पर नहीं हो पाती और रक्तजमन की क्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती।

रक्त की सैलें (Blood Corpuscles) तीन प्रकार से पाई जाती है। लाल रक्त कणों (R. B. C.) की संख्या उन श्वेत कणों से संख्या में अधिक पाई जाती है। इन लाल रंगों का आकार गोल (Spherical) तथा दोनों

तरफ से कुछ दबी होती है। इसी कारण से चक्की या चकई (Disc) सदृश प्रतीत होती है। इन कणों की मोटाई $\frac{1}{12000}$ इन्च और चौड़ाई अथवा लम्बाई $\frac{1}{3200}$ इंच होती है। रक्त का रंग इन्हीं कणों के कारण रक्त वर्ण (Red) हुआ करता है। एक घन सहस्रांश में इनकी संख्या ५० लाख होती है और स्त्रियों में ४५ लाख, शिशुओं में ६० लाख पाई गई है। यह एक घटना है कि रक्त कण जब अलग-अलग होते हैं तो पीले रंग और आपस में मिल जाने से लाल रंग प्रतीत होने लगते हैं। स्तनधारियों के लाल कणों में मींगी नहीं होती। कणों के अधिक टूटने से ये कम होते हैं।

दूसरे प्रकार के श्वेत कण (W.B.C.) Leucocytes होते हैं। इनका रंग जल के समान होता है। कुछ श्वेत कण लाल कणों से बड़े तथा कुछ छोटे होते हैं। इनका व्यास प्राय: १० म्यू होता है। उनके केन्द्रक (सामान्यत: एक बूंद के साठवें भाग में) ७ हजार से ९ हजार तक पाये जाते हैं। अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तनशीलता युक्त हैं। ५०० या ६०० रक्त कणों (R.B.C.) के पीछे एक श्वेतकण (W.B. C.) प्राप्य है। इसके आकार गोलाकार आदि विभिन्न रूपों में रहा करते हैं। इन सेलों धमनी-केशिका के भित्तियों एक लघु कोषों के मध्य से होकर बाहर निकल जाने की शक्ति विद्यमान है। श्वेतकण एककेन्द्री वृहत एकेन्द्री तथा परिवर्तनी श्वेतकण लसीकाग्रन्थियों से उत्पन्न होते है कुछ अस्थिमज्जा (Bone marrow) से जनित हैं। श्वेतकण के अनेक प्रकार तथा माने गये हैं। बहुकेन्द्री श्वेतकण (Polymorphonuclear), लघु एककेन्द्री श्वेतकण (Small mononucelar या लिम्फोसइट), वेसोफिल, इयोसिनोफिल परिवर्तनी (Transitional) श्वेतकण आदि इसके भेद हैं। श्वेतकणों का कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनका जीवाणु-भक्षण (Phogooytosis) का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। शरीर पर होने वाले बाहरी प्रत्येक आक्रमण की रक्षा करते हैं। इसलिए श्वेतकणों की संख्या वृद्धि करना आवश्यक होता है। श्वेताणुओं के जीवाणुभक्षण के अतिरिक्त रक्त में भी उनको नाश व निष्क्रिय करने की शक्ति विद्यमान है। इस प्रकार के हेतु द्रव्य को रक्तद्रावक कहते हैं।

रक्तकणिका (ब्लेडप्लेटलेटस या थ्रोम्बोसाइट्स) की भी जानकारी आवश्यक है। ये छोटी दण्डकार या गोल सी हैं। इन्हें कोई रक्तकण के स्वतन्त्र भाग या मज्जा के बृहदाकार कोषाणु अवयव मानते हैं। रक्त के एक घन

मिलीमीटर में इनकी संख्या ३ लाख होती हैं। रक्तजमन क्रिया में इनका विशेष भाग रहता है। इनका आकार परिवर्तनशील है, पर ये चलायमान या गति-युक्त नहीं हैं। जब रक्त जमता है तो परस्पर चिपक कर एकत्रित हो जाते हैं। रक्तस्रावजनक रोग में इनकी संख्या कम होती है।

उत्पत्ति स्थान

आयुर्वेद में रक्त की उत्पत्ति यकृत् प्लीहा व आमाशय से की है। प्लीहा रुधिर में रक्तकणों का उत्तम संग्रस्थल होती है। इसमें से बाहर आने वाले रुधिर में हीमोग्लोबीन का प्रमाण विशेप है। आयुर्वेद का मत आधुनिक गवेषणाओं से भी सम्पुष्ट है। रस सीधा अथवा यकृत् द्वारा प्रथम हृदय म ही जाता है और उसी की क्रिया से रक्त में मिश्रित हो उक्त द्रव्य के सम्बन्ध से देह में धावन क्रिया करता है।

कार्य

रक्त के कार्यों सम्बन्धी स्थल में भी आधुनिक गवेषणाएं आयुर्वेद मत की पुष्टि करती दीख पडती हैं। शुद्ध रुधिर शरीर की अग्नियों को दीप्त कर आहार-पावन करता है, और उसके द्वारा ही नहीं प्रत्यक्ष रूप में भी सब धातुओं को पुष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। शरीर की उत्पत्ति, स्थिति व विकास रक्ताधीन है। समता युक्त तथा विशुद्ध रक्त ही शरीर के बल. वर्ण, सुख, जीवन का हेतु माना जाता है। अतः रक्त प्राण है। रक्त का मल यकृतीय पित्त है। रुधिर द्वारा जहां शरीर को पोषण मिलता है, वहां शरीर स्थिति के लिए अनिवार्य जीवनीय भी उन्हें रक्त द्वारा ही मिलता है। पाचक अंगों की क्रिया को ठीक रखने के लिए कोष्ठ में इसका $\frac{1}{3}$ भाग कोष्ठ में ही रहता है। सारांशतः रक्त के यह कार्य होते हैं—पोषण, औषजन-वहन, मलपदार्थ का निर्हरण, अन्तःस्रावों का वहन, तापसंमितरण, रक्षा कार्य क्षारीयतास्थापन और रक्त स्रावनिरोध। सारे शरीर में रक्त की मात्रा हाथ की कुल आठ अंजलि तथा आधुनिक मतानुसार रक्त सर्व शरीर का ५ प्रतिशत होता है।

प्रश्न—लसीका संस्थान पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—शरीर में लसीका संवहन होता है। हृदय की दिशा में एक रस की प्रगति होती हैं। आगे बढ़ा हुआ रस पीछे न वापिस आ जाये, अतः बड़ी

रसायनियों में संपादिकाएँ (Valves) होती हैं। यह बहुत आपस में निकट रहती हैं। यदि रसायनी किसी कारण विस्फारित हो जाये तो इससे परिपूर्ण इन कपाटिकाओं के कारण उसकी आकृति एक माला की तरह लगती है।

ग्रन्थियाँ (१९६५)

रसायनियाँ मिलकर बड़ी रसायनियाँ बनती हैं। व्यंवधान रूप में इनके कपाटिकाओं के अतिरिक्त रस ग्रन्थियाँ भी उपस्थित रहती हैं। ये रस ग्रन्थियाँ मुख्यतः वंक्षण (जंघा मूल), कक्षा (कांख) तथा कम संख्या में कर्पूर (कोहनी)• जानु (घुटने) पर होती हैं। उदर में श्रेणी के चारों ओर (अंत्र) बन्धनी कला (Mesentery) पर उरोगुहा तथा ग्रीवा में काफी संख्या में मिलती है।

लसीका

शुद्ध रक्त जैसे हृदय से मिलकर आगे अनुधावन करता है, वैसे उनकी वाहिनियों की परिधि तथा दीवालें पतली होती हैं। अन्त में उन केशिकाओं की दीवालें इतनी पतली पड़ जाती हैं कि उनमें से स्वच्छ द्रव्य चूने लगता है, उसे लसीका (Lymph) कहते हैं अर्थात् इस द्रव्य के धातुओं के सूक्ष्माणु स्वरचना और कर्म के योग्य द्रव्य चुन लेते हैं, इसे स्थायी रस नाम भी दिया गया है।

१. लसीका एक प्रकार का रक्त ही है, जिसमें आधुनिक मतानुसार रक्त कण (B. C.) पृथक् कर दिये गये हैं। सैलों के लिए आवश्यक भाग लसीका में सम्मिश्रित रहते हैं। लसीका अधिष्ठान लसीका संस्थान है, जिसमें लसीकावकाश (Lymph Spaces) तथा रसायनियां या लिम्फ वैसल्स (Lymph vessels) समाविष्ट हैं। ये रसायनियां लसीका ग्रन्थियों (Lymphatic glands) में से होकर निकलती हैं। लसीका केपेलेरीज के साथ उक्त वाहिनियाँ शरीर में आती हैं।

प्रश्न—हृदय का पूर्ण वर्णन कीजिए (१९६३, १९७०)

उत्तर—हृदय माँसपेशीयमय और अधोमुख कमल के आकार का होता है यह वक्षस्थल में दोनों स्तनों के मध्य में स्थिर होता है। यह सारे शरीर में चेतना का एक विशेष अंग माना जाता है। हृदय को ही सुख व दुःख का प्रकाशक कहा है। हृदय उरस्थल के अस्थिपंजर में अधिकांश वास दक्षिण और वाम फुफ्फुस के मध्य में अवस्थित पाया जाता है। इसका आकार मुट्ठी के

आकार का होता है। युवावस्था में हृदय ४॥ इंच लम्बा ३॥ इंच चौड़ा तथा २॥ इंच मोटा होता है। हृदय का अधिक अंश मध्यरेखा के बाईं ओर स्थित रहता है। उसके सामने उरोस्थि (Setrnum) तथा बायीं ओर की दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं उपपर्शुका रहती है। हृदय सौत्रिक तन्तु (Fibrous tissus) से निर्मित आवरण से आवृत रहता है। मांस से निर्मित कोष्ठ में रक्त भरा हुआ रहता है। इस के खड़े मांस के पर्दों द्वारा चार भाग हो जाते हैं। ऊपर की मंजिल के भागों को ग्राहक कोष्ठ (Ventricle) नाम दिया गया है। जिस छत द्वारा ऊपर की मंजिल नीचे की मंजिल से जुदा होती है, वह पतले-पतले किवाड़ों से बनी है। सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित इस यन्त्र को कपाट (Valves) नाम दिया गया है। ये कपाट नीचे की तरफ खुलते हैं पर ऊपर की तरफ नहीं। दायीं ओर तीन तिकोनिये किवाड़ तथा बायीं ओर केवल दो ही स्थित होते हैं।

इस प्रकार दाहिना ग्राहक कोष्ठ (Right atrium), दाहिना क्षेपक कोष्ठ (Right ventricle), बायां ग्राहक कोष्ठ (Left atrium), बायां क्षेपक कोष्ठ (Left Ventricle)। ग्राहक कोष्ठों की दीवालें क्षेपकों की दीवारों से अपेक्षाकृत पतली तथा बायें क्षेपक की दीवालों से २-३ गुणा मोटी होती हैं। हर एक कोष्ठ में लगभग १॥ छटांक रक्त आ सकता है (Capacity) परन्तु ग्राहक न्यून धारण शक्ति वाले होते हैं। दाहिने ग्राहक में नीचे और ऊपर के भाग में ऊर्ध्व तथा अधोग महाशिरा (Superior & Inferior venacava) स्थित है। दाहिने क्षेपक से फुफ्फुसीया शिरायें (Pulmonary artery) और बायें क्षेपक से फुफ्फुसियां शिरायें (Pulmonary veins) चार उदय होती हैं। बायें क्षेपक कोष्ठ के पिछले भाग से एक बड़ी मोटी नली निकलती है, जिस महाधमनी (Aorta) कहते हैं। केवल फुफ्फुसीया धमनी को छोड़कर, सभी धमनियां इसी महाधमनी से उदित हैं। हृद्देशीय कपाटों का सामूहिक ज्ञान आवश्यक है।

दाहिने ग्राहक व क्षेपक कोष्ठों के बीच में ट्राइकस्पिड वाल्व्स (कपाट) होते हैं। बायें ग्राहक व क्षेपक कोष्ठों के बीच में Mitral vaves पाये जाते हैं। फुफ्फुसीया धमनी तथा महाधमनी में भी कपाट होने के पर्याप्त कार्य संचालित होता है। उक्त कपाटों के कारण रक्त दाहिने क्षेपक से दाहिने ग्राहक

में तथा पल्मोनरी आर्टरी से दाहिने क्षेपक में लौट कर आना असंभाव्य है। इसी प्रकार बायें ग्राहक से बायें क्षेपक तथा महाधमनी से बाएँ क्षेपक कोष्ठ में भीनहीं लौटता है।

हार्दिक स्फुरण (Palpitation of heart) का आयुर्वेदानुसार कारण स्वयं हृदय है। नाड़ी संस्थान की नियमकला के बावजूद भी हृदय से स्वतन्त्र पेशीमय होना विशेष प्रासंगिक है। इसकी संकोचात्मक तथा विकासात्मक (Systole & Diastole) गतियों से रक्तानुधावन क्रिया, शुद्ध, अशुद्ध वायु प्रवेश-विलय के साथ होती रहती है।

प्रश्न—रक्त संवाहन का वर्णन कीजिए ? (१९७०)

उत्तर—रक्तवह संस्थान (Circulatroy System) में हृदय पम्प (क्षेपक यन्त्र) का महत्त्वपूर्ण कार्य संचालन करता है। हृदय जीवितावस्था में कभी विश्राम नहीं करता। शरीर का रक्त अंगों को पुष्टि सामग्री से सम्पन्न बना दोनों महाशिराओं (vena caves) द्वारा दाहिने ग्राहक कोष्ठ (आरीकिल) में वापिस आ जाता है। यह कोष्ठ रक्त से परिपूर्ण होते ही संकुचित होने लगता है। और रक्त के क्षेपक कोष्ठ में पहुंचने के तत्काल बाद कपाट बन्द हो जाते हैं। पुनः रक्त फुपफुसीया धमनी द्वारा (उसकी शाखाओं से) फेफड़ों में पहुंच जाता है यह रक्त शुद्ध होकर चार नलियों द्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ में आता है। यह कोष्ठ सिकुड़ता है और रक्त बायें क्षेपक में प्रवेश करता है। कपाट तो बन्द हो जाते हैं। इस कोष्ठ के संकुचन से रक्त महाधमनी (Aorta) में जाता है। उसकी शाखा से रक्त समस्त शरीर में पुनः शुद्ध होकर अनु-धावन करता है। दोनों प्रकार के कोष्ठ साथ सिकुड़ते हैं। यही क्रम बराबर आयु पर्यन्त जारी रहता है। हृदय में एक आकुंचन व प्रसार में मिनट का समय लगा करता है। हृदय में 'लुब' तथा 'डब' दो शब्द निरन्तर चलते रहते हैं। सामान्यतः हृदय ७२ या ७५ बार धड़कता है।

शरीर में रक्तानुधावन (Circulation) (१९६३)

आयुर्वेदानुसार हृदय शुद्धरक्तवहा धमनियाँ निकलती हैं, जिनका सूक्ष्मतर शाखाएँ शरीर में व्याप्त हैं। इसके द्वारा रुधिर और रस समस्त धातुओं को पुष्ट करते हैं। इस कर्म में शुद्ध वायु उनका सहायक है।

अब सम्पूर्ण शरीर में रक्त के परिभ्रमण को भी संक्षेपतः समझ लेना

चाहिये। वाम क्षेपक के संकोच से रक्त महाधमनी में प्रवेश कर उसकी शाखाओं से समस्त शरीर में जाता है। शरीरांगों में पहुंचकर धमनियों की अनेक छोटी-छोटी शाखाएँ हो जाती हैं। इनमें भ्रमण करता हुआ रक्त केशिकाओं (Capillaries) में पहुँचता है। वहीं से आरम्भ छोटी शिराओं, फिर बड़ी शिराओं से मिलकर आगे रक्त भ्रमण करता है।

निचली शाखा की ओर्वीशिरा (Femoral vein) वस्ति प्रदेश में कुछ सहायक शिरायें (Tributaries) से मिलती हुई अंतःश्रोणिगा व बाह्य श्रोणिगा (Internal and external Illiac vein) सम्पर्क करती है। इनमें निर्मित संयुक्ता श्रोणिगत शिरा (Common Illiac vein) नामक बड़ी नलिका के मिलने से अधोगा महाशिरा (Inferior vena cava) नामक बड़ी नलिका का निर्माण होता है। यह शिरा उदर (Abdomen) से महाधमनी के दक्षिणपार्श्व में स्थित होती है। अधोगा महाशिरा उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई यकृत के पृष्ठ भाग से वक्षोदर मध्यस्थ पेशी (डायाफ्राम) में छिद्र करके दक्षिण ग्राहककोष्ठ के अधोभाग में समाप्त हो जाती है। इस व्यवस्था से अशुद्ध रक्त उदर व निम्न शाखाओं (पैरों) का हृदय में पहुंच जाता है।

अब शरीर के ऊर्ध्वांगों (हाथ, गर्दन, सिर, छाती) की अशुद्धरक्त को लाने वाली शिराओं से निर्मित ऊर्ध्वगा महाशिरा (Superior vena cava) दक्षिण ग्राहक के ऊर्ध्वभाग में समाप्त होती है। यह अशुद्ध रक्त अब शु[illegible] किया जाता है। अतः इस दायें ग्राहक में एकत्रित अशुद्ध रक्त (जो कि महाधमनी द्वारा शुद्धावस्था में शरीर को भेजा गया था)—दक्षिण क्षेपक कोष्ठ में पहुँचता है। वहाँ से फुफ्फुसीया धमनी (Pulmonary artery) द्वारा दो शाखाओं में बँटकर उभय फुफ्फुसों (Lungs) में पहुँच कर फुफ्फुसीय केशिका के जालकों में वितरित हो जाता है। यह रक्त श्वास द्वारा गृहीत उस प्राणवायु के सम्पर्क से शुद्ध होते ही चमकीले लाल वर्ण का बन जाता है। यह शुद्ध रक्त (Pure Blood) चार फुफ्फुसाभिगा शिराओं द्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ में आ जाता है। इस कोष्ठ से फिर महाधमनी (Aorta) के द्वारा समस्त शरीर में बिखर जाता है। इस क्रम को लगभग १५ सैकिण्ड में पूरा कर लिया जाता है।

वस्तुतः रक्तपरिभ्रमण के दो भाग होते हैं इसमें एक लघुचक्र और दूसरा वृहत् चक्र है। रक्त हृदयस्थ दायें भाग से फेफड़ों में जाता है। इसे फुफ्फुसीय

रक्त-संवहन (Lesser circultion) कहते हैं। दूसरे भाग या चक्र में रक्त बायें भाग में प्रारम्भ होता है, और सम्पूर्ण शरीर में फैलकर, पुनः हृदय के दायें भाग से वापिस आ जाता है, यह वृहत् या सामान्य रक्त संवहन (Systematic) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त आन्त्र, उदरस्थ आमाशयों की केशिकाओं में बहता हुआ यकृत में एकत्रित हो जाता है। वहाँ इसका विभक्तिकरण होकर हृदय में पहुँचता है। इसका प्रक्रिया-विभाग को प्रतिहारी संवहन (Portal circulation) कहते हैं। इसी प्रकार वृक्कों में रक्तभ्रमण को वृक्कीय संवहन (Renal circtulation) का नाम दिया है।

प्रश्न—शिरा तथा धमनी का परिचय दीजिए। (१९७२)

उत्तर—(क) शिरा (Veins) (१९६६)

रक्तवह स्रोतों में शिरायें महत्त्वपूर्ण हैं। आयुर्वेद में अनुसार ७०० शिरायें मानी गई हैं। प्राचीन विद्वानों ने शिरा, धमनी आदि को एक दूसरे के लिए व्यवहार कर लिया है। महाशिरा सम्बन्धी स्थूल परिचय ज्ञान ही प्रासंगिक है। केशिकाओं के जालक के बाद शिराओं का प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में सूक्ष्म होती हैं और आगे मिल जाने से आकार में बढ़ जाती हैं। इस प्रकार ये प्रमुखतः अधोगा तथा ऊर्ध्वगा महाशिराओं (वेनाकेवा), चार फुपफुसीया शिराओं तथा हार्दिक शिराओं के रूप मे परिणत होती हैं। धमनियों की अपेक्षा शिराओं में २-३ गुणा अधिक रक्त रहता है। शिराओं में तीन स्तर होते हैं। शिरा की भित्ति की रचना धमनीवत् होती है। सबसे बाहर सौत्रिक तन्तु रहता है। धमनी की अपेक्षा यह अधिक होता है। मध्य में अनैच्छिक मांस (धमनी से न्यून मात्रा में) पोस व श्वेत सूत्र मिश्रित होता है। इस पर सैलों की तह बिछी रहती है। मांसाल्पतावश शिरा की भित्ति पतली तथा पीत सौत्रिक तन्तु की न्यूनता के कारण अल्पस्थितिस्थापकता युक्त होती है। कुछ शिराओं के भीतर कपाट भी होते हैं। हृदय के निचले प्रदेश में स्थित शिराओं के कपाट ऊपर की ओर रहने से रक्त हृदय की ओर बहता है। ऊर्ध्वगा, अधोगा , अस्थि, कपाल और केशिकाओं की शिराओं मे कपाट नहीं रहते हैं। यह सदैव याद रखना चाहिए कि शिराओं में अशुद्ध रक्त (प्रायः) बहता है।

यह देखा गया है कि जिस स्थान पर धमनी अंग के भीतर प्रवेश करती है, उसी प्रदेश में शिरा का बहिर्गमन होता है। कभी-कभी यह अवस्था नहीं भी

मिलती हैं। शिरायें भी मांस से पर्याप्त आवृत्त हैं। त्वचा से पतली-पतली उपरितन शिरायें (Superficial Veins) दिखाई पड़ती हैं, नीले रंग की। शिराओं के पृथक्-पृथक् धमनियों की तरह नाम भी रखे गये हैं।

शिराओं में रक्त का प्रवाह मन्द से होता है। केशिकाओं के बाद शिरा का आरम्भ हो जाता है। प्रमुख रूप से अधोगा तथा ऊर्ध्वगा महाशिराओं चार-फुफ्फुसीया शिराओं तथा हृदय की शिराओं के रूप में आ जाती हैं। धमनियों की अपेक्षा शिराओं में २-३ गुना अधिक रक्त रहता है। शिराओं में तीन स्तर रहते हैं। मांस की कमी के कारण शिरा की दीवार पतली व पीले सैत्रिक तन्तु की न्यूनतावश स्थितिस्थापकता कम होती है।

आयुर्वेदिक में शिरा, धमनी आदि शब्दों का एक दूसरे के लिए व्यवहार किया गया है। वास्तव में शिरा, धमनी; स्रोत तथा रसायनी, ये सभी अलग-अलग द्रव्यों का वहन करते हैं। स्रोत, शिरा धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी, आशय आदि स्रोतों के सामान्य नाम हैं। शिराओं द्वारा दोषों तथा रक्त का वहन होता है।

(ख) केशिकाएँ (Capillaries)

केशिकाएं रक्तधराकला (एण्डोथीलियम) से बनी होती है। केशिकाओं के प्रतान समस्त शरीर में फैले रहते हैं और मांस भाग में अधिकतर होते हैं। जब शरीर का मांस, आघात आदि किसी कारण से फट जाता है तो वे केशिकाएं कट जाती हैं और रक्त का स्राव होने लग जाता है। केशिकाओं की पतली दीवारों से धातुओं का पोषक रस मिलता है। शिराओं द्वारा केशिकाओं का रक्त भी एकत्र होकर हृदय में पहुंच जाता है। धातुओं के रस के झरते रहने से केशिकाओं का स्रोत भी कहा जाता है।

पहले बताया जा चुका है कि इस हृदय से रक्त धमनियों द्वारा शरीर में जाता है। ये धमनियाँ उत्तरोत्तर पतली या छोटी होती जाती हैं। इनकी शाखायें ही केशिकाएँ हैं। इसके समाप्त होने पर अशुद्ध रक्तवह नलिकाओं का रूप प्रारम्भ हो जाता है। ये नलिकायें क्रमशः मोटी होती जाती हैं, जो कि आगे शिरायें बनती हैं।

आधुनिक मत है कि केशिकायें केवल एक आवरण से बनी होती हैं। इनसे पतलेपन के कारण सूक्ष्म पोषक द्रव्य तथा आक्सीजन झरता है। इस

प्रकार के समान पतली रक्तवाहिनियों को केशिकाएँ समझना चाहिए। केशिका का एक सिरा धमनियों तथा दूसरी शिराओं से सम्बन्ध रखता है।

(ग) धमनियाँ (Arteries) (१९६६, १९७३)

धमनियों का उद्गम आयुर्वेद में हृदय माना गया है। हृदय का संकोच तथा इनकी अपनी स्थितिस्थापकता के कारण इनमें धमन-सशब्द स्फुरण होता है। हृदय से दस धमनियाँ (पाश्चात्यानुसार एक बृहत् धमनी) निकलकर उत्तरोत्तर शाखायें हो जाती हैं।

धमनी की दीवाल सौत्रिक तन्तु तथा माँस (अनैच्छिक प्रकार) से निर्मित होती है। प्रथम स्तर सौत्रिक तन्तुओं का तथा द्वितीय माँस की तह होता है। माँसपेशियों तथा सौत्रिक तन्तुओं में कुछ पीले—श्वेत सूत्र भी सम्मिलित होते हैं, धमनी का भीतरी पृष्ठ चिकना होने से रक्तसंवाहन सुविधा होती है। केवल फुफ्फुसीया धमनी (Pulmonary artery) को छोड़कर सभी धमनियों में शुद्ध रक्त रहता है। धमनियाँ रक्त को शुद्धावस्था में हृदय से सम्पूर्ण शरीर में ले जाती हैं। धमनियाँ अच्छी तरह नहीं सिकुड़ पातीं, खाली रहती हैं। इस अवकाशपूर्णता के कारण यह वायुपूर्ण समझी जाती हैं। धमनियों का पोषण छोटी-छोटी धमनियाँ से होता है, जिन्हें स्रोतःपोषक धमनियाँ नाम दिया गया है। ये धमनियाँ बाह्यप्रचारिका (धमनी का बाहरी स्तर) में शाखाओं में विभाजित होती हुई मध्यस्तर में पहुँच जाती हैं। अतिसूक्ष्म तथा अणुवीक्ष्य धमनी धमनिका (Arteriole) कहते हैं। धमनी का स्फुरण जीवित शरीर में प्रतीत होता रहता है। हृदयाकुञ्चन के समय धमनी उठती हैं और प्रसारावस्था के समय पूर्व दशा में आ जाती है। फड़क को नाड़ी गति या नब्ज (Pulse) कहते हैं। यह स्पन्दन प्रायः धमनियों में ही प्राप्त होता है। शिराओं में नहीं धमनियों का लचीलापन और हृदय को 'पम्पिंग' करने से ही यह प्रक्रिया सम्पन्न होती रहती है। धमनियों में संवेदिक नाड़ीसूत्र पेशी सूत्रों के बीच में जालकों के रूप में प्राप्त हैं।

चिकित्सक जन कलाई में अंगुष्ठमूल पर नाड़ी या धमनी की गति का ज्ञान करते हैं। यह धमनी गहराई में न होने से स्फुरण का ज्ञान करती है, यह बहिःप्रकोष्ठीया धमनी (Radial Artery) है। रक्तवाहिनियों में दोषों (वात, पित्त, कफ) का भी वहन होता है नाड़ी भी विभिन्न वातादिदोषों, हृदय

विकारों आदि में विभिन्नतापूर्ण पाई जाती है। यह दुःख (रोगारोग्य) को बताने वाली है। नाड़ी की परीक्षा छः स्थानों पर कर सकते हैं। सर्वधमनियों के शरीर में उनके प्रदेशानुसार पृथक्-पृथक् नाम रख दिए गए हैं।

प्रश्न—धमनी शाखाओं को समझाइये।

उत्तर—महाधमनी (१९६५, ६६, ६८)

धमनियों में प्रथम महाधमनी (Aorta) का नाम आता है। उसका आरम्भ बायें क्षेपक कोष्ठ से होता है। यह धमनी कुछ ऊपर जाने के बाद बायें भाग की ओर झुककर अधोगामी हो जाती है। इस समय हृदय के पृष्ठ भाग में स्थिति रहते हुए, वक्ष के निम्न प्रदेश में पहुंचकर डायाफ्राम पेशी में छेदकर उदर में पृष्ठवंशीय कशेरुकाओं के सामने तथा अन्त के पीछे पाई जाती है। यह महाधमनी (एओर्टा) चतुर्थ कटि-कशेरुका के सम्मुख विभाजित हो जाती है। इस प्रकार महाधमनी के उद्गामी (Ascending) महराब, (arch) अधोगामी (Descending) तीन भाग भी किये जा सकते हैं। दो इन्च लम्बे ऊपर वाले भाग से हृदय पोषक हार्दिक धमनियों (Coronary arteries) का उदय होता है। महराब प्रदेश से उदित तीन बड़ी शाखायें भी विभक्त हो जाती है। पहली उपशाखा दाहिनी ऊर्ध्व शाखा का पोषण करती है (ये शिरोथियाँ या अक्षकधरा धमनियां हैं।) दूसरी उपशाखा दाहिनी अक्षकाधोवर्तिनी (Subclavian A.) का रूप में ग्रीवा व शिर के दक्षिण प्रदेश को पोषण देती है। इसी महराब की द्वितीय शाखा से ग्रीवा शिरा भाग तथा तीसरी शाखा से ऊर्ध्वशाखा का पोषण होता है।

अधोगामी महाधमनी से अनेक शाखायें उद्भूत है। ये वक्ष में स्थित अंग फेफड़े, अन्य प्रणाली, लसीका ग्रन्थियां वायु की प्रणालियों का पोषण देती है। ९ जोड़े पर्शुकांतरिक धमनियों (Intercostal arteries) से निकलकर पसलियों के बीच रहकर वक्षीय भित्तियों को पोषण प्रदान करती है।

उदर में इसकी (धमनी की) याकृती धमनी (Hepatic A) आमाशयिकी धमनी, प्लैहिकी धमनी; वृक्किका धमनी, अंत्रांऊर्ध्वगामिनी व अंत्राधो धमनी आदि शाखाएं होकर क्रमशः यकृत्, आमाशय, प्लीहा, आंत्र आदि की पोषक होती हैं। उसकी प्रत्येक अन्तिम शाखा दो शाखायें होकर वस्ति प्रदेशस्थ अंगों का पोषण करती हैं। यहां अन्तः तथा बहिः श्रोणियां हैं। दूसरी बड़ी शाखा

वंक्षण से जंघा में प्रवेश करके निम्न शाखा (पैरों) को पोषण देती है। यहां और्वी धमनी (Femoral A.) जाचिकी धमनियां (Genieular) जंघा पश्चिमगा तथा जंघा पुरोगा धमनियाँ (Post, and Anttroli) को स्मरण रखना चाहिए।

अब ग्रीवा (Neck) प्रदेश की धमनियों का कुछ संक्षिप्त परिचय लीजिए। ग्रीवा में टेंटुवे (स्वरयन्त्र) के आसपास दो शिरोधिया धमनी है। ग्रीवा के ऊर्ध्व भाग में प्रत्येक धमनी विभक्त हो जाती है। एक शाखा मस्तिष्क में पहुँचती है। दूसरी शाखा कपाल के बाह्यांगों की पोषक है। कनपटी के सामने की उपरितन्न शांखिकी तथा निम्न हनु के ऊपर समकोण से एक इञ्च आगे वाली मौखिक धमनी होती है।

हाथों (ऊर्ध्वशाखा) की धमनियों का विवरण इस प्रकार है। दक्षिण प्रदेश की धमनी वक्ष से महराव की पहली शाखा से उद्‌भूत है। वाम महराव से सीधी निकलती है। ये मूलशिरोधिवर्तिनि तथा अक्षकाधोवर्तिनी धमनियाँ हैं। अक्षक तक पहुँचने पर इसकी अनेक शाखा प्रशाखाएँ हो जाती हैं। काशेरुका धमनी ऊपर जाकर मस्तिष्क का पोषण करती है। अब यह धमनी हसुली हड्डी तथा पराशुंका के मध्य होती हुई बगल में शाखायें देकर बाहु में प्रगडीया धमनी के नाम से स्थित रहती है। कूर्पक सन्धि में पहुँचकर ये दो शाखाओं—वहिःप्रकोष्ठिका धमनी तथा अन्त प्रकोष्ठिका धमनी मे विभक्त होकर शेष हस्त अंग का पोषण करती है। प्रथम 'रेडीयम आर्टरी' (वहिःप्रकोष्ठिका धमनी) वहिप्रकोष्ठास्थि के साथ रहती हुई, अल्प माँस में आवृत्त होने के कारण दवाने से अनेक स्फुरण का ज्ञान करके रोगनिदान—में सहायक है।

हस्ततल या हाथ (Palm etc.) में इन दो धमनियों में अनेक शाखायें निकलकर (महारावों से) अंगुली के दोनों ओर एक-एक धमनी रहती है। अन्तःप्रकोष्ठिका धमनी तथा वहिः प्रकोष्ठिका धमनी दोनों आगे चलकर सम्मिलित गोलाकार स्थिति या आकार उत्पन्न करती है। वहिःप्रकाष्ठिका का धमनी से इससे पहले उपस्थित पुरोगा धमनी फूट सकती है। आगे चलकर अंगुलियों में जाने के लिए अपने प्रदेश के अनुसार नामधारी शाखाएं रहती हैं, तथा—करभिया पश्चिमगा धमनियाँ अंगुष्ठिया विशेपा धमनी प्रादेशिनी वहिस्ता धमनी आदि।

अब निम्नशाखा (टाँग, जांघ, पैर आदि) की धमनी बतायेंगे। अंत्रोध धमनी के उद्गम स्थान से (की) मुख्य शाखा आगे बढ़ती है और मध्यत्रिक-धमनी के बनने से पहले मूलश्रोणिगा धमनी का विकास आगे बढ़ता है। आगे वाह्यश्रोणिगा धमनी का नाम धारण करके कार्य करती है। घुटने के पीछे (मोड पर) जानुपृष्ठिका धमनी रहती है। वहाँ इसके दो भाग जंघापश्चिमगा-धमनी तथा जंघापुरोगा धमनी हो जाते हैं। इनमें से एक शाखा दोनों (टाँग की) अस्थियों के बीच में होकर टाँग के हिस्से में आ जाती है, दूसरी टाँग के पिछले भाग की पोषक है। जंघापुरोगा तो पैर (गुल्फ के निकट) शाखायें देती हैं, परन्तु जंघा पश्चिमगा धमनी विवर्तनी धमनी को जन्म दे देती है। दोनों मुख्य धमनियाँ गुल्फ और पादतल पर—अनेक शाखाएँ देकर पोषण कार्य सम्पन्न करती हैं—यथा, गौल्फी धमनी, पादपृष्ठिका धमनी, पादतलिकी धमनी तथा पादांगुलिया इत्यादि शाखाएँ। तले में दोनों धमनियों को निर्मित महराब से ही निकलने वाली शाखायें अंगुलियों की धमनियाँ (पूर्वोक्त)।

प्रश्न—शिरा शाखाओं को लिखिए।

(क) ऊर्ध्वगामहाशिरा—महाशिरा (१६६९)

उत्तर—ऊर्ध्वगा (Sup. Vena cava) तथा अधोगा महाशिरा (Inf. vena cava) दो प्रमुख शिरायें हैं। ऊर्ध्वगा महाशिरा इन शिराओं की शाखायें रखती हैं वक्ष की दीवारों की शिरा अनामिका शिरायें, गम्भीर शिरोधियाँ शिरायें उपरितन शिरोधियाँ व्यत्यस्त शिरा कुल्या सरल शिरा-कुल्या मस्तिष्कीय शिरा हार्दिक शिरायें फुस्फसीय शिरायें आदि वक्ष, शिर की शिरायें हैं। ऊर्ध्व शाखा (हाथों की शिरायें) भी उल्लेखनीय हैं—अक्षक, अधोवृती (बहिः अन्त प्रगंडीया शिरायें बहिः—अन्तः प्रकोष्ठिका शिरायें बहिः—अन्तः कूर्परिका कक्षीया शिरा करपृष्ठ शिरा असराब आंगुलिया शिरा आदि।

(ख) अधोगामहाशिरा (१६६६)

अधोगा महाशिरा का उदर तथा शिराओं से सम्बन्ध (आधिपत्य) रहता है। उदर प्रदेश या आसपास की शिरायें इस प्रकार हैं—संयुक्तशिरा, यासूती शिरायें, आंडिकी धमनियाँ. वृक्किका शिरा आन्त्राधो शिरायें प्लेही शिरा काटिकी शिराये, उपरितन उदराधः शिरायें, सरलांत्रीय शिरा जाल आदि निम्न शाखाओं की प्रसिद्ध शाखायें उल्लेखनीय हैं—और्वी, शिरा, ऊर्वता

पार्श्विका शिरा, श्रोणिका शिरायें, जंघिल शिरा, पदांगुलिया शिरा, जानुपृष्ठिका शिरा आदि।

शिराओं के नाम प्रायः उन धमनियों के रूप होते हैं। यह उपरोक्त वर्णित शिरायें दो स्थान पर अथवा दायें-बायें प्रदेशों में पाई जाती हैं—यही बोध करना चाहिए। इस प्रकार ऊर्ध्वगा महाशिरा की शाखा छाती, ग्रीवा, हाथ, मस्तिष्क (शिर) अधोगा महाशिरा की उदर, पैर आदि में शाखायें फैली रहती हैं।

रक्तभार (ब्लड प्रेशर)

परिभाषा

हृदय के संकोचवश रक्त स्वभावतः धमनियों की दीवालों पर एक सीमा तक दबाव (Pressure) डालता है। उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जायेगा कि जब किसी लचीली (Elastic) नली में कोई द्रव रहता है वह तरह नली की दीवारों पर बराबर प्रभाव डालता रहता है। इस द्रव को अगर पम्प क्षेपण करे तो जितने वेग से पम्प तरह फेंकेगा, तो उतना ही इस तरह का दबाव अधिक होगा। यही हाल (पम्प) और धमनियों स्थितिस्थापक या लचीली नलियों का है। हृदय द्वारा क्षेपण क्रिया (पम्पिंग) करने से धमनियों में रक्त का वहन होता है। सारांशतः रक्तवाहिनियों की दीवार पर रक्त का जो दबाव पड़ता है, उस शास्त्रीय भाषा से रक्तभार (Blood Pressure) कहा जाता है। रक्त ज्यों-ज्यों हृदय से दूर जाता है, त्यों-त्यों यह दबाव न्यून हो जाता है। अन्त में विकसित दक्षिण अलिंद में पहुंचकर यह शून्य से भी न्यून हो जाता है। हृदय के संकोच से यह पुनः उच्चतम श्रेणी या स्तर तक पहुँच जाता। हृदय के संकोच तथा विकास के समय समस्त रक्त बहावों में ब्लड प्रेशर नियत अंश तक स्थित रहता है।

हेतु

सारांशतः रक्तभार में निम्नांकित हेतु होते हैं—

१. हृदय की शक्ति, (क) रक्त निर्यात, (ख) हृदय की गति का क्रम, (ग) रक्त प्रवाह का वेग।

२. प्रांतीय प्रतिरोध।

३. रक्त का परिमाण।

४. रक्त की सांद्रता ।
५. रक्त वाहिनियों की स्थितिस्थापकता ।
६. नलियों का आयतन ।
७. श्वन क्रिया सम्बन्धी परिणाम ।

इन कारणों का परिचय संक्षिप्ततः स्पष्ट हो चुका है । फिर ये स्वयं भी स्पष्ट ही हैं । रोग उपस्थिति में रक्तभार में परिवर्तन होना विशेष देखने योग्य होता है । आयुर्वेदमत से ब्लडप्रेशर अधिकता में प्रकुपित वात पित्त तथा रक्त वृद्धि के लक्षण पृथक् प्राय: मिलते हैं । ब्लड प्रेशर का कम हो जाना आयुर्वेदोक्त 'रक्तक्षय' सुश्रुतलोल्लिखित लक्षण 'शिरा शैथिल्य' न्यून रक्तभार का संकेत देता है—ऐसा विद्वानों का मत है । रक्तभार साधारणत: अंगुली से दबाकर ज्ञात कर सकते हैं । परन्तु ठीक रूप में ज्ञात होने के लिए निम्न विधि प्रस्तुत की जाती है ।

रक्तभार मापन

रक्तभार नापने की यांत्रिक विधि स्फिग्मोमेनोमीटर (Sphygmomanometer) रक्तभार मापक यन्त्र द्वारा सम्पन्न होती है । रक्तभार नापने की दो प्रमुख विधियाँ हैं—साक्षात (Direct) तथा नैदानिक (Clinical) । द्वितीय विधि मनुष्यों के लिए है । इस विधि से धमनी को बाहर से ही रक्तभार के लिए देखा जाता है । इसमें भी स्पर्श तथा श्रवण दो प्रकार की विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं ।

रक्तभार मापक यन्त्र में एक पम्प होता है । एक नलिका का सम्बन्ध बाहुबन्धन से होता है तथा दूसरी नलिका का सम्बन्ध पारद यन्त्र से होता है । बाहु में पट्टी कस के समान रूप से बाँध देते हैं । पम्प से हवा भरते हैं । नाड़ी (Radial Artery) भी साथ में देखते हैं । बाहुबन्धन प्रदेश में धमनीगत रक्तभार से वायु का दबाव हो जाने पर दबने (Press) के कारण नाड़ी की गति (स्पन्दन) यहाँ बन्द हो जाता है । अब पारद में कम्पन नहीं होता । अब पम्प के पेच (Screw—स्क्रू) को जरा ढीला करते हैं । बाहुबन्धन से हवा निष्कासित होने लगती है और पारद का स्तर शनैः शनैः गिरेगा । जहाँ नाड़ी पुनः स्पन्दन को प्राप्त कर ले, वहीं पारद का स्तर (अंक) देखें । इसे 'रीडिंग' कहा जाता है । यहीं संकोचकालिक रक्तभार (Systolic Blood P.)

है। अभी यह क्रिया पूर्ण नहीं हो जाती। धीरे-धीरे नाड़ी स्पन्दन होते-होते जहाँ नाड़ी की गति पूर्णतः स्पष्ट एवं खुलकर ज्ञात होने लगे, वहाँ भी पारद स्तर के अंकों की 'रीडिंग' कीजिए, यही प्रसारकालिका रक्तभार (Dystolic Blood P.) कहा जाता है। वह ध्यान रखना चाहिए कि ब्लडप्रेशर नापते समय हृदय व बाहु समतल में हों।

संकोचकालिक रक्तभार प्रसारकालिका से अधिक होता है। शरीर रोगी होने पर ब्लडप्रेशर घट-बढ़ जाता है। आयु के बढ़ने के साथ रक्तभार भी बढ़ता जाता है। संकोचकालिक रक्तभार युवावस्था में १००-१२० मिलीमीटर वृद्धावस्था के आस-पास १२०-१४० यथा प्रसारकालिक रक्तभार युवावस्था ज्ञात ६५-८० और फिर धीरे-धीरे ९५ तक पहुँचता है। आयु में अनुसार रक्त-भार-ज्ञात करने के लिए सामान्यतः आयु में ९० जोड़ देने से संकोचकालिक भार ज्ञात हो सकता है। संकोचकालिक रक्तभार १६० से अधिक तथा प्रसार-कालिक रक्तभार १०० से अधिक होना विकृति का सूचक होता है। इन दो प्रकार के रक्तभार में जो अन्तर होता है उसे शास्त्रीय दृष्टि से नाड़ी भार (Pulse Pressure) कहा जाता है।

प्रश्न—श्वसन संस्थान के अंगों का समझाकर परिचय दीजिए।

उत्तर—क्षेत्र—श्वसक यन्त्र में निम्नलिखित अंग महत्त्वपूर्ण है—

फुफ्फुस से पहले के अंग—श्वास पथ तथा श्वासनलिकायें इसमें उल्लेख-नीय हैं। नासिका के छिद्रों से लेकर फुफ्फुसपर्यन्त तक वायु के जाने और आने के मार्ग को ही श्वास मार्ग या श्वासपथ (Respiratory Passage) कहा जाता है।

श्वासपथ सौत्रिक एवं स्थितिस्थापक सूत्रों से बनी नलिका है। जिसमें स्तरों के मध्य कार्टिलेज की अंगूठी के समान आकृतियाँ स्थित होती हैं। इसमें स्वतन्त्र मांस भी आच्छादित रहता है। इन मुद्रिकाओं के कारण ही श्वासपथ सदैव खुला रहता है। श्वासपथ का अन्तः पृष्ठ रोमिकामय आवरक तन्तु से युक्त होता है। यहाँ श्लेष्मलकला आदि भी स्थित रहती हैं।

इससे पहले, सामने गर्दन (Neck) के बीच व सामने जो लम्बी व कड़ी चीज है वही स्वरयंत्र (Larynx) कहा जाता है। टेंटुआ या श्वासनी (Tra-chea) होता है। टेंटुवे का व्यास १ इंच से कुछ न्यून होता है। इस छिद्र के

गोलाकार तथा पृष्ठीय भाग (अन्न प्रणाली से मिला) चपटा है। ग्रीवा में टेंटुवे का ऊर्ध्व भाग तथा वक्ष में अधोभाग अवस्थित है। श्वसन (ट्रे किया) की भित्ति का निर्माण तरूणास्थियों से होता है। मुद्रिकाओं की संख्या १६-२० होती है। छल्ले एक-दूसरे से सौत्रिक तन्तुओं द्वारा बंधे होते हैं। टेंटुवे का पिछला दबा हुआ भाग स्वतन्त्र मांस तथा सौत्रिक तन्तुओं से बना होता है। ग्रीवा में अन्नप्रणाली उनके पीछे तथा ग्रीवा की धमनियाँ उसके दाईं बाईं ओर सम्मुखोर्ध्व भाग में चुल्लिका ग्रन्थि तथा कई पेशियाँ आदि। ग्रीवा से निम्न भाग से टेंटुआ वक्षोऽस्थि के पीछे होकर वक्ष या उरोगुहा में पहुंचता है। यहाँ महाधमनी की महराब उसके सामने तथा वामपार्श्व में स्थित होती है।

छाती के चौथे या पांचवें (4th-5th Thoracic Vertebra) कशेरुका पर पहुंचकर श्वसनी दो श्वसनलिकाओं (Bronchi) में विभक्त हो जाती है। इनकी निर्माण रचना प्रायः श्वासमार्ग की तरह है। केवल इनकी श्लैष्मयकला के नीचे अनैच्छिक पेशी का वृत रूप स्तर भी विद्यमान है। दक्षिण श्वासन-लिका लगभग १ इंच और श्वासनलिका दो इंच लम्बी प्राप्य है। यह दाईं प्रणाली छोटी तो है परन्तु बाईं ओर अपेक्षा चौड़ी अधिक होती है। यह ध्यान रखना चाहिए।

जैसे ही दोनों श्वास नलिकायें एक-एक फुस्फुसों में प्रवेश करती है, उनकी सूक्ष्म प्रणालिकाएं (Brouchiols) हो जाती है। बड़ी श्वासप्रणालिकाओं की दीवालें सौत्रिक तन्तु से निर्मित होती हैं तथा उनमें तरुणास्थिमय मुद्रि-काओं के भाग, स्वतन्त्र पेशी सूत्र तथा स्थिति स्थापक तन्तु के अनुलम्ब गुच्छे होते हैं। उनके अन्तःपृष्ठ में श्लेष्मता रहती है। यह कला रोमिकामय आवरक तन्तुओं से आवृत रहती है। इसमें स्थित श्लेष्मलग्रंथियों से श्लेष्मा का स्राव होता है। रोमिकायुक्त तन्तुओं के सहारे यह श्लेष्मा ऊपर की ओर श्वासपथ में स्वरयंत्र तक पहुंच जाता है।

इन श्वास प्रणालिकाओं की सूक्ष्म शाखाओं का क्रमशः कर्टिलेज का प्रभाव न्यून हो जाता है। फिर तो इसने केवल सौत्रिक तथा स्थितिस्थापक तन्तुओं की कला (चककार पेशी सूत्रों की अधिकता में) रह जाती है। ये पेशियाँ प्राणदा नाड़ी के द्वारा संकुचित तथा तथा सांवेदिक नाड़ी के द्वारा प्रसारित हो

जाती हैं। इनका सम्बन्ध वायु मन्दिरों (Infuddifulum) तथा वायु कोष्ठों (Air cells) से रहता है।

फुफ्फुस (Lung) (१९६५, १९६८, १९७३)

फुफ्फुस या फेफड़े छाती में हृदय के दक्षिण व वाम पार्श्व में स्थित रहते हैं। दाहिने फेफड़े का आकार, बायें की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। आकार से तात्पर्य चौड़ाई समझना चाहिए। फेफड़े शंक्वाकार (Conical) हैं। इनका नीचे का चौड़ा भाग वक्षोदरमध्यस्था पेशी (डायाफ्राम) पर रखा रहता है। ऊपर का नोकीला भाग ग्रीवा की ओर है, यही इसका 'शिखर' (Apex) है। यह हंसली (अक्षकास्थि) के पीछे ही रहता है। पूर्वोक्त जो नीचे का भाग है वह 'तल' (Base) कहलाता है। फुफ्फसों की नालियां गहरी होती हैं। परन्तु बायें की इतनी अधिक गहरी नहीं होती। वक्ष की दीवार से सटा हुआ फेफड़ों का भाग उभरा हुआ (उन्नतोदर) तथा हृदय के सामने वाला *हिस्सा कुछ गहरा होता है।*

फुफ्फस स्थितिस्थापक होते हैं। पर्शुकाओं के बने खोल में सुरक्षित हैं। श्वासप्रणालिकाओं में स्थित दबाव के कारण ये सिकुड़ने नहीं पाते। विकृत होने पर सिकुड़न उत्पन्न हो जाती है। स्त्री तथा पुरुषों के फेफड़ों में कुछ भिन्नता है। पुरुषों में एक सेर के लगभग पाया जाता है। स्त्रियों में कुछ न्यून समझना चाहिये। फुफ्फसों के वर्ण में मनुष्य की अवस्थानुसार रंग में अन्तर पाया जाता है। प्रौढ़ मनुष्य का रंग कुछ नीलाहट लिए भूरा सा होता है। गर्भ में फेफड़ों का रंग गहरा लाल होता है। नवजात बालक के फेफड़े का रंग गुलाबी होता है। फेफड़े ऊपर से चिकने और चमकीले होते हैं। ऊपर कुछ चित्तियाँ पड़ी रहती हैं। स्पर्श करने से मृदु प्रतीत होते हैं। दबाने से स्पंज जैसा रहता है। काटने से भी छोटे-छोटे कोष प्रतीत होंगे, अधिक दबाने से इनमें तरल (झागदार) भी निकलता है। किसी स्वस्थ फुफ्फस को जल में डाला जाये तो वह तैरता रहेगा, न्यूमोनियां, टी० बी० आदि में अगर पूरा फेफड़ा विकृत हो चुका है और उसको पानी में डालेंगे तो डूब जायेगा। इस अवस्था में उनमें वायु निकलकर ठोसपन आता जाता है।

फुफ्फस पर एक पतली झिल्ली भी आवृत रहती है। इसे फुफ्फसावरण (Pleura of Pleural Membrance) का नाम दिया गया है। यह दो स्तरों

(Layers) वाली है। प्रथम तह फेफड़ों के पृष्ठ भाग से चिपटी रहती है। दूसरी तह छाती की अन्त:भित्ति से संश्लिष्ट है। यह बाहर वाली झिल्ली पर्शुका तथा उनके अन्त:भाग के भाग से मांस से निर्मित है। दोनों स्तर चिकने तथा आर्द्र रहने के कारण फुफ्फुसो के प्रसार के समय कुछ हानि का भय नहीं रहता है। पहला स्तर आशयिक और दूसरा स्तर परिसरीय कहलाता है। दोनों स्तरों के मध्य अवकास व थोड़ा श्लेष्मा का अंश विद्यमान रहता है। यह फुफ्फसावरण विकारग्रस्त भी हो जाता है।

प्रत्येक फेफड़ा खण्ड (Lobes) युक्त है। दायें में तीन तथा वाम में दो खण्ड पाये जाते हैं। दाहिने में दरारें (Fissures) भी होती हैं। प्रत्येक खण्ड में भी अनुखण्ड विद्यमान रहते हैं. इन अनुखण्डों में श्वासप्रणालिकाओं की सूक्ष्म शाखाएँ स्थित हैं। दायें फेफड़े को ध्यान से देखने से ज्ञात होती है कि सबसे प्रथम ऊर्ध्वखण्ड है। शिखर भाग में एक लकीर सी है, वह अन्न प्रणाली, परिखा है, इसके ऊपरी (सामने की) ओर अक्षकधरा धमनी की परिखा स्थित है। फिर नीचे ऊर्ध्वगामहाशिरा की परिखा है। अब यहाँ ऊर्ध्वाधर खण्ड का अन्तर प्रतीत होता है। इसके सामने दूसरे सिरे पर मध्योर्ध्वखण्ड अन्तर (Transverse fissure) तथा सबसे नीचे फुफ्फुस मूल बन्धन दृष्टिगत होता है। बायें व दायें खण्डों के अगले व पिछले किनारे हैं। फुफ्फुसीया धमनियाँ व शिराओं के प्रवेश मार्ग स्थित रहते हैं। अन्य सिरा नाड़ियां, लसीका, ग्रन्थियों की उपस्थितियां या परिखायें अवस्थित होती है।

फुफ्फुस की अन्त: सरचना पर भी प्रकाश डाल आए हैं। श्वास नलिकायें फुफ्फस में पहुँच कर अनेक शाखाप्रशाखा युक्त हो जाती हैं। अन्त में अणुवीक्ष्य शाखायें हो जाती हैं। इसके अन्त में वायु मन्दिर होते हैं, इनके भी विभाग होकर और इन पर रक्त, लिम्फ, वातसूत्रों का जाल फैला रहता है।

प्रश्न—श्वसन क्रिया का पूर्ण परिचय दीजिए।

उत्तर—मोटी भाषा में सांस का भीतर जाना और बाहर आना ही श्वास क्रिया है। प्राणियों के जीवन संरक्षण के लिए आवश्यक है कि फेफड़ों की वायु सदैव शुद्ध होती रहे। बाह्य वायु नासिका (या मुख) द्वारा ग्रहण करना प्रश्वास (Inspiration) तथा वक्षस् में स्थित वायु का बाहर निकलना उच्छ्वास (Expiration) कहलाता है। ये दोनों जीवन की अनिवार्य क्रियायें होती हैं।

मुख्य पेशी (१९६५)

श्वसन क्रिया में पेशियाँ महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। पेशियों के द्वारा ही श्वास कर्म में छाती में परिवर्तन होते रहते हैं इससे फेफड़ों को पर्याप्त फैलने का स्थान व अवसर प्राप्त हो जाता है। सामान्य प्रश्वास में ये मांसपेशियाँ भाग लेती हैं—

१. महाप्राचीरा
२. वाह्यपर्शुकांतराला पेशी
३. अन्त ,, ,, पेशी
४. पर्शुकोन्नसनी पेशी
५. पश्चिमोत्तरा अरित्रा पेशी
६. पर्शुकाकर्षणी पेशी (पुरोगा, मध्यमा, पश्चिमा)

गम्भीर प्रश्वास क्रिया में निम्नांकित मांस पेशियां भी भाग लेती हैं—

१. उरःकर्णमूलिका पेशी
२. अरित्रा गुर्वी पेशी
३. कटिपार्श्वच्छदा पेशी
४. उरश्छदा वृहती पेशी
५. ,,लघ्वी पेशी
६. पृष्ठच्छदा पेशी
७. अंसोन्नी
८. अंसापकर्षिणी गुर्वी पेशी
९. स्वरयन्त्र की पेशियां
१०. ग्रसनिका की पेशियां
११. मुख मण्डल पेशियां
१२. नासा विस्फारणी पेशी
१३. नासापुटोन्नमनी पेशी

इन सब पेशियों में वक्षोदरमध्यस्था अथवा महाप्राचीरा (डायाफ्राम) प्रमुख स्थान रखती है। प्रश्वास के समय यह नीचे को दब जाती है। इस कारण उरोगुहा में अवकाश बढ़ जाता है। इस प्रश्वास काल में उरोगुहा का आयतन ऊर्ध्वाधः, पूर्व पश्चिम तथा वाह्यान्तः इन तीनों दिशाओं में बढ़ जाता

है। वक्ष की आकृति में भी इस समय परिवर्तन होते हैं। प्रश्वास के समय यह प्राय: वृत्ताकार तथा निश्वास के समय अण्डाकार हो जाता है।

प्रश्वास के बाद पूर्वोक्त मांसपेशियों का प्रसार होता है। फुफ्फुस, वक्ष तथा उदर पर से दबाव हट जाने के कारण वे पूर्वावस्था को लौट आते हैं। इस तरह निश्वास क्रिया प्रमुखतः फेफड़ों की स्थितिस्थापकता और उप-पर्शुकाओं-उदरभित्ति की स्थतिस्थापकता के कारण है। सामान्य निःश्वास कर्म स्वतः सम्पन्न होने पर भी गंम्भीर निःश्वास के समय इन पेशियों में भी संक्रियता आ जाती है—

१. औदर्य पेशियां
२. उरस्थिकोणिका पेशी
३. अरित्रा पश्चिमाधरा पेशी
४. कटु चतुरस्रा पेशी

जब वायु को हम भीतर खींचते हैं वक्ष का आयतन अधिक हो जाता है। डायाफ्राम संकोच करती है। उदर की ओर इसके दबने से आमाशय, यकृत्, आन्त्र नीचे को खिसकते हैं और पेट की अगली दीवाल उभर जाती हैं। पेशियों (तत्संबन्धी पेशियां के संकोचवश) के कारण पर्शुकाएँ ऊपर की ओर उठती जाती हैं। इन सबसे छाती का आयतन बढ़ता है। वायु फेफड़ों में निरन्तर प्रविष्ट होती जाती हैं। वायु मन्दिरों की समाई बढ़ती जाती है। यह उच्छ्वास की क्रिया यहाँ तक जैसे ही होती है—

वैसे ही, प्रश्वास कर्म प्रारम्भ हो जाता है। अब वक्ष का आयतन घटना प्रारम्भ हो जाता है। वक्ष के पूर्वदशा पर आते ही पेशियों का संकोचन समाप्त हो जाता है। वायु मन्दिरों की कुछ वायु का निष्कासन होकर वे आकार में पहले से कम हो जाते हैं। इस प्रकार पूरे फेफड़ों का ही आकार घट जाता है।

श्वसन केन्द्र की क्रिया स्वतः होती रहती है, किन्तु स्वाभावतः यह इतनी कम होती है कि उसे संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा प्राप्त उत्तेजनाओं पर निर्भर होना होता है। श्वसन सम्बन्धी उत्तेजना दिमाग के पिंड केन्द्र में उत्पन्न होती है और वहां से क्रमशः निम्न सुषुम्णा केन्द्रों में आती है। केन्द्र के भागों में प्रश्वास व निश्वास केन्द्र रहते हैं।

श्वसन प्रकार

श्वसन के तीन प्रकार माने जाते हैं। प्रथम औदर्य (Abdominal) प्रकार में मुख्यतः डायाफ्राम की गति होती है। यह बालकों में पाया जाता है। उदर का प्रश्वास के समय बाहर की ओर निकल आना विशेष रूप से होता है। दूसरा तरीका ऊर्ध्वपर्शुकीय (Superior Thoracic) होता है। तीसरे अधोपर्शुकीय (Inferior Thoracic) कहते हैं। इसमें भी डायाफ्राम के अधःपर्शुकाओं की मुख्यतः गति मिलती है।

जब हम सांस लेते हैं तो ओषजन हमारे शरीर के अन्दर आती है। इसे प्राणवायु भी कहा है। इसमें आक्सीजन की प्रधानता रहती है। जो वायु शरीर से बाहर निकलती है, वह कार्बन द्विओषित है। यह गन्दी हवा हमारे शरीर में सैलों की टूट-फूट तथा विभिन्न रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न होती है। रक्त में प्रधानतः निम्न गैसों की उपस्थिति है।

	शुद्ध		अशुद्ध	
गैस	मात्रा	भार	मात्रा	भार
ओसजन	१९.२%	१०६ मि०मी०	१४.५%	४० मि० मी०
नत्रजन	१—२%	—	१—२%	—
कार्बनद्विओषित	५०%	३५ मि० मी०	५५%	४६ मि० मी०

रक्त में गैसें भौतिक विलयन, रासायनिक संयोग दो रूपों में रह सकती है। रक्त में ओषजन केवल विलयन रूप में रहता है। वस्तुतः ओषजन जीवन के लिए अत्यावश्यक वस्तु है। इसके बिना जीवित रहना संभव नहीं हो सकता। साथ ही अग्नि के जलाने के लिए भी ओषजन की आवश्यकता रहती है।

प्रश्न—रक्तशुद्धि का संक्षिप्त में वर्णन कीजिए। (१९७४)

उत्तर—रक्तशुद्धि

कार्बन द्विओषित् (कार्बन डाय आक्साइड) रक्त में कुछ भौतिक विलयन और कुछ रासायनिक यौगिक के रूप में होता है। जब धातुओं में रक्त प्रवाह होता है, उसी समय उसमें कार्बन द्विओषित मिल जाया करता है। स्थूलरूप से यह गैस मनुष्यों के लिए विषैली है।

उच्छ्वास तथा प्रश्वास वायु के संगठन में कुछ भेद रहता है। उच्छ्वास वायु के प्रति १०० भाग में ओषजन २०.८, कार्बन द्विओषित ०.०४, नत्रजन ७८.८७, जलीयवाष्प—अंशमात्र तथा हानिकारक पदार्थ स्थिति अनुसार (गन्दी या शुद्ध वायु) और प्रश्वास वायु में ओषजन १६०, कार्बन द्विओषित् ४०, नत्रजन ७८.८७, जलीयवाष्प—अधिक, हानिकारक पदार्थ—उपस्थित रहते हैं।

फुपफुसों में वायवी विनिमय की प्रक्रिया (Gaseous exchange in lungs) महत्त्वपूर्ण होती है। फेफड़ों से ओपजन वायु कोष से फुपफसीय रक्त-प्रवाह मे चला जाता है और कार्बन द्विओषित् रक्तवाह स्रोतों से वायुकोष में चला जाता है। इस क्रिया को अधिक स्पष्ट रूप में निम्न प्रकार समझ लेना चाहिए।

स्याहीमायल (कार्बन द्विओषित युक्त) रक्त शरीर के सब भागो में एकत्रित होकर हृदय के दक्षिण कोष्ठ में आता है। यहां से फुपफुसीया धमनी (अपवाद स्वरूप, इसमें अशुद्ध रक्त का परिचालन होता है) द्वारा फुफ्फुसों में अशुद्ध रक्त पहुंचता है। यह रक्त उन केशिकाओं में पहुंचता है जो वायुकोष्ठों की दीवारो के ऊपर बिछी रहती हैं। यहां हमको यह मान लेना चाहिए कि फेफड़ों में दो कोठरियां हैं, एक में रक्त (केशिकायें . Cappillaries) और दूसरी में वायु भरी हुई है (वायुकोष्ठ—Air cells)। इनके मध्य भित्ति है (केशिका तथा वायुकोष्ठों की दीवारें)। इस पर्दे में से गैसों का आवागमन हो सकता है। केशिका के खून में कार्बन, द्विओषित व ओषजन विद्यमान हैं और वायुकोष्ठीय वायु में भी ये दोनों गैसें होती हैं। परन्तु वायुकोष्ठों में ओषजन तथा रक्त मे कार्बन द्विओषित अधिक रहती है।

१. गैसों के विशिष्ट गुणों के कारण ओषजन वायुकोष्ठ में से रक्त में प्रविष्ट होती है। कार्बनद्विओषित रक्त से निकल कर-वायुकोष्ठ में पहुंच जाती है। यह विनिमय ही रक्त संशुद्धि तथा श्वासोच्छ्वास क्रिया का मूल है।

२. वायुकोष्ठों की वायु में नत्रजन भी रहती है। शरीर को गैस के रूप मे इसकी आवश्यकता न होने तथा वायु कोष्ठों की सैलों द्वारा अगृहीत रहने से इस गैस का अंश मात्र ही रक्त में रहता है। रक्ताणुओं में उपस्थित कण रंजक (Haemoglobin) ओषजन में मिलकर, ओषितकण रंजक का रूप

धारण करने से कार्बनद्विओषित न्यून हो जाती है, खून का वर्ण लाल रहता है। इस प्रकार रक्त शुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त फुफ्फुसीय शिराओं (अपवाद स्वरूप, इनमें शुद्ध रक्त वहता है) द्वारा फिर हृदय के वामभाग में वापिस आकर महाधमनी द्वारा सर्व शरीर में चला जाता है।

साधारणतः स्वस्थावस्था में एक मिनट में १६ से २० वार मनुष्य श्वास लेता है। नवजात बालक में ४०, पाँच वर्ष में २५ लगभग ही रहती है। व्यायाम भागने, दौड़ने आदि शारीरिक श्रमों से श्वास संख्या बढ़ जाती है। रोगावस्था में श्वास संख्या अल्प हो आती है। स्वस्थ में हृदय गति व श्वास की गति ८, ५ : १ का अनुपात रहता है। मनुष्य को गहरी साँस लेनी अच्छी है। इससे फुफ्फुसों के कोने भली प्रकार खुल जाते हैं। वायु खूव प्रवेश कर जाती है।

प्रश्न—पाचन संस्थान का सामान्य परिचय देते हुए तत्सम्बन्धित मुख्य अंगों का भी निर्देश कीजिए।

उत्तर—मनुष्य के भौतिक अस्तित्व का बीज जिस समय पड़ता है पूर्ण होने तक वह इतना छोटा होता है कि विना यन्त्र के दिखाई भी नहीं देता। उसके सैल आपस में संयुक्त हो जाते हैं। नौ मास के बाद शिशु शरीर को बना देते हैं। संसार के सभी पदार्थ इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं। चैतन्य-सृष्टि की वृद्धि भोजन के समीकरण द्वारा होती है। भोजन के अनेक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। इनके सेवन के बाद उनका पाचन प्रारम्भ होता है। अन्नपान का शरीर धातुओं द्वारा अपने-अपने कार्य में विनियोग, एक जीर्ण भवन सामग्री से नवीन निर्माण करना है। नये भवन को तैयार करने के क्रम में पुराने को तोड़ना, फिर बनाना पड़ता है। आहारगत प्रोटीन, कार्बोहायड्रेट आदि भी इसी क्रम में से गुजरते हैं। सारांशतः पाचन के द्वारा अविलेय और अप्रसार्य आहार द्रव विलेय तथा प्रसार्य होकर आसानी से शोषित होने वाले हो जाते हैं अर्थात् आहार जैसे-जैसे पचता जाता है, वैसे-वैसे उसका स्वरूप शरीर की धातुओं के सदृश हो जाता है। यही भोजन पचने की प्रक्रिया पाचन संस्थान (*Digestive System*) में सम्पन्न होती है।

भोजन मनुष्य के लिए अनिवार्य है। चैतन्य सृष्टि की वृद्धि भोजन के समीकरण द्वारा होती है। अनेक प्रकार के पदार्थों का भोजन में प्रयोग किया

जाता है। अन्नपान का शरीर की धातुओं द्वारा अपने-अपने कार्य में विनियोग होता है। नवीन भवन के निर्माण के क्रम में पुराने को तोड़ना वा फिर बनाना पड़ता है। पाचन के द्वारा अविलेय तथा अप्रसार्य आहार पदार्थ विलेय तथा प्रसारणशील हो जाते हैं। जिससे आहार शरीर में सरलता से शोपित होने योग्य बन जाता है। जैसे-जैसे आहार पचता जाता है, वैसे-वैसे उसका स्वरूप शरीर की धातुओं के सदृश हो जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन पाचन संस्थान (Digestive System) में होता है।

आहार (१६६६)

अन्न मार्ग से जो कुछ शरीर से भीतर ले जाया जाता है, उसे आहार कहते हैं और यह आहार शरीर में धातुओं के रूप में परिणत होकर शरीर के अंगों का पोपण, रक्षा करने के साथ उसमें होने वाली क्षति की पूर्ति करता है। हितकर, प्रियवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला, यथाविधि सेवन किया गया आहार-पान शरीरस्थ धातुओं की पुष्टि करता है। बल, वर्ण, इन्द्रियों की पुष्टि, मनोबल, आयु, स्मृति, बुद्धि, ओज, जठराग्नि का पोषण आहार द्वारा होता है। इस प्रकार मनुष्य को आहार की आवश्यकता प्रमुख इन कारणों से होती है—

१. रासायनिक शक्ति का उद्भव तथा ताप आदि शक्तियों में बदल देने के लिए।

२. शरीर का पोषण करना तथा क्षति को पूर्ति करते रहना।

३. स्नेह (मेद) के रूप में संग्रहण कार्य करना।

चरक संहित में कहा गया है कि आहार गत द्रव्यों में बीस गुण होते हैं। समरस आहार हिताहार होता है। सर्वरसों से युक्त भोजन बहुत गुणवान होता है। आहार का परिपाक होते रहने से उसके गुण शरीर के काम आते जाते हैं। इसी प्रकार परिपाक होते हुए अन्नरस बनता है।

दोष तथा कालादि का विचार करके प्रातः व सायं में उचित भोजन करें। रस, दोप व मूल के पक्व होने पर समय या असमय में क्षुधा अनुभव होती है, तब वही अन्न ग्रहण करने का समय है। भोजन के परिपाक हो जाने पर शुद्ध-डकार, मल-मूत्र के वेग का उचित त्याग, शरीर की लघुता, भूख तथा प्यास लक्षण होते हैं। निश्चित समय पर किया गया आहार शरीर के लिए लाभकर पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। आहार का समयोग हो, इसके लिए उसकी मात्रा उत्तर-

दायित्व होती है। भोजन का समयोग होने पर अग्नि की समता आधारित होती है। आहार तथा औषध की मात्रा दो प्रकार की है—सर्वग्रह तथा परिग्रह। प्रत्येक मनुष्य में अग्नि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अत: भोजन की मात्रा भी उसी के आधार पर निश्चित की जाती है।

क्षेत्र—आहार के घटक तथा उत्पादन आदि प्रथम अध्याय में वर्णित हैं।

पोषण या पाचन संस्थान के अन्तर्गत पाने वाले अंगों में हम खाते हैं, अथवा भोजन पचाते हैं। उनको दो मार्गों में बांटते हैं—अन्न मार्ग तथा पाचन ग्रंथियाँ। अन्न मार्ग (Alimentery Canal) में मुख, दांत, जिह्वा, अन्न प्रणाली, आमाशय, क्षुद्रान्त्र, वृहदान्त्र ये प्रमुख हैं। पाचन ग्रंथियों (Digestive glands) में लाल ग्रंथियाँ, यकृत्, पित्तशय, क्लोम अंगों का समावेश किया जाता है।

(क) दाँत

भोजन खाने में दांत बड़े सहायक होते हैं। दांतों से भोजन के छोटे-छोटे से टुकड़े हो जाने से उन पर पाचक रसों की क्रिया ठीक प्रकार से हो जाया करती है। ऊपर-नीचे के दांतों की रचना में अन्तर मिलता है। इन सबसे भोजन के खाने, काटने आदि में विशेष सहायता प्राप्त होती है। दांतों के कई प्रकार हैं। आगे के दांत कुतरने के लिए होते हैं। उनके पीछे भोजन करने वाला दांत होता है। इनके पीछे के चर्वण दन्त चबाने के कार्य के लिए स्थित रहते हैं। पीछे दो डाढ़ें बड़ी तथा आगे की तीन छोटी होती हैं। युवावस्था में ३२ दांत होते हैं। प्रत्येक आधे जबड़े में आठ दांत रहते हैं। बच्चों के मुख में २० दांत होते हैं अर्थात् प्रत्येक जबड़े में ४ छेदक, २ भेदक ४ चर्वण दांत होते हैं। युवा तथा बालक दोनों के दांतों के निकलने का समय अनिश्चित-सा होता है। दांतों द्वारा चबाया गया भोजन आगे बढ़ता है।

भोजन सेवन व पाचन के लिए मुख में आहार आता है। मुख में दांत व जीभ हैं। जीभ का विशिष्ट परिचय यथास्थान देखना चाहिए। यहां मुख में लालग्रंथियां पाई जाती हैं। इनमें लालारस का स्राव होता है। इसी को थूक कहते हैं।

(ख) अन्न-प्रणाली (Oesophagus)

मुख के पिछले भाग अर्थात् गले (Phrynx) से यह नली प्रारम्भ होती

है। इसकी लम्बाई लगभग १५ इंच होती है। ग्रीवा व वक्ष में होती हुई यह उदर में पहुँचती है, फिर आमाशय से मिलती है। इस नलिका में किसी प्रकार की अस्थि नहीं होती है। इस कारण इसके पूर्व व पश्चिम भाग में असाधारण अवस्था में मिले रहते हैं। तात्पर्यतः इसके बीच में अवकाश नहीं रहता। जब भोजन गले से नीचे उतरता है तो इसमें कृमिवत् आकुंचन उत्पन्न होता है। यह नलिका खुलती चली जाती है। अन्न-प्रणाली के सामने की ओर श्वास प्रणाली रहती है। नीचे जाकर अन्न-प्रणाली आमाशय से मिलती है, वहाँ एक छिद्र रहता है। इसमें से भोजन आमाशय में पहुंचता रहता है।

(ग) आमाशय (Stomach) (१९६४, ६८, १९७४)

आयुर्वेद में प्राणियों की नाभि और स्तन के मध्य रहता माना गया है। (नाभिस्तनान्तरे जन्तोराहुरामाशयं बुधाः) आमाशय मांस तथा कला की बनावट J के समान (आकार की) थैली है। उरःस्थल, अग्न्याशय आदि की स्थिति बताते समय आयुर्वेद में कहा गया है कि नाभि से ५ बालिश्त ऊपर से लेकर और कण्ठस्थल से ६ अंगुल नीचे तक उरःस्थल है, शेष भाग हृदय है तथा उस के नीचे श्लेष्माशय आमाशय है, फिर अन्त में अन्नाशय का भाग होता है। तात्पर्यतः महाप्राचीरा पेशी (डायाफ्राम) के नीचे वाम पार्श्व में आमाशय उदर में स्थित रहता है। आमाशय के ऊपर नीचे दो द्वार होते हैं। जिस स्थान पर अन्न प्रणाली आमाशय से मिलती है, उसे हार्दिक द्वार का नाम दिया गया है। दूसरा द्वार आमाशय के अन्तिम भाग पर स्थित रहता है। इस छिद्र द्वारा आमाशय पक्वाशय में मिलता है, इसे मुद्राद्वार या पक्वाशयिक द्वार कहते हैं। छिद्रों में छल्ले के आकार के खुलने बन्द होने वाले ओष्ठ रहते हैं। ये पेशी तन्तु आदि से निर्मित आकार स्फिण्क्टर कहलाते हैं। ये संकोच-प्रसार क्रिया करते हैं। भोजन आना-जाना या बन्द होता रहता है।

वस्तुतः आमाशय का आकार विचित्र है। जैसे गोल थैलों के दो किनारे होते है, वैसे ही इसके भी। एक छोटा ऊपर की ओर तथा दूसरा बड़ा नीचे की ओर रहता है। आमाशय का बाह्य स्पर्श बिलकुल चिकना है। आमाशय भोजन का आशय भी है और पाचक अंग भी है। आमाशय में चार स्तर पाए जाते हैं। स्नैहिक, पेशीमय, उपश्लैष्मिक स्तर श्लैष्मिक प्रथम आवरण तो उदरावरण का ही एक अंश है। पेशीमय स्तर में स्वतन्त्र पेशीमय सूत्र बाह्य, मध्य, अन्तः

इन तीनों स्तरों में विभक्त रहते हैं। बाह्य स्तर के सूत्र अनुदैर्घ्य, मध्य स्तर के अनुप्रस्थ तथा अन्तःस्तर के सूत्रतिर्यक् स्थिति में सन्निविष्ट रहते हैं। पेशीमय स्तर के भीतर उपश्लैष्मिक स्तर होता है, इसमें तो बड़ी-बड़ी रक्त वाहिनियाँ, रसायनियाँ और नाड़ीचक्र उपस्थित रहते हैं। श्लैष्मिक स्तर में हार्दिक, स्कन्धीय तथा मुद्रिकीय ग्रन्थियां होती हैं।

आमाशय में प्रसारण (फैलाने की शक्ति) खूब होती है। इसमें जब भोजन नहीं होता तो इसकी भित्तियां आपस में मिली रहती है। जब भोजन से भर जाता है तो फैलता है। प्रसारण क्षमता में व्यक्ति-भेदानुसार अन्तर भी पाया जाता है। आमाशय को काटकर देखने से एक विचित्र सी संरचना दिखाई देगी। भीतर की कला समान न होकर 'झालरदार' (सिकुड़ी सी) होती है। यह उच्च—निम्नतल समान आमाशय में व्याप्त रहता है। इस प्रकार बड़ी-बड़ी झुर्रियाँ भरी पड़ी दिखाई देगी।

भोजन के आप से मिल जाने के लिए आमाशय में गतियाँ होती हैं। जिससे भोजन लेई की तरह बन जाता है। आमाशय की दीवारों में रसस्रावक ग्रन्थियां होती हैं। इससे विभिन्न पाचक रस बनते हैं। विभिन्न ग्रन्थियों से पाचक रस के भिन्न-भिन्न भागों का उत्पादन कार्य चलता रहता है। आयुर्वेद के मतानुसार यहाँ क्लेदक कफ का स्थान है।

(घ) क्षुद्रांत्र (१९६८, १९७३)

आमाशय के अन्त होने वाले द्वार से क्षुद्रांत्र का मुड़ा, छोटा सा भाग पक्वाशय प्रारम्भ हो जाता है। यदि इसको खोलकर सीधा कर दिया जावे तो यह लगभग १२ अंगुल लम्बा होगा। इसे ग्रहणी भी नाम दिया गया है। क्षुद्रांत्र आमाशय से च्युत अर्धपक्व अन्न को ग्रहण करते हैं, अतः उन्हें ग्रहणी भी नाम दिया गया है। सुश्रुत में इन्हीं का 'पित्तधरा कला' नाम से व्यपदेश है। आयुर्वेद में कुछ सूत्र ग्रहणी पक्वाशय तथा अग्न्याशय के विषय में उल्लिखित है।

क्षुद्रांत्र का भाग (पक्वाशय) आकार में छोटी आंतों की भाँति एक गोल नलिका है। इसके मुड़ने से जो छोटा सा चक्र बन जाता है, वहां एक विशेष ग्रन्थि रहती है, यह अग्न्याशय होता है। यह लाल ग्रन्थियों के समान ही है। वस्तुतः यह ग्रन्थि विशेष महत्पूर्ण होती है। इसके कोष्ठ शिथिल संयोजक तन्तु से बंधे रहते हैं। जिनमें वृत्ति या घनाकार कोषाणुओं के छोटे और निय-

मित समूह होते हैं, इन्हें अग्निद्वीप नाम दिया गया है। इनको लैंगहैंस के द्वीप भी कहते हैं। इससे इन्सुलीन नामक प्रसिद्ध रस निकलता है। यह अत्यन्त प्रभावशाली अन्तःस्रावी रस शाकतत्त्व के सात्मीकरण में महत्त्वपूर्ण योग देता है। यह आयुर्वेद में उल्लिखित सर्वशरीरचर पाचक पित्त (धात्वग्नि) माना जाता है। इनके अतिरिक्त अग्न्याशय में एक प्रकार के और कोषाणु हैं। इन्हें स्रावक कोषाणु भी कहा जाता है। इनसे अग्न्याशयिक रस नामक वहिःस्राव निकलता है। विशेष विवरण यथास्थान देखिए।

इन रचनाओं के बाद, क्षुद्रांत्रियों का मुख्य भाग प्रारम्भ होता है। इसकी लम्बाई २२ फुट तथा नलिका व्यास १॥ इंच रहता है (लगभग)। आंतें सांप की तरह गेंडलिए मारे पड़ी रहती है। इनकी आन्तरिक रचना भी आमाशय की तरह हैं। सलवटों की और भी अधिकता रहती है। क्षुद्रांत्र की दीवालें अनैच्छिक मांसपेशियों से निर्मित हैं। आंत में गतियाँ होती रहती हैं। श्लैष्मिक कला में स्थित ग्रन्थियों में आंत्र रस निकलता है।

(ड) बृहद्रांत्र (१९६२, ६३, ६७, १९७३)

क्षुद्रांत्र से बृहद्रांत्र का प्रारम्भ हो जाता है। इसका व्यास क्षुद्रांत्र की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु लम्बाई काफी कम (पांच फुट लगभग) होती है। क्षुद्रांत्र बृहद्रांत्र के साथ दाहिनी ओर श्रोणिफलक के पास संश्लिष्ट होती है। यहाँ से अब बड़ी आंत ऊर्ध्वगामी हो जाती है। यकृत् के नीचे पहुंच कर फिर यह वामावर्तिनी हो जाती है। फिर वहाँ तक पहुंच कर फिर अधोगामी होती है। इसे अधोगमी बृहद् आन्त्र कहते हैं। वाम भाग के श्रोणिफलक के पास भीतर की ओर मुड़कर वस्तिगह्वर में चला जाता है।

यहां आयुर्वेद के कुछ विशेष वाक्यों को समझ लेना चाहिए। क्षुद्रांत्र बीस फुट के लगभग है तथा स्त्रियों में कुछ कम होता है। पाश्चात्य दृष्टि से इनके तीन भाग ड्यूडीनम जेजुनम, इलियम होते हैं। पक्वाशय व स्थूलांत्र में पुरीषधरा कला स्थित है। यह कोष्ठ में चारों ओर आए क्षुद्रांत्र, यकृत् तथा प्लीहा के ऊपर रहती है। इस पुरीषधरा कला के दो विभाग होते हैं। एक का मूल गुदा में तथा दूसरे का पक्वाशय में माना गया है।

संक्षेपतः स्थूल या बृहदांत्र के आयुर्वेद तथा एलोपेथी दोनों में कुछ विभाग हैं। प्रथम भाग उण्डुक या पुरीषधरा कहलाता है। उण्डुक लगभग ४ अंगुल

लम्बी थैली सी है। क्षुद्रांत्रों का इससे कपाटिकाओं द्वारा सम्बन्ध होता है। ये कलामयी दो झिल्ली वाली भित्तियों हैं। इनका शिखर भाग उण्डुक में रहता है ये मल को विपरीत दिशा में न जाने देकर स्थूलान्त्रों में (क्षुद्रांत्रों से) आने देती हैं। उण्डुक के आदि भाग से संलग्न सामान्यतः ४ इंच पोली नलिकाकार रचना उण्डुकपुच्छ हुआ करती है।

इस प्रकार सारांशतः स्थूलांत्र का अगला भाग कोलन कहलाता है। इसमें स्थूलांत्र के भाग होते हैं। यह पहले ऊपर जाता है। यकृत् के तल पर बाईं ओर मुड़ता है। आमाशय के नीचे होता हुआ बाईं ओर प्लीहा के तल तक जाकर, फिर सीधे निम्न दशा में जाता है। इनको क्रमशः आरोही, अनुप्रस्त, अवरोही स्थूलांत्र कहते हैं। स्थूलांत्र गुदनलिका के अन्त में गुदा द्वार आता है।

प्रश्न—पाचनक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए। पाचन क्रिया के उपयोगी पाचक रसों का यथास्थान उल्लेख आवश्यक है।
(१९६१, ६२, ६६, १९७०)

उत्तर—पाचन क्रिया के प्रसंग में भोजन को सर्वप्रथम मुख में आना पड़ता है। यहां दांतों द्वारा वह चबाया जाता है। यहाँ उसमें लालारस या लार मिलती है।

(१) लालारस एक रासायनिक वस्तु है, जिसकी भोजन पर विशेष क्रिया होती है। लालास्रावी ग्रन्थियाँ मुख में तीन-तीन दोनों पार्श्वों में होती हैं। इनमें से पहली (सबसे बड़ी) कर्ण मूलिका ग्रन्थि है। ये दोनों ओर कान के नीचे व सामने की ओर स्थित हैं। इस ग्रंथि की वाहिनी गाल में होकर ऊपरी जबड़े के द्वितीय चर्वणक दांत के सामने मुख में खुलती है।

द्वितीय लालाग्रन्थि हण्वधरीय कहलाती है। यह छोटे अखरोट के समान तथा निम्न हनु के दोनों ओर एक-एक होती हैं। इनकी वाहिनी जिह्वा कोण के निम्न भाग में सीवनी के दोनों ओर खुलती है। इसको दर्पण से देखते हैं।

तीसरी लालाग्रन्थि जिह्वाधरीय संज्ञा वाली होती है। उपरोक्त सीवनी के दोनों पार्श्वों पर एक-एक स्थित रहा करती है। जिह्वा और निम्न हनु के दाँतों के बीच में स्थित उभार इसी ग्रन्थि के हुआ करते हैं। इसके मुख अनेक हैं।

ये ग्रंथियां अनेक छोटे-छोटे कोष्ठों में विभक्त हैं। इनके, इन प्रत्येक अनु-

खंडों से एक-एक नलिका निकलकर, बड़ी नली बनकर खुल जाया करती है। ये नलिकायें परस्पर मिलकर मुख्य नलिका का निर्माण करती हैं। प्रत्येक कोष्ठ में नलिका से लगी हुई, स्नैहिक और श्लैष्मिक कोषाणु (जिनमें लालागत किव-त्वजनक कण तथा श्लेष्मजनक कण क्रमशः रहते हैं) युक्त आधार कला रहती हैं। ये कण रस के स्राव के अनन्तर हो जाते हैं।

लालारस में जल ९९·४ प्र० श०, सेन्द्रिय पदार्थ ०·४ प्र० श० निरिन्द्रिय पदार्थ ०·२ प्र० श० होते हैं। प्रतिक्रिया मंद क्षारीय होती है। लालारस का कार्य शुष्क द्रव्य को आर्द्र करना, विलेय पदार्थों को घुलाना, कठिन पदार्थों का क्लेदन व स्नेहन, श्वेतसार पर रासायनिक क्रिया तथा उसका यवशर्करा में परिवर्तन कार्य संपादन करना है। लालास्राव पूर्णतः स्वतन्त्र क्रिया है। इसका नियन्त्रण मस्तिष्क में स्थित नियन्त्रण केन्द्र करता है शुष्क आहार में लाला अधिक तथा आर्द्र आहार में लाला कम स्राव होता है। एक व्यक्ति में प्रतिदिन लगभग १००० से १५०० सी० सी० लाला स्राव होता है।

तो अर्द्ध भोजन मुख में लार में खूब मिल जाता है। आयुर्वेद के अनुसार यहाँ मधुरपाक सम्पन्न होना प्रारम्भ होता है महास्रोतस् के ऊर्ध्वभाग (मुख) में मधुर स्थित रहता है। भोजन खाते ही सर्वप्रथम मधुर आवश्यक सम्पन्न होकर, कफ की वृद्धि होती है। नवीन मत भी इसी का समर्थन करते हैं। केवल रूप बदल दिया गया है। आहार कार्बोहायड्रेट बहुल होते ही है, इनका पाचन भी मुख से ही प्रारम्भ हो जाता हैं। कार्बोहायड्रेट के दोनों भेद पिष्टसार व शर्करायें—अन्त में द्राक्षा शर्करा में परिवर्तित हो जाते हैं। लालारस (जिसे आयुर्वेद बोधक कफ मान सकते हैं) इस प्रकार निम्न प्रकार प्रक्रिया सम्पन्न कराती है—
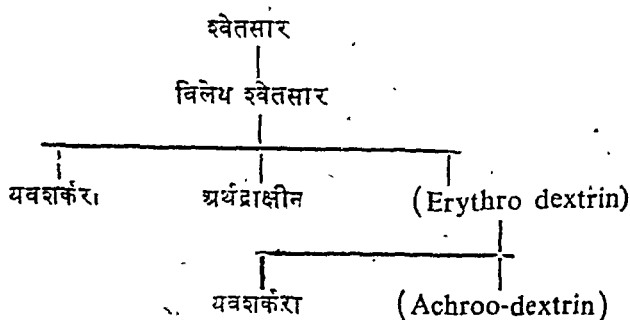
लालारस द्वारा कार्बोहायड्रेटों के पाचन में टायलिन (Ptylin) नामक एन्जाइम (क्रियाशील अंश) सक्रिय रहता है। सारांशत: भोजन में विद्यमान श्वेतसार का भाग, अधिकांशत: शर्करारूप में परिणत हो जाता है और भोजन अच्छी तरह चर्वित व आर्द्र हो जाता है।

अब यह लालारस युक्त आहार, अन्न प्रणाली द्वारा सरकता हुआ आमाशय में पहुंच जाता है। कुछ समय तक थूक की प्रक्रिया जारी रहने के बाद आमाशय की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

(२) आमाशय नामक प्रमुख अंग से आमशयिक रस (Gastric Juice) का स्राव होता है। इस पाचक रस में जल ९९·७५ प्रतिशत, घन सेन्द्रिय द्रव्य ०.३४ प्रतिशत, निरिन्द्रिय द्रव्य ०·४६ प्रतिशत, स्वतन्त्र उदहरिकाम्ल ०·३५ प्रतिशत, अम्लता ०·४५ प्रतिशत और क्लोराइड ०·५ प्रतिशत होते हैं। इसमें सक्रियता युक्त दो पेप्सिन (Pepsin) तथा लवणाम्ल (Hydrochloric Acid)—द्रव्य होते हैं। आयुर्वेदमतानुसार भी नाभि तथा हृदय के मध्य (आमाशय में आम्लरस होता है) इसके कारण मुख में मधुर पाक प्रारम्भ होने के पश्चात् आमाशय में पहुंचने पर अन्न का अम्लपाकसंज्ञक द्वितीय अवस्था पाक होता है। यह अम्लपाक आगे (क्षुद्रांत्रों में) पाचक पित्त की उत्पत्ति का हेतु कहा गया है। आमाशय रस आयुर्वेदानुसार पाचक पित्तवर्ग में अन्तर्भूत है। आमाशय में जो कफ होता है वह क्लेदक कफ है। प्रथम अवस्था पाक के मधुर होने के कारण आमाशय में उसका (भोजन का) रस मधुर ही रहता है।

आमाशय की भित्तियों में स्थित ग्रन्थियों में आमाशय रस की प्रधान वस्तुओं—पेप्सिन और लवणाम्ल का निर्माण होता है। किन्तु उभयग्रंथि वैविध्यपूर्ण हैं। भिन्न-भिन्न सैलों द्वारा इनका निर्माण सम्पन्न होता है। रक्त क्षारीय होता है, जिससे कि ये ग्रन्थियां इस आम्लिक रस को बनाती हैं। परन्तु आमाशयिक सैल उसी रक्त से यह आम्लिक द्रव्य तैयार करते हैं।

मुख लालारस को बनाने वाली ग्रन्थियों के समान आमाशयिक केन्द्र ग्रंथियां भी वातनाड़ी से सम्बद्ध हैं। इसके संचालक—आमाशयिक केन्द्र मस्तिष्क में लाला केन्द्र के पास ही में स्थित है। यह स्वादग्राही नाड़ियों, मानस वेगों से उत्तेजित हो जाता है। प्राणदा नाड़ी के विच्छेदन पर भी आमाशय में भोजन के प्रविष्टिसमय आमाशयिक रस का स्राव प्रारम्भ हो जाता है।

(परन्तु) यह ग्रन्थियों की रासायनिक उत्तेजना से होता है, यान्त्रिक उत्तेजना द्वारा नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यावर्तित स्राव व रासयनिक स्राव दो होते हैं। प्रोटीन युक्त अहार, पर्याप्त भूख, मन-प्रसन्नता, जीवनीय द्रव्य की उपस्थिति तथा दुग्ध का एक तत्त्व (कुत्तों पर परीक्षित) आमाशयिक रस के स्राव पर प्रभाव डालते हैं। रोटी में अधिकतम, दूध में न्यूनतर तथा मांस में न्यूनतम स्राव की स्थिति पाई गई है।

इस क्रमान्तर्गत, भोजन आमाशय में आता है, सर्वप्रथम मानसिक स्राव निकल चुका होता है, फिर आमाशय में रासायनिक स्राव निकलता है। यह पाचन की पूर्ण अवधि तक विद्यमान रहता है। आमाशय रस युक्त आहार पर पाँच क्रियायें करता है। सबसे प्रथम उसका कार्य रोगों के जीवाणुओं को नष्ट करना होता है। द्वितीय कार्य भोजन में प्राप्त होने वाली शर्करा पर क्रिया करना है। शर्कराओं का पाचन कार्य लवणाम्ल से सम्बद्ध होता है। इक्षु शर्करा डेक्सट्रोज तथा लेव्यूलोज (Dextrose and Lobeulose) के मिलने से बनती है। आमाशय रस इसमें विभक्तीकरण उत्पन्न कर देता है। तीसरी क्रिया के अनुसार आमाशयिक रस के रेनिन (Rennin) से दूध फट जाता है। चौथे, लाइपेज के कारण वसाम्ल (Fatty acids) तथा ग्लीसरीन (Glycerin) में टूट जाती है। पाँचवी क्रिया के अनुसार पेप्सिन तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से प्रोटीन का पाचन होता है।

आमाशयिक रस की मुख्य क्रिया प्रोटीनों पर होती है। प्रोटीन के पचने से उसके कणों का विभाजन होकर ग्रहण करने योग्य दशा में हो जाते हैं। इन सम्पूर्ण क्रिया को निम्न रूप में भली भांति समझा जा सकता है—

प्रोटीन —आम्लिकमेटाप्रोटीन— —प्रोटीयोज
(Acid meta Protien) (Proteoses)

प्रोटीयोज——पेप्टोन
(peptones)

यदि आमाशयिक रस की क्रिया अधिक समय तक होती रहे तो प्रोटीन भंजन क्रिया सम्पन्न हो जाती है।

इस भोजन की आमाशयस्थ पाचन क्रिया में वहाँ होने वाली विशेष गतियों का ज्ञान करना आवश्यक है। भोजन जैसे ही आमाशय में पहुँचता है, वह

चारों ओर सिकुड़ना आरम्भ कर देता है। तीव्र संकोचन व प्रसारण प्रारम्भ हो जाता है। गति क्रिया शिखर से बार-बार पक्वाशय द्वार की ओर आरम्भ होकर धक्का लगाया करती है।

अब ज्यों-ज्यों भोजन (आमाशय में लगभग ३ घण्टे रहने के बाद) पचाया जाता है, त्यों-त्यों पक्वाशय द्वार भी खुलता जाता है। अधिकांशतः पका भोजन ही इस द्वार से निकल कर पक्वाशय में आ जाता है। आमाशयिक पाचन क्रिया में अम्ल उत्पन्न होते ही द्वार पूर्ण खुलकर, पुनः बन्द हो जाता है।

(३) इस प्रकार भोजन क्षुद्रांत्र के प्राथमिक भाग में आ जाता है। यहां आंत्रिक पाचन का सूत्रपात हो जाता है। यहां पर अग्नाशय रस मिलता है।

अग्न्याशय से अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) का स्राव होता है। यह रस—प्राणदा नाड़ी के सूत्र अग्न्याश-कोषाणुओं में स्रावक उत्तेजना ले जाते हैं तो प्रत्यावर्तित (Reflex secretion) अथवा जब अग्न्याशय कोषाणु रक्त द्वारा आनीत स्रावक तत्त्व (रासायनिक उत्तेजक) के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होते हैं तो रासायनिक स्राव (Chemical Secretion) के रूप में उत्पन्न करता है। प्रायः स्राव की उत्पत्ति होती है।

यह तीव्र क्षारीय द्रव है। इनमें लगभग १.८ प्र० श० पिष्टसार (Albumin) ग्लोब्यूलिन, किण्वतत्व तथा सोडियम कार्बोनिट आदि ठोस द्रव्य प्राप्य हैं। इसमें किण्वतत्व (Enzymses) रहते हैं। प्रतिदिन में लगभग एक व्यक्ति में ५००—८००सी० सी० अग्न्याशय रस स्राव होता है। यह रस भोजन के प्रत्येक भाग पर अत्यधिक क्रिया करता है।

लाला की भांति श्वेतसार को माल्टोज में बदल देता है। इस क्रिया में एमायलेज (Amylase) हेतु है। वसा के कण वसाम्ल वा ग्लिसरीन में टूट जाते हैं (आमाशय की भांति)। प्रोटीन का भंजन तीव्र प्रकार से करता है। प्रोटीन को पेप्टोन में बदलकर नवीन क्रिया करता है—

प्रोटीन——पेप्टोन——पोलीपेप्टाइड
(Polypeptides)
अमीनोअम्ल (Amino Acids)

अमीनो अम्ल ही प्रोटीन अन्तिम स्वरूप होता है। प्रोटीन पर क्रिया करने वाला अग्न्याशयिक रस का वह भाग—ट्रिप्सीन (Trypsin) होता है। यह वस्तुतः क्रियाशील अंश है।

अग्नि रस की सहायता के लिए यकृत पित्त का सम्मिलन होता है। मल भूत पित्त आयुर्वेद में माना जा सकता है। इस प्रकार पित्ताशय से पित्त और अग्न्याशय अग्निरस आकर यहाँ भोजन से भली प्रकार मिलकर अपनी क्रिया सम्पन्न करते हैं।

अब भोजन का क्षुद्रांत्रों मे प्रधान रूप से प्रवेश हो जाता है। पक्वाशय तथा क्षुद्रांत्र के इस भाग में कोई द्वार नहीं होता। क्षुद्रांत्र आंत्रिक-रस का निर्माण करते हैं।

आंत्रिक रस (Succus Fntericus) क्षुद्रांत्र मे स्थित श्लैष्मिक कला की ग्रंथियों में निकलता है। यह सबसे अधिक शुरू के भाग मे होती है। इन स्रावक ग्रन्थियों पर क्रिया से आंत्ररस की उत्पत्ति हो जाती है। नाड़ी जन्य स्रावक प्रभाव विशेष अज्ञात है। यह भी आयुर्वेद में पित्त वर्ग के अन्दर माना गया है। वस्तुतः आंत्र रस मे Entero-Kinase (एन्ट्रो-काइनेज) नामक वस्तु उसे क्रियावान बनाती हैं। आंत्रिक रस प्रोटीन भंजक-शक्ति प्रदान करता है। स्वयं आंत्र रस प्रोटीन विशेष क्रिया नहीं कर सकता है। परन्तु प्रोटीयोज पर तीव्र क्रिया कर सकता है। आंत्र रस पिष्टसार के परिपाकजन्य अथवा आहार की शर्कराओं का पाचन करता है। इसका एण्ट्रोकाइनेज नामक क्रिया शील (Active) अंश अग्नि रस के ट्रिप्सीनोजन तत्व (Trypsinogen) को ट्रिप्सीन में परिवर्तित कर देता है। वस्तुतः इस क्षारीय स्राव में अनेक इंजाइम्स मौजूद हैं।

सरांशतः क्षुद्रांत्रों में पाक क्रिया कई बातों के सहकार से उत्पन्न होती है। क्षुद्रांत्र में भोजन आने के पहले ही आकर्षणी गति प्रारम्भ हो जाती है।

इससे यकृत पित्त वाहिनी (Hepatic duct) का छिद्र खुल करके पित्त ग्रहणी में आ जाता है। फिर क्रियायें भी सम्पन्न होने लगती हैं। आंत्र में जीवाणु भी उत्पन्न रहते हैं।

क्षुद्रांत्रीय गतियाँ शरीर के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं। आंत्रों में गति कुछ अन्तःसूत्रों के कारण होती है। जब गोलाई के सूत्र संकोच करते हैं तो

नलिका सिकुड़ जाती है और जब लम्बाई वाले सूत्र संकोच करते हैं तो लम्बाई कम हो जाती है। इन दोनों क्रियाओं से भोजन आगे बढ़ता रहता है। क्षुद्रांत्र में लहर उत्पन्न होकर आगे दो भागों में विभक्त होकर, फिर बीच के दोनों भाग आगे मिल जाते हैं। इससे आंत्रस्थ द्रव्यों का सुसम्मिलन (मिश्रण, तथा भोजन प्रत्येक भाग के सम्पर्क में आ जाने से शोषण कार्य हो जाता है। शोषण कार्य विशेषतः क्षुद्रांत्रों में स्थित अंकुरों (villi) रक्तवाहिनियाँ, रस वाहिनियाँ उपस्थित रहती हैं यही भोजन के उपयुक्त तत्व को ग्रहण कर रक्त में मिला देती हैं। ये व्यापन व अभिसरण क्रियायें (Difusion and osmosis) कहलाती है।

(४) अब भोजन बृहदांत्र में आता है। कुछ धीमी गतियाँ सम्पन्न होती हैं। यहाँ आए हुए भोजन में जल ६५ प्रतिशत तथा वसा आदि का कुछ अशोषित भाग रहता है। बृहदांत्र के प्राथमिक भाग में इनका शोषण हो जाता है। अब जो निकृष्ट भाग बचता है वह मल के रूप में मलाशय में एकत्र हो जाता है। भोजन यहाँ लगभग २०वें घण्टे पर पहुँच जाता है। आयुर्वेद में भुक्त अन्न का तृतीय अवस्था पाक—कटु माना गया है। इस तरह आयुर्वेद में भी पाचन क्रिया पूर्ण हो जाती है।

पाचक ग्रन्थियाँ तथा पाचक रस

पाचन प्रणाली या अवयवों के दूसरे प्रकार के अवयवों को पाचक ग्रंथियाँ (डायजेस्टिव ग्लैन्ड्स) कहते हैं, निर्देश किया जा चुका है।

लालारस

लालारस (Saliva) रासायनिक पदार्थ है। लालास्रावी ग्रन्थियाँ (Salivary glands) मुख में तीन-तीन दोनों पार्श्वों में स्थित होती हैं। प्रथम सबसे बड़ी कर्णमूलिका ग्रन्थि (Parotid glands) है, जो दोनों ओर कान के नीचे तथा सामने की ओर स्थित रहती है। इसकी वाहिनी गाल में होकर ऊर्ध्वहनु के सामने खुलती है दूसरी हन्वधरीय लालाग्रन्थि (Submaxillery glands) छोटे अखरोट की आकृति की निम्न हनु के दोनों ओर एक-एक स्थित होती हैं। इसकी वाहिनी जिह्वा कोण के नीचे से सेवनी की दोनों ओर खुला करती हैं। तीसरी जिह्वाधरीय लालाग्रन्थि (Sublingual glands) सेवनी के दोनों पार्श्वों पर एक-एक रहती हैं। यह अनेक मुखों द्वारा खुला करती हैं।

लालाग्रन्थियाँ अनेक कोष्ठों में विभक्त रहती हैं। इन कोष्ठों में नलिका में लगी हुई स्नैहिक श्लैष्मिक कोषाणु युक्त कला रहती है। लालारस में जल ९९.४ प्रतिशत, सेन्द्रिय पदार्थ ०.४ प्रतिशत तथा निरिन्द्रिय पदार्थ ०.२ प्रतिशत होते हैं। शुष्क द्रव्य आर्द्र करना, विलये पदार्थों को घोलना, कठिन पदार्थों का क्लेदन व स्नेहन, श्वेतसार पर रासायनिक क्रिया तथा उसका यवशर्करा परिवर्तन करना—लालारस के कार्य हैं। लालारस की प्रतिक्रिया मन्द क्षारीय होती है। लालास्राव का नियन्त्रण मस्तिक में स्थित एक केन्द्र द्वारा होता है और लालास्राव पूर्णतः स्वतन्त्र क्रिया है। एक व्यक्ति में लगभग १००० से १५०० सी० सी० लालास्राव प्रतिदिन औसतन रहता है। शुष्क आहार में लालारस अधिक तथा आर्द्र आहार में लालारस कम स्रावित हुआ करता है।

आमाशयिक रस

आमाशय से स्राव होने वाले आमाशयिक रस (Gastric Juice) नामक पाचक रस में जल ९९.७५ प्र० श० घनसेन्द्रिक द्रव्य ०.३४ प्र० श०, निरिन्द्रिय-द्रव्य ०.४६ स्वतन्त्र उदहरिकाम्ल ०.३५ प्र० श०, अम्लता ०.४५ प्र० श० तथा क्लोराइड ०.५ प्र० श० पाये जाते हैं। इनमें दो सक्रिय द्रव्य पेप्सिन तथा हायड्रोक्लोरिक एसिड रहते हैं। आमाशय की भित्तियो में स्थित ग्रंथियों में आमशय रस के इन द्रव्यों का निर्माण होता है।

आमाशयिक रस की ग्रन्थियाँ लालास्राव के समान वातनाड़ियों से सम्बद्ध हैं, जिनके आमाशयिक मस्तिष्क में लाला केन्द्र के निकट ही स्थित रहते हैं। आमाशय रस के घटिक द्रव्यों की उत्पादक ग्रन्थियाँ भिन्न-भिन्न मात्रा में आमाशय के विभिन्न स्थानों में रहती हैं। स्राविणी ग्रन्थियाँ, केन्द्रीय कोष, सीमावर्त्ती कोष, अम्लरस कोष (Ocyntic cells) पेप्सीन जनक कोष (Peptic cells) ग्रन्थियों के प्रमुख प्रकार हैं। आमाशयिक-रस का स्राव दो प्रकार से होता है प्रत्यावर्तितस्राव तथा रासायनिक स्राव। प्रोटीन युक्त आहार, पर्याप्त भूख, मन की प्रसन्नता, जीवनीय द्रव्य की उपस्थिति तथा स्राव की मात्रा रोटी में सबसे अधिक, दूध में कम ताथ मांस में इससे भी कम पायी जाती है।

आमाशय रस के सामान्य कर्म इस प्रकार हैं—जीवाणु नाशन, प्रोटीनों का पाचन, दूध का संधान, स्नेह पचन, इक्षुशर्करा का पचन, संरक्षण, रक्त

संजनन तथा नाड़ी पोषण करना। आयुर्वेद में कहा गया है कि नाभि तथा हृदय के मध्य आमाशय में अम्ल रस होता है।

अग्न्याशयिक रस

अग्न्याशयि से अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) का स्राव होता है। प्राणदा नाड़ी के सूत्र अग्न्याशय कोषाणुओं में स्रावक उत्तेजना ले जाते हैं तो प्रत्यावर्तित स्राव यथा जब अग्न्याशय कोषाणु रक्त द्वारा आतीत स्रावक तत्त्व के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होने पर रासायनिक स्राव होता है, इसी स्राव की प्रायः उत्पत्ति हुआ करती है।

यह रस तीव्र क्षारीय होता है। इसमें पिष्टसार १०८ प्र० श०, ग्लोब्युलिन किण्वतत्त्व, सोडियम कार्बोनेट आदि तत्त्व पाये जाते हैं। दिन में प्रति व्यक्ति ५००-८०० मी० सी० लगभग रस का स्राव होता है। इस रस की भोजन के प्रत्येक भाग पर अधिक क्रिया होती है। अग्न्याशय उपस्रावी ग्रन्थि है। इसका बहिःस्राव अग्न्याशयिक रस है, जो कि आमशय से आने वाले अधपके भोजन की पाक क्रिया करता है। इस ग्रन्थि का अन्तः स्राव इन्सुलीन (Insulin) है, जो कि कार्बोहायड्रेट के प्रत्यक्ष धातु पाक व उनके पाक द्वारा स्नेहों की पाक क्रिया का सम्पादन करता है।

याकृत् पित्त (१९६५)

पित्ताशय से पित्त (Bile) निकलता है। पित्त की उत्पत्ति यकृत् में होती है, यकृत् ही पित्तोत्पत्ति के लिए निर्जीव रक्त कणों का विनाश करता है। पित्त पहले अन्तः कोषाणवीय स्रोतों में जाने के बाद यकृत् खण्डों के भीतर नलिकाओं में प्रवेश करता है। ये नलिकायें यकृत् पिण्डों के सम्मिलन से बनकर पित्त-नलिका का निर्माण करती हैं। दायीं व बायीं यकृत् नलियों से मिलकर सामान्य पित्त नलिका बनती है। यह नलिका अग्न्याशय नलिका के साथ ग्रहणी में खुलती है। यकृत् से पित्त आकर पित्ताशय (Gall bladder) में पित्तकोष नलिका (Hepatic duct) से संचित होता रहता है। यकृत् में पित्त स्रोत [Bile Cailaries], रक्त के मल अंश से बनने वाले, पित्त का वहन किया करते हैं। अग्न्याशयिक रस का सहायक यकृत् पित्त होता है।

यकृत् पित्त कुछ हरापन लिये भूरे रंग का पदार्थ है। यह छोटी-छोटी खण्डिकाओं (Lobules) से बना देखा जा सकता है। स्नेहों का पाचन यह

किया करता है और अग्न्याशयिक रस की पाक क्रिया में सहयोग करता है। पित्ताशय १॥ इंच लगभग लम्बी नीचे मुख वाली थैली है। यकृत् के नीचे एक गड्ढे में रहती है। जब भोजन आमाशय से ग्रहणी में जाने पर पित्ताशय का संकोच होकर पित्तोनलिका (Cystic duct) द्वारा पित्त ग्रहणी में पहुंचता रहता है। यकृत् पित्त में जल, पित्त लवण, पित्त रंजक, कोलेस्टेरोल तथा लिसिथिन नामक स्नेह द्रव्य होते हैं।

आंत्ररस

यह क्षुद्रान्त्र में स्थित श्लैष्मिक कला की ग्रन्थियों से आन्त्र रस (Succus Entericus) निकलता है। ये ग्रन्थियां प्रारम्भक भाग में अधिक होती हैं। आन्त्र रस में कई प्रकार के स्राव सम्मिलित हैं—अग्निरस का उद्दीपक अन्तः स्राव, सिक्रीटीन, ऐण्टरोकायनेज (Entero kinase) प्रोटीन-पाचक रस (Pancreozymin), स्नेहपाचक रस तथा कार्बोहायड्रेट पाचक एंजायम (माल्टेज, लेक्टेज व सुक्रेज)। रस के उक्त भागों की मात्रा पाचन के लिए आहार के हिसाब से रहती है।

प्रश्न—मूत्रवह संस्थान तथा उसके अंगों का परिचय दीजिए (१९६५, १९७०, १९७१, १९७२)

उत्तर—पाचक पित्त क्रिया से अर्थात् परिपक्व आहार सारभूत रस तथा असारभूत मल में विभक्त हो जाता है। यह मल दो प्रकार का होता है। घन मल पुरीष है तथा द्रव मल ही मूत्र कहलाता है। मल पुरीष से शेषांश द्रव भाग विशिष्ट वाहिनियों द्वारा मूत्राशय में पहुंचता है और मूत्र संज्ञा धारण करता है। मूत्र के निर्माण का यह साधारण क्रम है।

क्षेत्र (१९६५)

मूत्रवह संस्थान के अर्थात् मूत्र की रचना व निर्गमन में भाग लेने वाले अवयव निम्नांकित हैं—

वृक्क (Kidneys)	दो
मूत्र प्रणाली (Ureters)	दो
मूत्राशय (Urinary Bladder)	एक
मूत्रमार्ग (Urethra)	एक

मूत्रप्रणाली (१९६७)

वृक्कों में तैयार हुए मूत्र को वस्तिपर्यन्त पहुंचाने का कर्म दो प्रणालियों

या गवीनी (Ureters) का है। प्रत्येक आन्त्र का आदिभाग कोष के आकार का होता है। इसके अन्दर केशिकाओं का गुच्छ स्थित है। आन्त्र का उक्त कोष इन गुच्छों में स्थित रक्त में मूत्रांश का निर्हरण करता है। इन अनेक आन्त्रों (मूत्र निर्माण करने वाली प्रणाली) के सिरे मिलने से मूत्रप्रणालियां बनती है। यह मूत्राशय से जुड़कर स्थित रहती हैं।

मूत्रप्रणालियां स्वाधीनमांस तथा सौत्रिकतन्तुओं से निर्मित वाम व दक्षिण पार्श्व में स्थित हैं। अन्तःपृष्ठों पर श्लैष्मिक झिल्ली लगी रहती है। इनकी लम्बाई १०-१२ इंच से लेकर १६ इंच तक पाई जाती है। इनका शिर ऊपर की ओर वृक्कालिन्द (Pelvic) खात में स्थित है। नीचे की ओर तिर्यक् गति से पृष्ठ वंश के सामने श्रोणिगुहा में उतर कर बस्ति के दोनों पार्श्वों में ऊपर की ओर खुलती हैं। ऊपर के चौड़े भाग की कई शाखाएँ हैं। इन शाखाओं के प्रत्येक मुख में वृक्क की एक मीनार का शिखर रहता है। यही पूर्वोक्त स्थिति आ जाती है।

मूत्रप्रणाली की संरचना के अन्तर्गत तीन आवरण होते हैं—सौत्रिक (बाह्य) पेशीय (मध्यम), श्लैष्मिकता (आभ्यन्तर)। वृक्क की मीनारों से मूत्र इस नली के चौड़े भाग में पहुंचता है और उसमें आगे बहता हुआ मूत्राशय में पहुंच जाता है।

मूत्राशय (१९६५, ६७)

यह छोटे कद्दू का आकार रखता है मूत्राशय या वस्ति (Urinary Bladder) वस्तिगह्वर में भगास्थि सन्धि के पृष्ठ भाग में स्थित है। पुरुषों में गुदनलक के आगे तथा स्त्रियों में योनि व गर्भाशय के आगे रहता है। सारांशत विटपसन्धि (*Pubic Symphysis*) के पीछे रहा करता है। मूत्राशय की दीवार स्वाधीन मांससूत्रों से निर्मित है। मूत्राशय के ऊपर व चौड़े भाग को शिर तथा निचले संकीर्ण भाग को ग्रीवा कहते हैं।

आयुर्वेद में भी बस्ति पर पर्याप्त विचार किया है। वस्तुतः मूत्राशय अल्पमांसमय, कुछ रक्तवाहिनियों तथा पतली त्वचा से बना आशय है। संरचना के अनुसार इसके चार स्तर होते हैं स्नैहिक (Serous), पेशीय (Muscular), उपश्लैष्मिक (Areolar) तथा श्लैष्मिक (Mucous)। इनकी अनैच्छिक पेशियां आमाशय के समान वृत, अम्ल तथा तिर्यक तीनों दिशाओं

में व्यवस्थित होती हैं। ग्रीवा के पास वृत्त विशेषतः विकसित होती हैं। इनसे वस्ति संकोचनी (Sphincter vesicae) का जन्म होता है। यह मूत्र को सदैव टपकते रहने से बचाती है। वस्ति में रक्तवह तथा रसवह स्रोत, नाड़ियों की कमी नहीं।

मूत्र रहित अवस्था में मूत्राशय खाली होने पर कुछ त्रिकोणाकार सा दीखता है। मूत्रयुक्त अवस्था में गोलाकार स्थिति में आ जाया करता है और अधिक भरने पर वस्तिगह्वर से ऊपर निकलकर उदर की ओर आने लगता है। अर्थात् उदर की अगली दीवार के पीछे आने लगता है। यहाँ तक मूत्र अगली नली से आकर मिल जाता है। मूत्राशय का ग्रीवा नामक जो निचला संकीर्ण भाग है, वह मूत्र-प्रसेक नामक निम्नांकित अंग से मिलता है।

मूत्रप्रसेक

मूत्रमार्ग या मूत्रप्रसेक मूत्राशय के सबसे नीचे से प्रारम्भ नली है। यह १२ अंगुल लम्बी नली कला निर्मित है। स्त्री व पुरुषों के शरीर में मूत्रप्रसेक सम्बन्धित अन्तर विद्यमान है। पुरुषों में एक वितस्ति (बालिस्त) तथा स्त्रियों में कोई १॥ इन्च लम्बा है। पुरुषों में युवावस्था में इस नली की लम्बाई ७-८ इन्च पाई जाती है।

पुरुष के वस्तिद्वार से शिश्नाग्र तक शिश्न के अधोभाग में मध्य रेखा फैली हुई है। इसके तीन भाग होते हैं--वस्तिद्वारिक, मूलाधारिक तथा शैश्निक आरम्भिक दो अंगुल का वस्तिद्वारिक भाग है, इस पर वस्तिशिर नामक (पौरुष-ग्रन्थि) ग्रन्थि वेष्टित रहती है। इस तरह मूत्रमार्ग का शुरू का भाग इसी ग्रन्थि से होकर जाता है। प्रोस्टेट से आगे यह नली शिश्न के निम्न भाग में स्थित रहती है। यह अन्तिम भाग है। मध्य का (द्वितीय भाग) भाग मूलाधारिक बताया है। यह कलानिर्मित एवं एक अंगुल लम्बा है। यहीं पर एक मूत्रद्वार संकोचनी पेशी विद्यमान होती है। मूत्रमार्ग का अन्तिम छिद्र शिश्न मार्ग में मूत्रबहिर्द्वार के नाम से खुलता है। स्त्रियों में १॥ इन्च लम्बी यह नली प्रोस्टेट रहित होती है यह नला योनि की अगली भित्ति से जुड़ी रहती है तथा इसका छिद्र योनि के छिद्र से भिन्नता रखता है। आयुर्वेद में भी मूत्रप्रसेक का वर्णन है। इस प्रकार मूत्रप्रसेक द्वारा समय-समय पर मूत्र शिश्नद्वार से निकलता रहता है।

प्रश्न—वृक्क की रचना तया कार्य बताइए। (१९७०, ७१)

उत्तर—(क) वृक की रचना

हमारे शरीर में वृक्क उदर गुहा के दोनों ओर वाम तथा दक्षिण पार्श्व में स्थित हैं। इनका आकार सेम के बीज की तरह होता है। उदरगुहा के कटि प्रदेश में पृष्ठवंश के दोनों ओर एकादश एवं द्वादश पर्शुका के समीप रहते हैं। इनकी लम्बाई ३ इन्च और मार ४॥ औंस होता है। इसका भार स्त्रियों में कुछ कम होता है। इनकी चौड़ाई २॥ इन्च है। वृक्क के ऊपर सौत्रिक तन्तु निर्मित आवरण चढ़ा हुआ है, जिसे वृक्ककोष कहा जाता है। वृक्कों के सामने आन्त्र की गेंडलियां पड़ी रहती हैं। वृक्कों का वर्ण बैंगनी होता है।

वृक्क के दो पृष्ठ हैं—एक सामने का, दूसरा दूसरी ओर का। दो किनारे भी हैं—एक रीढ़ की हड्डी के पास वाला तथा दूसरा उसके परे। दो सिरे उभरे रहते हैं। रीढ़ की ओर का किनारा दबा हुआ रहता है। यह सेम की तरह खात युक्त है। ऊपर के सिरे में नीचे के सिरे से अधिक मोटाई रहती है। इसके ऊपर एक छोटा अंग उपवृक्क या अधिवृक्क होता है। जहाँ पूर्वोक्त वृक्क में गड्ढा होता है वहीं से वृक्क धमनी का प्रवेश तथा शिरा का निवेश है। यहीं मूत्र प्रणाली का प्रारम्भिक अंश जुड़ा रहता है। अगर वृक्क छेदन कर आन्तरिक रचना देखी जावे तो इस प्रकार संरचना दृष्टिगत होगी—

वस्तुत: वृक्क अनेक सूक्ष्म नलिकाओं का समूह है। ये नलियां एकत्र होकर एक विशेष रूप धारण कर लेती हैं। पहले वृक्क वस्तु आता है जो वाहिवस्तु तथा अन्तर्वस्तु भेद से दो प्रकार का है। मध्यस्थ भाग कई मीनारों(पैरामिड्स) श्रेणियों में विभक्त है। मीनारों के शिखर मूत्रप्रणाली की ओर रहते हैं। इनकी तलियाँ पृष्ठों की ओर विद्यमान हैं। मीनारों की शिखरोंमें अनेक सूक्ष्मछिद्र हैं। ये वृक्कीय नलिकाओं के मुख हैं। वृक्क की अन्तःपरिधि में स्थित खात को(जहाँ मूत्र-गवीनी का सिर मिलता है) वृक्क द्वार नाम दिया गया है। इसी वृक्कद्वार में वृक्कालिन्द होता है, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। वृक्क के परिधि भाग में स्थित कार्टीकलमैटर मूत्रोत्सिका से निर्मित हैं। मूत्रोत्सिका में सूक्ष्म मूत्र नलिकाएं, रक्त नलिकाओं के गुच्छों का समूह है। इनसे प्रायः जल चूता रहता है। इनकी संख्या एक अंगुल स्थान में प्रायः ६० होती है। ये सूक्ष्मशिरा और धमनियों के बीच-बीच में गुच्छों के समान स्थित हैं।

एक-एक उत्सिका में एक-एक सूक्ष्म मुखी धमनी प्रविष्ट होती है और वर्तुलाकार गुच्छ में परिणत हो जाती है। इसे एक कलामय कोष आवृत करता है। वृक्क स्थित छोटी-छोटी नलियां लम्बी तो बहुत होती हैं, पर चौड़ी काफी कम रहती हैं।

(ख) वृक्क का कार्य (१९६५)

वृक्कों का कार्य विशेष महत्त्व रखता हैं। वृक्क का कार्य रक्त से मूत्र के उपादानों को पृथक् करना है। इससे रक्त का संगठन समान रूप से बना रहता है। वृक्क के कोषाणु अत्यन्त उत्तेजनाशील होते है। जिससे रक्त के संघठन में स्वल्प परिवर्तन न होने से भी उनके द्वारा पता चल जाता है।

मूत्र/वृक्कों की 'आन्त्र' (विशेष अर्थ) प्रणालिकाओं द्वारा निर्मित होता है। प्रणालिकायें सहस्रों, अनुवीक्ष्यमुखी हैं। नदियों का प्रवाह जैसे समुद्र को सर्वदा तृप्त किया करता है। वैसे ही इनसे निर्मित मूत्र भी मूत्राशय को आपूरित करता रहता है। इसमें एक सुन्दर उदाहरण भी दिया गया है। नये घड़े को मुखपर्यन्त जल में रखेंगे तो उसके अतिसूक्ष्म छिद्रों से रिस-रिस कर जल कालक्रम मे सम्पूर्ण घड़े को भर देता है, वैसे ही इन प्रणालियों के सूक्ष्म छिद्रों से रिस कर मूत्र वृक्कों को, फिर गवीनियों तथा वस्ति को सम्पूरित करता है।

वृक्क का कर्म—मूत्र निर्माण—इस प्रक्रिया से पूर्ण होता है। धमनियों से रक्त वृक्क में पहुंचता है। शाखा प्रशाखाओं द्वारा रक्त वृक्कगत केशिका झुंड में पहुंचकर केशिका भित्तियों द्वारा उसका कुछ जलीय अंश चू जाता है और यह तरल पदार्थ नली की दीवारों में होकर उसके भीतर पहुंच जाता है। नली का फूला हुआ भाग फिल्टर (छन्ने) का काम देता हैं। सैलों से निर्मित इन फिल्टरों में रक्त का कुछ द्रव भाग छन जाता है। छनने की क्रिया पर विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं। केशिका के झुण्ड से रक्त एक नली द्वारा बाहर निकल कर नली के शेष भाग में व्याप्त केशिका जाल में पहुंचता है। ये केशिकायें नली की सैलों में मिली रहती हैं। नली की स्थूल सैलों में यह स्वाभाविक शक्ति है कि वे उस तरल में से यूरिया, यूरिक एसिड आदि ले और फिर उनको नली के भीतर पहुंचा दें। फिर ये पदार्थ फिल्टर से छन कर आने वाले द्रव मे घुस जाता है। यूरिया आदि हानिकारक पदार्थों से युक्त तरल पतली-पतली नलियों में मीनारों (पैरामिड्स) में स्थित बड़ी-बड़ी नलियों में पहुंच

कर, इन शिखरों के छिद्रों से निकलकर यह तरल मूत्रप्रणाली के प्रारम्भिक चौड़े भाग में पहुंचता है, इसे ही मूत्र या पेशाव कहते हैं।

मूत्र लगभग १॥ सेर की मात्रा में दिन रात में आ जाता है। प्राकृत मूत्र साफ, पारदर्शक, प्रतिक्रिया अम्लयुक्त, लोहितपीताभ वर्ण, गुरुत्व (S. G.) १०१५ के १०२५ तक होता है। मूत्र यदि १॥ सेर हो तो २३ छटांक पानी तथा एक छटांक उसमें घुले रासायनिक पदार्थ (सामान्य लवण, क्रियेटनीन, शर्करा, मूत्राम्ल आदि) होते हैं। यूरिया काफी मात्रा में पाया जाता है। यही मुख्य पदार्थ है।

प्रश्न—प्रजनन संस्थान का आवयविक परिचय कीजिए।

उत्तर—मैथुनी प्रजनन मानव में होता है। जनन अंगों की उत्पत्ति, शुक्र स्खलन स्त्रीबीज के ग्रहण, गर्भ के धारण तथा पोषण कार्यों के लिए शरीर में जिन अवयवों की स्थिति है, उन सबको मिलाकर प्रजनन कार्य चलता रहता है और जननांग भाग निम्नलिखित हैं—

(क) पुरुष जननांग

पुरुष में माँस पेशियों की तीन दण्डिकाओं का बना विभिन्न लम्बाइयों का शिश्न होता है। अगले भाग मुंड में एक छिद्र होता है और इसी से शुक्र तथा मूत्र बाहर निकला करता है। शिश्न के नीचे वृषण या अण्डकोष हैं। इस थैले के भीतर दायें-बायें एक शुक्रग्रंथि (अंड) है, जिसके पिछले किनारे से लम्बा, कुछ चपटा व गोलाकार उपाण्ड है। यहाँ से अण्ड रज्जु का आरम्भ होता है और इनके द्वारा शुक्र शुक्राशय को जाता है नीचे की ओर इन दोनों थैलियों के मुख एक ओर नली से जुड़े रहते हैं, जो कि शुक्र स्रोत अष्ठीला ग्रन्थि के भीतर घुसकर मूत्रमार्ग में खुलते हैं। यह प्रोस्टेट ग्रन्थि युवावस्था में मूत्रनलिका के प्रारम्भिक भाग को चारों तरफ से ढके रहती है।

शुक्र का वर्णन यथास्थान किया गया है। वृषणों द्वारा शुक्र का उत्पादन होकर शिश्न छिद्र से कामेच्छा के समय स्खलन होता है। वृषण, वस्तिशिर, शुक्राशय, शिश्नमूलग्रन्थियों तथा शुक्रवह नाड़ियों के सम्मिलित कार्य से शुक्र निर्माण होता है और मस्तिष्क व सुषुम्ना में स्थित जननांग सम्बन्धी केन्द्र की प्रेरणा होती है। शुक्रधरा कला शुक्रवहस्रोतों की शुक्रस्राविणी तथा बीज जनन करने वाली कला को कहते हैं। यद्यपि शुक्र को सर्वशरीरव्यापी माना जाता

है, तथापि हर्षकाल में वृषणों द्वारा आकर्षित होकर च्युत हो जाता है। इसमें वायु की प्रेरणा हेतु है। शुक्र-क्षय शुद्ध-अशुद्ध शुक्र के लक्षण लिखे जा चुके हैं।

(ख) स्त्री जननांग

स्त्री के वाह्य जननेन्द्रियों को बाहर से सम्मिलित रूप से दृष्टिगत करते हुए भग नाम दिया गया है। इस वाह्य अंग की रचना इस प्रकार होती है।

पुरुषों में जहाँ शिश्नादि प्रजनन अवयव होते हैं, वहाँ स्त्रियों में भग के अंग पाये जाते हैं। भग के बीच दरार होती है। उसके दो पाट होते हैं। इनको वृहद् भगोष्ठ कहते हैं। मैथुन या प्रसव के बाद ये दोनों पृथक् मिलते हैं। वाल्यावस्था में आपस में मिले रहते हैं। इन भगोष्ठों को हटाने से दो और छोटे पाट मिलते हैं. इनको क्षुद्रभगोष्ठ कहते हैं। पतले तथा त्वचा से निर्मित हैं। ये जहाँ दो भागों में विभाजित होते हैं, वहाँ भगांकुर पाया जाता है। भगोष्ठों को चीरने से दो छिद्र दिखाई देंगे। ऊपर वाला छिद्र मूत्र त्याग के लिए है, इसे मूत्रवहिर्द्वार कहते हैं। इसी के नीचे (आधे इंच नीचे), योनि-द्वार है। इसी छिद्र द्वारा मैथुन (संभोग), मासिक स्राव, प्रसव कार्य सम्पन्न होता है। इस पर एक पर्दा योनिच्छदा लगा रहता है। इसकी उपस्थिति से स्त्री को कुमारी समझना चाहिए। प्रथम संभोग से यह पर्दा फट जाता है तथा इसके बाद उसके शेष भाग के टुकड़े योनि द्वार के इधर-उधर दिखाई पड़ते हैं। ऊपर की तरफ जहाँ दोनों भगोष्ठ मिलते हैं, वह स्थान उभरा हुआ और युवावस्था में बालों (कामादि) युक्त होता है। इस संरचना से प्रायः आधे इंच नीचे मैथुन के समय उत्तेजनशील अंग भगांकुर होता है।

आभ्यान्तर जननेंद्रियाँ (१९६२)

आभ्यन्तर जननेन्द्रियों में योनि, गर्भाशय, डिम्बप्रणाली, ड़िम्बग्रंथि का समावेश किया जाता है।

योनि

योनि भग से गर्भाशय तक रहने वाली नलिका है। इसकी अग्रिम भित्ति २ से ३ इंच लम्बी तथा पश्चिमभित्ति ३-४ इन्च लम्बी होती है। सामने की ओर मूत्राशय, मूत्रप्रणाली तथा पीछे की ओर मलाशय स्थित रहते हैं। योनि की पूर्व तथा पश्चिम भित्तियाँ परस्पर- मिली रहती हैं। आवश्यकतानुसार फैल सकती हैं। योनि में चार कोण बन जाते हैं। गर्भाशयग्रीवा का भी कुछ

भाग योनि में आता है। गर्भाशय का बहिर्मुख इस नली के भीतर खुलता है। योनि नलिका से मासिक स्राव तथा प्रसव होता है। योनि में सदैव चिकना-सा श्लैष्मिक स्राव निकलता रहता है। इसमें उपस्थित तक्राम्ल जीवाणु संक्रमण विरोधी है।

गर्भाशय

जहाँ गर्भस्थित होकर बालक बनता है, उसे गर्भाशय, जरायु या बच्चादानी कहते हैं। गर्भाशय के सामने की ओर मूत्राशय और पीछे की ओर मलाशय स्थित होते हैं। गर्भाशय योनि के ऊपरी भाग से प्रारम्भ होता है। सुश्रुत ने गर्भाशय का आकार रोहित मछली के मुख की तरह मानते हुए सुन्दर विवेचना उपस्थित की है। गर्भाशय के ऊपर का भाग चौड़ा व मोटा होता है, यह मुण्ड (Fundus) कहलाता है। फिर बीच का पतला भाग गात्र (Body) तथा इससे नीचे का भाग ग्रीवा (Cervix) है। निम्न भाग में इसका मुख होता है जो योनि में पीछे की ओर खुलता है। इस मुख के अगले व पिछले दो ओष्ठ होते हैं।

गर्भ धारण करने से पूर्व गर्भाशय ३ इञ्च लम्बा, २. इञ्च चौड़ा तथा १ इञ्च मोटा होता है। गर्भ के बाद आकार में वृद्धि हो जाती है। इसकी श्लैष्मिक कला (Endometrium) में नलिकाकार ग्रन्थियाँ होती हैं। साधारण स्थिति में गर्भाशय मूत्राशय की तरफ कुछ झुका रहता है तथा गात्र ग्रीवा के सम्मेलन के स्थान पर गर्भाशय अपने ही ऊपर कुछ मुड़ा होता है। गर्भाशय की आकृति, स्नायु-बन्धन, औदरिक दबाव आदि इसे स्थान विच्युति से बचाते हैं।

गर्भाशय के पार्श्विक कोणों से डिम्ब प्रणालियों (Fallopian tubes) का आरम्भ होता है। विस्तृतस्नायु (Broad ligaments) के ऊपरी भाग से आच्छादित ४-४ इंच की दोनों ओर से नलियाँ स्थित रहती हैं। ये नलियां काफी तंग हैं। इनके चार भाग होते हैं—गर्भाशय के अन्दर रहने वाला भाग (Interstetial), इसके आगे संकीर्ण भाग (Erthmus), आगे का अपेक्षाकृत विस्तृत भाग (Infundbulum) इस नलिका के झालरदार सिरे का भाग (Fimbriated end) कहते हैं।

डेढ़ इंच लम्बी, पौन इंच चौड़ी व आधा इंच मोटी गर्भाशय में दायें व

बायें डिम्ब ग्रन्थियाँ (Ovary) स्थित हैं। इसका भार ६-८ माशा है। उक्त डिम्ब प्रणाली की डिम्ब ग्रंथि की ओर सिर फूला है उसके छिद्र के चारों ओर युक्त होता है। डिम्ब ग्रंथि में अनेक डिम्बकोष होते हैं। इनके फटने से डिम्ब (Ovum) निकलकर इस झालर की सहायता से डिम्ब प्रणाली में प्रविष्ट हो जाता है।

स्त्रियों के स्तन यद्यपि जननेन्द्रियों के अन्तर्गत नहीं हैं, फिर भी इनसे संबन्धित अवश्य है। वक्ष के ऊपर की ओर द्वितीय पर्शुका से छठी पर्शुका तक स्थिति अर्धवृत्ताकार है। ऊपरी भाग वर्तुल उभार को चूचुक (Nipple) कहते हैं इनके चारों ओर गहरे रंग का स्तन मण्डल (Areola) विद्यमान है। स्तनों में दुग्ध ग्रन्थियाँ (Mammary glands) होती हैं।

प्रश्न—यकृत तथा प्लीहा की रचना लिखिये। इन अंगों के कार्यों का निर्देश कीजिए।

उत्तर—**यकृत** (१९६३, ६५, ६८)

यकृत या जिगर (Liver) शरीर में सबसे बड़ी ग्रन्थि है। कोषाणुओं से संगठित छोटे व वृत्ताकार खण्डों में निर्मित यकृत के कोषाणुओं में कण तथा इनसे ओजःगार में छोटी-छोटी नलिकाएँ होती हैं। यकृत उदर में दाहिनी ओर स्थित है और नीचे की ओर पर्शुकाओं से दबा हुआ है। आकार में काफी बड़ी ऊपरी बाहरी भाग गोलाकार होता है। नीचे का किनारा तीक्ष्ण होता है। यकृत की आन्तरिक रचना कुछ विचित्र सी है। दो स्थानों से इसमें रक्त आता है। यकृत धमनी (Hepatic Artery) तथा प्रतिहारिणी शिरा (Portal vein) द्वारा क्रमशः शुद्ध, अशुद्ध रक्त आता है। परन्तु यकृत् से रक्त जाने का मार्ग एक ही होता है। सर्व-शरीर में संचार करते हुए रक्त में जो मल संचित होते है, वे इस प्रकार यकृत् में आते हैं।

कार्य (१९६५, १९७४)

यकृत् के प्रधान कार्य निम्नलिखित हैं—

१. पित्तोत्पत्ति कर उसे कर्म मे प्रविष्ट कराना
२. पित्तोत्पत्ति के लिए निर्जीव रक्त कणों का विनाश
३. मूत्रलवण का निर्माण

४. मूत्राम्ल निर्माण कार्य
५. अमोनिया लवणों का यूरिया में परिवर्तन
६. रक्त रंजक द्रव्योत्पत्ति (रक्त का निर्माण)
७. प्रतिस्कन्दित द्रव्य का निर्माण
८. मूत्रजन का निर्माण
९. अनेक विकारी ओषधों तथा जीवाण जन्य विषों का बहिरुत्सर्ग
१०. पर्याप्त ताप की उत्पत्ति

पित्त पहले अन्त:कोषाणवीय स्रोतों में जाने के बाद यकृतखण्डों के भीतर नलिकाओं में प्रविष्ट होता है। ये नलिकाएं यकृतीय पिंडों के सम्मिलन से बन कर—पित्तनलिका का निर्माण करती हैं। वाम दक्षिण यकृत् नलियों के मिलने से सामान्यपित्त नलिका बनती है, जो अग्न्याशय नलिका के साथ ग्रहणी में खुलती है। पित्त यकृत नलिका द्वारा सीधे ग्रहणी में प्रविष्ट होता है। पाचन न होने के समय पित्ताशय में संचित रहता है। पित्त सम्बन्धी कार्य के साथ ही यकृत् उस शर्करा से (जो शरीर को भोजन द्वारा मिलती है) ग्लायकोजन बनाता है। यह कार्य यकृत की शैलों द्वारा ही उत्पन्न होता है। यकृतीयशिरा आदि उस शर्करा को शरीर के तन्तुओं में ले जाती है, वहां इसे काम में लाया जाता है। ऐसा भी विचार किया जाता है। पित्तरंजक द्रव्यों का निर्माण करना इसका कर्म है। इस प्रकार यकृत् हमारे शरीर का आवश्यक उपांग है।

प्लीहा (१९६३, ६६, ६७)

रचना—हमारे शरीर में विभिन्न संस्थानों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक ग्रन्थि पायी जाती है। प्लीहा का भी ऊँचा स्थान है। कई प्रकार के रोगों में यह प्राय: बढ़ जाती है। प्लीहा (Spleen) स्पंजवत् है। आमाशय के वाम पार्श्व में स्थित एक कोमल स्थितिस्थापक सौत्रिक झिल्ली से आवृत है। वृक्क व अन्त्रियाँ भी इससे मिली रहती हैं। प्लीहा की लम्बाई लगभग ५ इंच भार लगभग ३ छटाँक तथा रंग बेंगनी है। इसके भीतर एक बढ़ा हुआ स्थान है। यही रक्त नलिकाओं का आवागमन द्वार है। प्लीहा में एक मोटी प्लैहिक धमनी (Splenic Artery) जाती है और शाखा प्रशाखाओं में बँटकर अन्दर के गुदे में पहुंचकर, केशिकाओं का रूप धारण करती है। प्लीहा में रक्त सैलो के संपर्क में आता है इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा स्थान नहीं जहाँ रक्त

और अंग का संपर्क हो जाया करता हो। प्लीहा की शिरा उक्त केशिकाओं से होकर वाहर निकल आती हैं। प्लीहा के सिकुड़ने से रक्त बाहर चला जाता है। प्लीहा इसका निर्माण नहीं करता।

कार्य

संक्षेपतः प्लीहा के मुख्य (ज्ञात) कार्य निम्नांकित हैं—

(१) प्लीहा में रक्तकण संचित रहते हैं। जरूरत के समय रक्त-संवहन में काम आ जाते हैं।

(२) इसमें श्वेतकणों (W. B. C.) का भी निर्माण होता रहता है। जो रक्त प्लीहा में शिरा द्वारा बाहर जाता है, उसमें धमनी-रक्त की अपेक्षा अधिक श्वेत कण रहते हैं, जिन दशाओं में रक्त के श्वेतकणों की संख्या बढ़ती है, उसमें प्लीहा के आकार मे वृद्धि पायी जाती है।

(३) रक्तकणों के निर्माण मे भी प्लीहा का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। मनुष्यों के लिए यह कार्य कुछ अनिश्चित सा है। पशुओं में कुछ प्रयोगों से लाल कण निर्माण सिद्ध हुआ है।

(४) इनके विनाश में भी प्लीहा का सहयोग होता है। अपना जीवन कार्य पूर्ण कर चुकने वाले लाल कणों को पूर्णतः नष्ट करती है। मलेरिया आदि रोगों में रोगों के जीवाणु द्वारा रक्त नष्ट जन्य वस्तुओं को प्लीहा अपने में संगृहीत कर लेती है। इन रोगों में प्लीहा बढ़ जाती है। रक्त कणों के विनाश के कारण इसमें स्नेह तथा लौह का अंश अधिक पाया जाता है।

(५) प्लीहा नत्रजन पदार्थो के आत्मीकरण, विशेषतः मूत्राम्ल मे भी योग देती है।

इस प्रकार प्लीहा या तिल्ली अनेक आवश्यक कर्मों में सहयोगी है।

प्रश्न—वातनाड़ी संस्थान में समाविष्ट प्रमुख अंगों का परिचय लिखिए।

उत्तर—वात की नाड़ी संस्थान (Nervous System) की महत्ता के विषय में सभी जानते हैं। यह मानव राज्य का संचालक तथा नियन्त्रक है। शरीर की सभी क्रियाओं की सूचना और आज्ञा यहीं से आती जाती रहती हैं। मनुष्य के जितने कर्म हैं, वे सभी नाड़ी संस्थान के अंगों का कार्य हो हैं, संसार के महान् कार्य मस्तिष्क द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। पशु भी अपने कार्यो के लिए मस्तिष्क पर निर्भर रहते है। वस्तुतः मनुष्य का जीवन ही एक

प्रकार से मस्तिष्क पर निर्भर करता है। अतः मस्तिष्क की शक्ति अपरिमित है।

क्षेत्र

नाड़ी संस्थान के मुख्यतः दो भाग होते हैं—

(१) मस्तिष्क-सौषुम्णिक संस्थान

(२) सांवेदनिक संस्थान

प्रथम मस्तिष्क सौषुम्णिक नाड़ी संस्थान में मस्तुलुंग पिंड (Brain) और सुषुम्णा (Spinal Cord) आ जाते हैं। इनसे संबद्ध नाड़ी आदि भी इसी के अन्तर्गत हैं। इसके पुनः दो उपभाग हो जाते हैं। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान (Central N. S.) तथा प्रांतीय नाड़ी संस्थान (Peripheral N. S)। अब द्वितीय—सांवेदनिक संस्थान स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल के अन्तर्गत आता है। इसके भी दो उपविभाग हो जाते हैं—सांवेदनिक (Sympathetic) तथा परिसांवेदनिक (Parasympathetic)

प्रश्न—मस्तिष्क, सुषुम्णा तथा तत्सम्बन्धित अंगों की रचना पूर्ण-रूपेण लिखिए।

मस्तिष्क (१९६७, ६८)

उत्तर—आठ अस्थियों से निर्मित कपाल में मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। मस्तिष्क अन्डाकर तथा पिलपिले धूसर वर्ण का दिखाई पड़ता है। इसमें गह्-राइयां तथा उभार है। प्रौढ़ मनुष्यों में इसका भार लगभग २०-२२ छटाँक तथा स्त्रियों में कुछ कम होता है। मस्तिष्क में वाह्य रूप में दृष्टिगोचर होने वाली गहराई को सीता (Primary Fissure) तथा उसके उभारों को चक्रांग (Lobes) कहा जाता है। एक सीता के बाद चक्रांग और चक्रांग के बाद सीता यह क्रम सारे मस्तिष्क में फैला रहता है।

शिर-कपाल के मस्तिष्क को बाहर निकालने से इनके प्रधानतः तीन भाग दिखाई पड़ते हैं—

१. अग्रिम मस्तुलुंग या मस्तिष्क

२. मध्यम मस्तुलुंग या मस्तिष्क

३. पश्चिम मस्तुलुंग या मस्तिष्क

(क) पश्चिम मस्तिष्क में सुषुम्णा शीर्षक (Pons) तथा धम्मिलक

(Cerebellum) आते हैं। सुषुम्णाशीर्षक (Medulla Oblongata) लगभग एक इन्च लम्बा मुकुलाकार है। यह ऊपर की ओर अधिक चौड़ा होता है। अग्रिमांतरा तथा पश्चिमांतरा सीमा के सुषुम्णाकांड के समान दो अर्ध भागों में विभक्त है। प्रत्येक अर्धभाग पुनः दो सीताओं द्वारा तीन विभागों में बंटा हुआ है। पूर्व का भाग (मुकुलिका—Pyramid) दो सीताओं के मध्य में स्थित है। यहाँ प्राणदा आदि तीन नाड़ियाँ निकलती हैं। इसके ऊपरी भाग में लवलिका (Olivary Body) नामक उभरा हुआ अंडाकार भाग है। ९, १०, ११वीं शीर्षण्य नाड़ियों के सूत्रों तथा पश्चिमांतरा सीता के वीच में रहता है। पश्चिम भाग का ऊपरी हिस्सा अर्धवृत्तिका (Restiform body) बनाता है। आगे चलकर यह धम्मिलक (Cerebellum) में प्रविष्ट हो जाती है।

उष्णीषक (Pons) पश्चिम मस्तिष्क का वह भाग, जो धम्मिलिक (Cerebelum) के आगे और सुषुम्णाशीर्षक व मस्तिष्कमृणलकों (Cerebral Penducles) मध्य स्थित है। वाहर की ओर वह उष्णीय कन्दिकाओं से उत्पन्न अनुप्रस्थ नाड़ी सूत्रों से बना है। प्रत्येक पार्श्व में ये सूत्र गुच्छे के रूप में आकर उसी पार्श्व के धम्मिलक (सेरीबेलम) में प्रविष्ट हो जाते हैं। इन सूत्रों के द्वारा मस्तिष्क के वहिर्वस्तु के विभिन्न भागों से नाड़ी वेग संचार होते रहने से यह धम्मिलक अंग मस्तिष्क के 'कन्ट्रोल, में रहता है।

धम्मिलक को लघुमस्तिष्क भी कहा जाता है। यह अंग मस्तिष्क के पृष्ठ भाग (करोटि के पश्चिम महाखात) के नीचे की ओर तथा सुषुम्ना शीर्षक के पीछे अवस्थित है। इसका पार्श्व भाग पक्षपिण्ड (Hemispheres) तथा मध्य भाग शलभिका (Vermis) कहाता है। उत्तर मध्य तथा अधर वृत्तिकाओं (Superior Middle Inferior Penduncles) मस्तिष्क के समान व सुषुम्णाशीर्षक से सम्पर्क रखता है। इसकी रचना प्रायः मस्तिष्क के समान ही होती है। लघु मस्तिष्क का ऊपरी भाग धूसर तथा अन्दर का गूदा श्वेत होता है। यहाँ भी सीताएँ हैं, पर वृहत मस्तिष्क की अपेक्षा कम गहरी है।

(ख) मध्य-मस्तिष्क वह भाग है जो आगे तथा पीछे के मस्तिष्कीय भागों को मिलाता है। यह सवसे छोटा अंग है इसके पार्श्वों से तीसरी, चौथी, पाँचवीं व छठी नाड़ियों का उद्गम होता है। इसके तीन भाग होते हैं पुंरः पाश्विक भाग, पश्चिम भाग, आभ्यंतर भाग। आंतरिक भाग में स्थित मस्तिष्क मृणालक

(सेरिब्रल रेडन्कलस) के अग्रिममांस (Crusta) मध्यमांस (Substantic Nigra) तथा पश्चिमवितान (Tegmentum)—तीन भाग हो जाते हैं। मध्यम मस्तिष्क के उक्त पश्चिम भाग में स्थित छोटी व वर्तुलाकार, परस्पर स्वस्तिकाकार सीता से विभक्त कलापिका चतुष्टय(Corporaquadrigemina) नामक अंग है।

(ग) अग्रिम मस्तिष्क या मस्तुलुंग पिन्ड (Cerebrum) है। वस्तुतः शास्त्रीय दृष्टिकोण से इस अग्रिम मस्तुलुंग पिण्ड को ही 'मस्तिष्क' नाम दिया गया है। इसके दो भाग किए जा सकते हैं—

(अ) मस्तिष्क गोलार्ध

(ब) मस्तिष्क मूलपिण्ड

इस द्वितीय विभाग मस्तिष्कमूलपिण्ड का प्रधान अवयव आज्ञाकन्द (Thalamus) है। यह अण्डे के समान ब्रह्मगुहा के दोनों ओर स्थित हैं। विकास के अनुसार यह मस्तिष्क के परिसरीय (Somatic) भाग से अतिप्राचीन है। निम्न श्रेणियों के प्राणी में संज्ञाधिष्ठान केन्द्रों के रूप में सक्रिय है। आज्ञा कन्द के मुख्य दो भाग हैं—केन्द्राकार भूमि (Lateral Part) और संवेदन भूमि। इसमें केन्द्राकार भूमि वाले भाग में 'पल्विनगर' स्थित है यहाँ द्रष्टिनाड़ी के सूत्र आते हैं और उनके अक्षतन्तु मस्तिष्क की पश्चिम पिण्डिका में जाते हैं। इसी भूमि में स्थित 'लेटरल न्यूक्लियस' सूत्रों से सम्बद्ध हो त्वचा से गंभीर संज्ञाओं का ग्रहण करता है। संवेदन भूमि नामक (Anteromedial Part) द्वितीय भाग में अग्रिम तथा आन्तरिक कन्दिकाओं का समावेश होता है। इस प्रकार आज्ञाकन्द (थेलामस के अलावा मस्तिष्क मूलपिण्ड अंग में राणिल पिण्ड आंतर-बाह्य कूर्च्च वल्लिका भी है।

मस्तिष्क मूलपिण्ड के बाद मस्तिष्क गोलार्ध का नम्बर आता है। मस्तिष्क अनुदीर्घ महासीता नामक खाई द्वारा विभक्त रहता है। इससे बने दो गोलार्ध मस्तिष्क सेतु (Cropus Callosum) नाम के सूत्रों के गुच्छे से बंधे (सम्बद्ध) रहते हैं। प्रत्येक गोलार्द्ध में स्थित त्रिपथगृह हैं। इन गोलाओं में भीतर की ओर शुभ्र वस्तु तथा बाहर की ओर धूसर वस्तु है। भीतर की ओर सूत्र तथा बाहर की ओर मस्तिष्क परिसर (Cerebral Cortex) स्थित रहते हैं।

मस्तिष्क के पिण्ड, सीता व वस्तु

मस्तिष्क का वहिर्भाग अनेक सीताओं (खाइयों) द्वारा विभिन्न पिण्डों में वँटा रहता है। इनका पृष्ठभाग ऊँचा-नीचा, टेढ़ा-मेढ़ा है। गर्भावस्था के बाद विकासक्रम में सीतायें स्पष्ट होने लगती हैं। इनका पृष्ठभाग जटिल होने लग-कर युवावस्था तक पूर्ण हो जाता है। सीताओं को प्राइमरी फिशर्स (Primary fissures) तथा उनसे निर्मित पिंड़ों को लोब्स (Lobes)। प्राइमरी फिशर्स की छोटी सीतायें (सेकेन्डरी फिशर्स) तथा पिंडों के उपविभाग कणिका हो जाती है।

(१) मस्तिष्क के तीन पृष्ठों(वाह्य, आंतर, अधर) में सीताओं की गणना इस प्रकार है। वाह्य पृष्ठ में शंखपर्श्वादन्तरा (Lateral Cerebral fissure) मध्यांतरा (Central fissure), पार्श्वपश्मिांतरा वाह्य, अधर पृष्ठ में प्रच्छन्न धानुषी सीता तथा आंतर पृष्ठ में अधिसेतुका वक्रांतरा, अवांतरा, सरलांतरा, पार्श्वपश्मिान्तरा आन्तरी सीतायें विद्यमान हैं।

(२) अब मस्तिष्क के पिंडों पर दृष्टि डालिए। उक्त सीताओं द्वारा मस्तिष्क इन पाँच-छः पिंडों में विभाजित होता है—

(१) अग्रिम पिंड—यह मध्यान्तरा सीता के सामने स्थित है।

(२) पार्श्विकपिंड—यह पार्श्वपश्चिमांतरा सीता तथा मध्यान्तरा के वाह्य भाग में वीच के स्थित है।

(३) शंखकपिंड—यह शंखपाश्वेतरा सीता के नीचे स्थित है।

(४) पश्चिमपिंड—यह पार्श्वपश्चिमाँतरा सीता के पीछे स्थिति पिंड है।

(५) प्रच्छन्नपिंडिका—यह मस्तिष्कपार्श्व में भींतर की ओर स्थित तथा प्रच्छन्नधानुपी सीता से सवेष्टित है।

(६) गर्भपिंडिका—ये पिंडिकायें मस्तिष्क सेतु भाग को आवेष्टित करती हैं। ये कुत्ते प्रभृति तीक्ष्ण गंध शक्ति युक्त जीवों में अधिक विकसित पाई जाती हैं।

(७) मस्तिष्क व सुषुम्णा का निर्माण दो प्रकार के पदार्थों से हुआ है। एक शुभ्रवस्तु (White Matter) और दूसरा धूसर वस्तु। इनका उल्लेख नाड़ी संस्थान में यत्र-तत्र पाया जाता है। अतः इनकी जानकारी महत्त्वपूर्ण है। मस्तिष्क को काटकर देखने से रंगों का प्रकटीकरण हो जाता है।

श्वेत वस्तु (ह्वाइट मैटर) सुषुम्णा के वाहरी भाग में रहता है। मस्तिष्क का भीतरी भाग इसी पदार्थ से निर्मित होता है। इसमें सूक्ष्म मेदस नाड़ी सूत्र तथा उसके साथ-साथ कुछ सामान्य संयोजकतन्तु रहते हैं। धूसर वस्तु (ग्रेमैटर में नाड़ी कोषाणु पाये जाते हैं। मस्तिष्क में ऊपर से यह धूसर वस्तु चढ़ी रहती है। यदि काफी गहरा छेदन किया जावे तो जहाँ-तहाँ श्वेत वस्तु के क्षेत्र में यत्र-तत्र धूसर वस्तु के केन्द्र मिलेंगे। ये केन्द्र नाड़ी मण्डल द्वीप केन्द्र (Nucleus) होते हैं। ये केन्द्र वृहत मस्तिष्क के नीचे की ओर रहते हैं।

सुषुम्णा (१९६८)

केन्द्रीय नाड़ी संस्थान में मस्तिष्क के वाद सुषुम्णा का नम्बर आता है। कपाल के भीतर ही लघु मस्तिष्क से सुषुम्णा के आरम्भिक भाग का उद्गम होता है। इसको ही मस्तिष्क विवेचन में बताया हुआ 'सुषुम्णा' (मेडुला आव-लेंगाटा) शीर्षक कहा जाता है। इस प्रकार स्थूल कमल नाल के आकार का लम्बा और गोलाकार सुषुम्णा शीर्षक से प्रारम्भ होकर करीव १८ इंच लम्बा दण्ड ही सुषुम्णा (Spinal cord) कहलाता है। इसका भाग कामेरुक नलिका या रीढ़ की हड्डी में पड़ा रहता है। सुषुम्णा वजन में लगभग आधी छटांक है। सुषुम्णा ऊपर की ओर करोटि के महाविवर से उदय होकर (निकल कर) कमर की द्वितीय कशेरुका तक जाता है। वहां पर पहुंच कर कोणाकार प्राप्त भाग में समाप्त हो जाता है, इसको सुषुम्णा मूलिका कहा जाता है। यहाँ से एक सूत्रवत् पतला भाग निकल कर या गावदुम होता हुआ अनुत्रिक तक जाता है। इससे मूलसूत्रिका नाम दिया गया है। यह २२ सैंटीमीटर लम्बा अग अनेक नाड़ी गुच्छों मे घिरता हुआ घोड़े की पूँछ की तरह हो जाता है। अतः इसे तुरंग पुच्छिका संज्ञा दी गई है। दूसरी कमर की कशेरुका तथा मूलसूत्रिका (फिलम् टर्मिनल) वरावर नामक एक आवरण के अन्दर रहती है। तदुपरांत अनुत्रिक तक विना खोल के ही अस्थ्यावरण से लगी होती है। इसके ऊपरी भाग को उत्तरामूलसूत्रिका तथा निम्न भाग को अधरा मूलसूत्रिका कहा जाता है। गर्दन व कमर के क्षेत्र में यह कुछ मोटा पाया जाता है। इस स्थूल भागों की क्रमशः अनुग्रीविका स्फीति अनुकटिका स्फीति नाम दिये हैं। ये प्रथम उभार या स्थूलता दूसरी छाती की कशेरुका तथा दूसरी मोटाई ९वीं छाती की कशेरुका से पूर्वोक्त सुषुम्णा मूलिका कानस मेड्यूलेरिस तक पाई जाती है।

सुषुम्णा काण्ड को आवृत करने वाले तीन बाह्य, मध्य और आभ्यन्तर आवरण हैं। इनको क्रमशः वराशिका (Durameter) नीशारिका (Arachnoid) चीनांशुक (piamater) नाम दिये गए हैं। ये आवेष्टन कुछ अवकाशों (Spaces) द्वारा अलग-अलग रहते हैं। इसमें लसीका मिलते हैं ब्रह्मोदककुल्या (Subarachnoid cavity) जो कि नीशारिका (अराक्नोइड) तथा चीनांशुक (पायामेटर) के बीच के रिक्त स्थान से बनी है, में प्रसिद्ध द्रव—ब्रह्मवारि (cerebrospinal fluid) भरा रहता है।

प्रसंगानुसार इस ब्रह्मवारि के महत्त्व को ध्यान में रहते हुए, उसका विशिष्ट परिचय आवश्यक प्रतीत होता है। यह द्रव सुषुम्णा काण्ड को चारों ओर से घेरे रहता है। मस्तिष्क की गुहाओं में, तत्सम्बद्ध रक्तवाहिनी आवरक कला से इसका स्राव होता है। इसका निर्माण इस तरह बताया गया है। मंजरिका (choroid plexus) का पृष्ठ आधी प्रविष्ट हो सकने वाली कला कार्य करता हुआ, प्रसरण की भौतिक प्रक्रिया से ब्रह्मवारि (सेरी ब्रोस्पाइनल फ्लुइड) बनता है। यह द्रव एक गन्धवर्णरहित पारदर्शक हलका क्षारीय और विशिष्ट गुरुत्व १·००७ वाला होता है। इसके रासायनिक संगठन के अनुसार ब्रह्मवारि जल ९८·०७ प्र० श० कोलेस्टरीन ०· प्र० श० तथा खनिज लवण, शर्करा प्रोटीन, यूरिया तथा कुछ लसीकाणु पाए जाते हैं। गुहाओं में इस द्रव का संवहन होता रहता है और इसका ४।५ भाग मस्तिष्क में चला जाता है, व १।५ भाग सुषुम्णा काण्ड में ही रहता है। एलब्यूमिन रहित अवस्था में इस द्रव का शिरासरिताओं के रक्तप्रवाह में शोषण हो जाता है। एलब्यूमिन की उपस्थिति से शोषण में बाधा होने के कारण विकृति के रूप में सचय आरम्भ हो जाता है।

सौषुम्णिक नाड़ियाँ (१९६८)

सुषुम्णा रीढ़ की हड्डी में स्थित रहती हुई, प्रत्येक दो कशेरुकाओं के बीच के स्थान से होकर दोनों ओर सौषुम्णिक नाड़ियाँ (Spinal Nerves) का उद्गम करती है। इस प्रकार सुषुम्णा काण्ड के अग्रिम व पश्चिम भाग से नाड़ीसूत्र निकलते हैं। पश्चिमी नाड़ी मूल में उभरे हुए ग्रंथिल भाग को नाड़ी गण्ड (Ganglion) नाम दिया है। इसके आगे जाकर अग्रिम व पश्चिमी मूल परस्पर मिल जाते हैं, जिससे सौषुम्णिक नाड़ियाँ बनती हैं। ये नाड़ियाँ

ग्रीवा में ८, पृष्ठ में १२, कटि में ५, त्रिक में ५ और अनुत्रिक में १—इस तरह ३१ जोड़ों पर उदय होती हैं।

मस्तिष्कीय नाड़ियाँ (१९६२)

इसी भांति मस्तिष्क से भी नाड़ियों के १२ जोड़े निकलकर विभिन्न अंगों को जाते हैं। नाड़ियाँ इस प्रकार हैं—नासानाड़ी, दृष्टिनाड़ी, नेत्रचालनी नाड़ी, नेत्र गति सहायक नाड़ी, मस्तिष्क की सबसे बड़ी नाड़ी, नेत्र संबंधित नाड़ी, मुख पेशी सम्बन्धित नाड़ी, श्रवण नाड़ी, जिह्वा व कण्ड प्रदेशीय पेशी सम्बन्धित नाड़ी, फुफ्फुस-हृदय आमाशयादि सम्बन्धित नाड़ी, ग्रीवा की कुछ पेशियों से सम्बन्धित नाड़ी और बारहवीं नाड़ी जिह्वा की पेशियों से संबन्धित होती है।

प्रश्न—वातानाड़ी संस्थानिक अंगों के कार्य बताइए। नाड़ी मण्डल की क्रिया पर प्रकाश डालिए। (१९६८)

उत्तर—नाड़ी संस्थान अपने अंगों द्वारा शरीर की विभिन्न क्रियाओं को सहयोगिता के आधार पर नियन्त्रित और संचालित करता है। ये क्रियाएँ शरीर में दो प्रकार की हैं—परिसरीय (Somatic) तथा आशयिक (splanchnic)। परिसरीय क्रियाओं के द्वारा प्राणी बाह्य वातावरण के सम्पर्क में रहता है और अपने को उसके अनुकूल बनाए रखता है। कार्य त्वचा पेशियों, सन्धियों तथा कण्डराओं में स्थित संज्ञावह प्रान्त भागों के द्वारा संपन्न होता रहता है। इन क्रियाओं का नियमन पूर्वोक्त मस्तिष्क-सौषुम्णिक संस्थान (सेरीब्रोस्पाइनल सिस्टम) से हुआ करता है। आशयिक क्रियाओं के वर्ग में शरीर की जीवनीय क्रियाएँ, जैसे रक्त संचालन श्वसन क्रिया, पाचन क्रिया तथा मलोत्सर्ग से सम्बद्ध कार्य आते हैं। इनका नियमन पूर्वोक्त सांवेदनिक संस्थान (सिम्पेथेटिक सिस्टम) से हुआ करता है।

मस्तिष्क के कार्य (१९६८)

हम पहले ही यह कह आये हैं कि मस्तिष्क की क्रियाएँ ही शरीर का संचालन कर रही हैं। मस्तिष्क के कार्य अनेक हैं। उसके कार्यों को स्थूलरूपेण निम्नांकित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) उत्तेजनाओं का ग्रहण।

(२) ज्ञान का संचय व वर्तमान उत्तेजनाओं से सम्बन्ध-स्थापन।

(३) चेष्टा का उत्पादन।

इस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क बाह्य वातावरण से उत्पन्न संज्ञाओं का ग्रहण कर तदनुकूल चेष्टाओं को उत्पन्न करता है। मस्तिष्क बुद्धि तथा जाग्रत संवेदनाओं का केन्द्र स्थान होता है क्योंकि सभी केन्द्रों तथा उनके मिलने वाले सूत्रों की क्रिया का परिणाम बुद्धि कहलाता है।

मस्तिष्क परिसर (सेरेब्रल कोर्टेक्स) की धूसर-वस्तु पांच स्तरों की होती है। संक्षेपतः यह स्थान इच्छा, स्मृति, भावना उच्च मानसिक क्रियाओं का अधिष्ठान होता है। यही नहीं, ज्ञानेंद्रियों का चरम अधिष्ठान तथा इन उच्च रूप की मानसिक कर्मों के क्रम में उद्भूत जटिल नाड़ी क्रियाओं का स्थान भी वही धूसर भूमि होती है। उदाहरणतः देखना चाहिये कि बालकों में मस्तिष्क परिसरीय धूसर वस्तु (ग्रेमेटर) के विकास के साथ ही उनकी मानसिक शक्ति का विकास होता है। बुढ़ापे में इस वस्तु की कमी से मानस शक्ति में कमी आने लगती है। मस्तिष्क परिसर के निष्कासन से बुद्धि, संज्ञा आदि क्रियाएं समाप्त हो जातीं हैं।

मस्तिष्क के केन्द्र व क्षेत्रों का कुछ परिचय प्राप्त करना यहां आवश्यक है। मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्र व क्षेत्रों द्वारा भिन्न-भिन्न क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं, अतः उनका वहीं अधिष्ठान हुआ करता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्र मस्तिष्क के किस भाग में स्थित हैं, इसको निश्चित करने के लिए अनेक विधियाँ (Methods) प्रयुक्त किये जाते हैं।

(१) क्रियाशरीर विधि

(२) नैदानिक व वैकारिक विधि

(३) रचना शरीर विधि

(४) गर्भ विज्ञान विधि

(५) विकृत शरीर विधि

(६) तुलनात्मक शरीर विधि

(१) प्रथम, चेष्टा-क्षेत्र चेष्टा का अधिष्ठान होता है। इसके मध्यान्तरा अग्रिम कर्णिका (precentral gyrus) क्षेत्र तो पूर्णतः चेष्टा का अधिष्ठान होता है। इसका अन्तःपृष्ठ भी चेष्टा क्षेत्र रहता है। इस क्षेत्र से ऊर्ध्वशाखा

अधोशाखा, धड़, तथा शिर के लिए पृथक् पृथक् केन्द्र, हैं। पैरों का केन्द्र सबसे ऊपर की ओर, फिर, नीचे धड़ का केन्द्र, इससे नीचे दूसरे १।३ भाग में सिर व ग्रीवा के स्थित हैं।

द्वितीय, अग्रिम दृष्टि (Frontal eye area) नेत्र गोलकों को गति देते हैं। इसका अधिष्ठान मध्यमा अग्रपिंड कर्णिका (Middle irontal convolation) है। यहाँ ३, ४, ६वीं शीर्षण्य नाड़ियों (Cranial nerves) के नाड़ी केन्द्रों में उत्तेजना पहुंचती है। इनसे नेत्र-गोलकों की गति सहयोगिता से सम्पन्न हुआ करती है।

तृतीय वाक् क्षेत्र या 'ब्रोका कार्क्षेत्र' (Motor speech area) होता है। यह केवल बाईं तरफ रहता है। इस से वाणि प्रक्रिया वाली पेशियाँ सम्बद्ध हैं। जब यहाँ विकृति आ जाती है तो इन वाक् सम्बन्धी पेशियों का उपयोग चबाने आदि में होने लगता है। अतः यह क्षेत्र जीभ, ओष्ठ, स्वरयन्त्रस्थ गतियों पर नियन्त्रण रखता हुआ संचालन रत रहता है।

संज्ञाक्षेत्रों (Sensory areas) का निरुपण उत्तेजना या पृथक्करण से हुआ करता है। इनको उत्तेजित करने से तद्विषयक अनुभूति तथा उससे उत्पन्न प्रत्यावर्तित क्रिया (रिफ्लेक्स एक्शन) होता है। उदाहरणतः श्रुति-क्षेत्र को उत्तेजित करने से कानों की सुई चुभन की तरह पीड़ा तथा सन-सनाहट प्रारम्भ हो जाती है। नेत्र, कर्ण आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अलग-अलग क्षेत्र यहाँ हैं। जिनमें बहुधा शरीर के विपरीत पार्श्व से संज्ञायें आया करती हैं। संज्ञाक्षेत्र के दो विभाग भी कर दिये गये हैं। सामान्य संज्ञाओं को इसके करने वाली भूमि को संज्ञादनाभूमि (Sensory receptive areas) तथा इसके विशिष्ट प्रकारों के सूक्ष्म विवेचन वाली भूमि को संज्ञाविवेक भूमि (Sensory psychic area) नाम दिया गया है। उत्तेजित करने से वस्तुतः संज्ञाक्षेत्रों से गति नहीं होती। संज्ञाक्षेत्रों के उनके कार्यो के अनुसार भी पाँच वर्ग बना दिये गये हैं।

स्पर्श संज्ञा (Tactileor Body sense area) मध्यान्तरा पश्चिम कर्णिका में स्थित है। पश्चिमकर्णिका (पोस्टीरीयर पार्ट) के पूर्वार्ध में आदान-भूमि (रिसेप्टिव एरिया) यथा पीछे की ओर विवेकभूमि (फिजक एरिया) है। यहाँ शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि स्पर्शन के विशिष्ट भेदों का विश्लेपण होता है। यही हाथ, पैरों, धड़, सिर व ग्रीवा के संज्ञाक्षेत्र हैं।

शब्द संज्ञाक्षेत्र (Audietory area) शांखिक कणिकाओं में स्थित होता है। इससे ऊपरी तरफ स्थित 'वर्निक का क्षेत्र' में सुने तथा बोले गये शब्दों के स्मृति चित्र इकट्ठे रहते हैं। यहाँ सामान्य संज्ञा के ग्रहण के साथ विशिष्ट प्रकारों की भी पहिचान होती है। यहाँ मध्य में एक चित्र क्षेत्र (Audito-word area) भी होता है। यहाँ शब्दों के चित्र संचित रहते हैं।

कुत्ते आदि तीक्ष्ण गंध युक्त जीवों में रस-गन्ध संज्ञा क्षेत्र (Taste smell area) अधिक विकसित मिलता है। इसके पृष्ठ भाग में भूख व प्यास के संज्ञाक्षेत्र पाये जाते हैं।

रूपसंज्ञा क्षेत्र (Visual area) मस्तिष्क के पश्चिम पिंड के अन्त:पृष्ठ में स्थित हैं। इससे प्राणी वस्तु को पहिचानता है। यहाँ पश्चिम-पिंड के पास ही एक भाग में शब्द दर्शन क्षेत्र (Visuo word centre) स्थित है। इसमें लिखे या छपे हुए अक्षरों के स्मृति चित्र संचित रहते हैं यह भी महत्त्वपूर्ण बात है।

(३) पूर्वोक्त चेष्टा तथा संज्ञा के क्षेत्र या अधिष्ठान मनुष्य के मस्तिष्क में थोड़े भाग ही सीमित हैं। इनके चारों ओर सूत्रों व नाड़ी कोषाणुओं से निर्मित संयुक्त क्षेत्र (Association areas) रहते हैं। इन क्षेत्रों में ध्यान आलोचना, स्मरण प्रभृति उच्चस्तर मानसिक क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

लघुमस्तिष्क के कार्य (१९६८)

मस्तिष्क के सामान्य प्रकारण कर्मों का सम्यक् अवलोकन के पश्चात् विशेषत: लघुमस्तिष्क के कार्यों पर दृष्टि डालना है। काफी समय तक इनके कार्यों को ठीक प्रकार न जाना जा सका। तत्पश्चात् फ्लाउरेन्स नामक वैज्ञानिक ने बताया कि लघुमस्तिष्क का मुख्य कार्य शरीर की गति को ठीक रखना है। भिन्न-भिन्न पेशियों से उचित समय पर उस प्रकार काम करना, जिससे गति नियन्त्रण ठीक होता जावे, ये कार्य इसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इसकी विकृत से पैर लड़खड़ाना, हाथ से कोई वस्तु ठीक न पकड़ी जा सकना आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सारे मस्तिष्क की तरह यहाँ भी एक बड़ा मुख्य केन्द्र होता है तथा उसके नीचे गौण केन्द्र होते हैं। कार्य करने में छोटे केन्द्र, मुख्य केन्द्र की सहायता करते हैं। इसको अपना कार्य करने में चर्म, नेत्र, पेशी संधि व विशेषत: कर्ण के आन्तरिक भाग से पर्याप्त सहायता मिलती है। इन अंगों से प्रेषित सूचनाओं के अनुसार गति का ज्ञान होकर, उसी के अनुसार वह उचित मांस पेशियों का कार्य करने की आज्ञा देता है।

लघुमस्तिष्क की क्रियाओं का ज्ञान करने के लिए दो विधियों का प्रयोग किया जाता है। उत्तेजना की क्रिया तथा दूसरी विनाश की क्रिया। यदि किसी पक्षी में इस अंग का विनाश कर दिया जावे तो वह ठीक उड़ न सकेगा। वीर मिचेल नामक वैज्ञानिक के अनुसार लघुमस्ष्तिक या धम्मिलक (मेरी वेलम शरीर को ठीक सन्तुलन प्रदान करने के ध्येय से पेशियों में वल व शक्ति देता है।.लुसियानी वैज्ञानिक के अनुसार धम्मिलक को पृथक् कर देने से गति-सम्बन्धी विकार केवल क्षणिक होते हैं। अतः उनके मतानुसार लघुमस्ष्तिक के तीन कार्य हैं—पेशी संकोच को बनाये रखना (Tonic function) कार्य के समय पेशी को को दृढ़ रखना (Static function) तथा कार्य के समय पेशी को शक्तिशाली बनाये रखना (Sthenic function)। यदि कबूतर के शरीर में से लघुमस्ष्तिक निकाल दिया जावे, तो देखा गया है कि वह ठीक बैठ भी नहीं सकता।

सुषुम्णा के कार्य

सिर व मस्तुलुंग नाड़ियों के बारह जोड़े शीर्षण्य नाड़ियों (क्रेनियल नर्व्स) निकलते हैं। सुषुम्णा में तीन प्रकार के सूत्र होते हैं। संयोजक सूत्र सुषुम्णा के भिन्न-भिन्न अंगों को आपस में संयुक्त करता है। दूसरे संचालक सूत्र मस्तिष्क से सुषुम्णा में आकर अन्त में पूर्वमूल द्वारा नाड़ी में चले जाते हैं। तीसरे सांवेदनिक सूत्र अंगों तथा चर्म से आकर पाश्चात्य मूल द्वारा सुषुम्णा के भीतर होते हुए मस्तिष्क को जाते हैं। सुषुम्णा में शुभ्र वस्तु से संज्ञा व चेष्टा के वेगों का संवहन और धूसरवस्तु से प्रत्यावर्तित कियाओं का सचालन होता है।

सुषुम्णा में आने वाले बाह्य, गंभीर तथा वेग आशयिक तीन प्रकार के होते हैं। संज्ञावेगों को लाने वाले सूत्र पश्चिम मूलों के द्वारा सुषुम्णा में होकर सौषुम्णिक नाड़ियों से एकदम मिल जाया करते हैं। चेष्टा वेगों (Motor Impulse) का संवहन करके सुषुम्णा कांड शरीर की पेशियों और आशयों की क्रियाओं का नियमन व नियन्त्रण किया करता है। मस्तिष्क के संवहन सुषुम्णा से होता है। सुःख-दुःख, ताप, शीत, उष्ण पीड़ा आदि का आभ्यन्तर भाग तथा लघु मस्तिष्क (धम्मिलक) में उत्पन्न कुछ वेगों का

संवहन विभिन्न मार्गों से सुषुम्णा में होता रहता है। ३१ सौषुम्णिक नाड़ियों के जोड़े निकलकर सारे शरीर को जाते हैं।

प्रत्यावर्तित क्रिया

जब कभी क्रियाएं विशेष विचार के बिना होती हैं तो वे सभी कार्य प्रत्यावर्तित क्रियाएँ (Reflex action) कहलाते है। अतः प्रत्यावर्ति क्रिया एक ऐसी क्रिया है, जो संज्ञावह नाड़ी के क्षोभ से उत्पन्न होती हैं। संज्ञावह नाड़ियों के प्रान्त भाग में वेग उत्पन्न होकर सुषुम्णा कांड में पहुंचते हैं, जो प्रत्यावर्तन केन्द्र के समान कार्य कर इन वेगों को चेष्टावह नाड़ियों में भेज कर प्रान्तीय भाग में शीघ्र क्रिया उत्पन्न करते हैं। इस क्रिया की विशेषता है कि मस्तिष्क परिसर से इसका कोई सम्बध नहीं होता। संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना अनैच्छिक रूप में उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रत्यावर्तित क्रिया में विचार से सम्बन्ध नहीं होता।

हमारे दैनिक जीवन में ऐसी क्रियाओं के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। किसी के तलवे को खुजलाया जाए तो पांव की उंगलियों की पेशियाँ क्रिया करने लगती हैं। इसी तरह स्वादु भोजन को सूंघकर मुंह से पानी आ जाना, गुदगुदाने से-अंग मे गति हो जाना आदि ऐसी क्रियाओं में समाविष्ट हैं।

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल

मस्तिष्क, सुषुम्णा आदि सम्पूर्ण नाड़ी संस्थान (नर्वस सिस्टम) के प्रथम स्थूल विभाग मस्तिष्क-सौषुम्णिक संस्थान के अन्तर्गत बताये थे। अब द्वितीय विभाग स्वतंत्र नाड़ी मण्डल (ओटोमैटिक) पर प्रकाश डालेंगे।

स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल, सांवेदनिक नाड़ी संस्थान तथा परिसांवेदनिक नाड़ी संस्थान दो भागों में विभक्त होकर अपना कार्य सम्पन्न किया करता है। वस्तुतः यह मण्डल नाड़ी संस्थान का वह भाग है, जो सभी स्वतन्त्र पेशियों और स्रावों का नियन्त्रण करता है। यथा— हृदय का संकोच, आमाशय की गति आदि।

(१) सांवेदनिक संस्थान (सिम्पैथैटिक सिस्टम) वक्ष व कटिप्रदेश में स्थित है। उस स्थान में तीन प्रकार के नाड़ीगण्ड (गेण्डगेलिया), संज्ञावह व चेष्टावह नाड़ियाँ—तीन भाग मिलकर कार्य किया करते हैं। सांवेदनिक कर्म ग्रैवेयक

वक्षीय, उदर्य—क्रमशः गर्दन, छाती उदर में कार्यकारी में नाड़ी सूत्र शाखाओं का वितरण करते हैं। सारांशतः उसके ये कार्य होते हैं—पुतला का विकास, स्वेद का स्राव, रोमांच त्वचा की रक्तवाहिनियों का संकोचन, चुल्लिका ग्रन्थि का स्राव, हृदय का वेग वर्धन, ब्लेडप्रेशर की वृद्धि, क्लोमाशाखाओं का विस्तार, हृदय की नाड़ियों का विकास, महास्रोतम् की कपाटिकाओं को अवरुद्ध करना, पाक क्रिया को शिथिल करना तथा बस्ति का शिथिलीकरण। इसके लिए विभिन्न अंगों में अनेक सूत्र पहुँचते हैं।

(२) परिसांवेदनिक संस्थान (पेरासिम्पैथैटिक सिस्टम) के नाड़ी सूत्र ३, ७, ६, १०वीं ११वीं शीर्षण्य नाड़ियों में तथा २, ६ व ४थी सुषुम्णा के त्रिरकास्थि के अन्तर्भाग से निकली—नाड़ियों में स्थित हैं। इनके अतिरिक्त आन्त्रों, हृदय, वस्ति तथा आभ्यन्तर अंगी में नाड़ीकन्द होते हैं। इनसे निकले सूत्रचक्र के समान शरीर में व्याप्त हैं। परिसांवेदनिक संस्थान के त्रिकीय (सेक्रल) सूत्र श्रोणिगुहागत आशयों से सम्बन्ध नाड़ियों के साथ जाते हैं। नाड़ीगंड वस्ति के मूल भाग में स्थित चक्र में रहते हैं। शीर्षण्य (क्रेनियल) भाग के सूत्र भी अनेक नाड़ियों के साथ जाकर अपने स्थानों पर पहुच जाते हैं। प्रत्येक ऐच्छिक क्रिया करने वाले अंग में परिसांवेदनिक सूत्र उपस्थित रहते हैं। सांवेदनिक भी रहते हैं परिस्थिति के अनुसार उत्तेजित होकर उन अंगों से समुचित कर्म कराते हैं। परिसांवेदनिक संस्थान द्वारा सांवेदनिक संस्थान के विपरीत यथा पुतली का संकोच, हृदय का मन्दीकरण आदि—कर्म हैं।

अन्तर्ग्रन्थि संस्थान

ग्रन्थि वह अवयव हैं, जिसके कोष किसी प्रकार का विशिष्ट प्रायः तरल रस उत्पन्न करके रस, रक्त, मत्रस्रोत, मूत्राशय, त्वचा आदि में छोड़ते हैं, जिसका सम्बंध वाहरी वातावरण से रहता है। इसके कई उदाहरण हैं—यकृत् पित्त को उत्पन्न करता है व स्वेद ग्रंथियाँ स्वेद उत्पन्न करती हैं। ग्रंथियों के प्रकार उनके स्राववाही स्रोतों के आधार पर किए जाते हैं।

(क) वहिर्ग्रन्थि—लालास्राव, स्तनग्रन्थि आमाशय, ग्रन्थियां अग्न्याशय आदि ग्रन्थियों में उत्पन्न स्राव को वहन करने के लिए पृथक् नलिका होती है।

(ख) अन्तर्ग्रंथि अधिवृक्क, चुल्लिका आदि ग्रंथियों में स्राव वहन करने के लिए स्रोत नहीं होते हैं। इनको निःस्रोत ग्रन्थि तथा इनसे निकलने वाले स्राव को हार्मोन कहते हैं।

(ग) उभयतः स्रावी ग्रंथि दोनों प्रकार के स्राव करने वाली ग्रंथियों में यकृति, वृषण ग्रंथि आदि उदाहरण हैं।

इस प्रकार अन्तःस्रावी या अन्तर्ग्रंथियां मुख्य रूप से ये हैं—चुल्लिका, परि चुल्लिका, थायमस, अधिवक्क, अग्न्याशय, बीजग्रंथियां, अपरा आमाशय तथा क्षुद्रान्त। इनमें से कई ग्रन्थियों का उल्लेख यथास्थान किया चुका है तथा शेष का वर्णन आगे मिलेगा। अन्तर्ग्रन्थियों का मानव शरीर में बहुत महत्त्व है। किसी ग्रंथि को शरीर से निकाल देने पर उसकी अनुपस्थित से होने वाली क्रिया से ग्रन्थि के कार्य का अध्ययन वैज्ञानिक करते हैं। ग्रंथियों को आजकल विभिन्न रूपों में मानव कल्याण के लिए प्रयोग किया जाता है। अन्तःस्रावों से ग्रंथियां प्राकृत रूप में शरीर में रहकर स्वास्थ्य रक्षा, पुष्टि व नाड़ी संस्थान का नियन्त्रण (सहायक) करती हैं।

चुल्लिका ग्रन्थि

यह गले में श्वासपथ के ऊपरी भाग में दो खण्डों युक्त स्थित रहती है। लगभग तीन माशे भार की ग्रंथिसुषिर धातु से निर्मित एक थैली, जिसमें पिच्छिल द्रव्य भरा रहता है, में बन्द रहती है। इसका अन्तःस्राव थाराक्सिन है। इस चुल्लिका ग्रंथि (थायराइड) के तीन कार्य हैं—धातुपाक के दर का नियंत्रण, शरीर का पोषण करना। यह ग्रंथि विकृत हो जाये तो बच्चों की वृद्धि रुक जाती है। शरीर की पूर्ण वृद्धि के बाद या ग्रंथ के निकल जाने पर एक इसी तरह का रोग हो जाता है। ग्रंथि का स्राव अत्यन्त क्रियाशील हो जाने पर इसका प्रकोप होता है और नाड़ी संस्थान में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। पहले ही बताया जा चुका है कि इस ग्रंथि से थायरक्सिन नामक अंतःस्राव निकलता है। चुल्लिका ग्रंथि की वृद्धि गलगण्ड रोग में हो जाती है।

परिचुल्लिका ग्रंथि

ये २-४ छोटी ग्रंथियाँ चुल्लिका ग्रंथि के समीप रहती हैं। इनका मुख्य कर्म रक्तादि धातुओं के तरल भाग में कैलशियम के आयनी अणु के रूप में की समता बनाए रखना है। इससे मांस व नाड़ी धातु के कर्मों की समता का

भी नियन्त्रण होता है। इस ग्रंथि को शरीर से निकाल देने पर नाड़ी मांस स्थान क्षुभित होकर कई प्रकार की आक्षेप सम्बन्धी विकृतियाँ हो जाती हैं। परिचुल्लिका का ग्रंथि का प्रकोप या अन्तःस्राव की मात्रा बढ जाने पर अवसाद जैसी अवस्था होने लगती है।

अधिवृक्क ग्रंथि

यह अधिवृक्क ग्रन्थियाँ दोनों वृक्कों पर टोपी की तरह लगी होती हैं। ग्रन्थि के बीच के भाग को अधिवृक्क मध्य तथा उसके आवरण को अधिवृक्क वल्क कहते हैं। इससे अन्तःस्राव निकलता है। संक्षेप में, अकस्मात् या पड़ने वाला भय, वीरता आदि शारीरिक चेष्टाओं के लिए यह मध्यस्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का उद्दीपन करता है। इसके कर्मो का विशद व सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। इन ग्रन्थियों को शरीर से निकाल देने पर मांस पेशों के कर्मो में बाधा, क्षुधानाश आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस ग्रन्थि के स्राव एड्रीनिलीन का प्रयोग चिक्सिा में बहुत हो रहा है।

वृषण ग्रंथि (१९६५)

वृषण ग्रन्थियाँ पुरुषों में होती हैं और उनसे अंतःशुक्र नामक स्राव निकलता है। इससे पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अंतःशुक्र से जननांगों की पुष्टि, इनके स्वाभाविक कर्मो की सुरक्षा तथा दाढ़ी, मूंछ आदि का उत्पन्न करना मुख्य कर्म सम्पन्न होते हैं। षण्ढीकरण में पुरुष को सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य (Sterile तथा Varectomy आजकल प्रचालित हैं) बनाते हैं। तरुण अवस्था में वृषणों में पुंबीज परिपक्व होते हैं और बालों का उगना, स्वर गंभीरता आदि लक्षण होने लगते हैं। पशु-पक्षियों में षण्ढीकरण हो जाने पर स्पष्ट परिणाम दिखाई पड़ते हैं। अन्तःशुक्रों के प्रभाव से ही शारीरिक मानसिक चिह्न पोषणिका ग्रन्थि के अग्रिम खण्ड के दो अन्तःस्रावों पर निर्भर हो अग्रिम खण्ड निकाल देने पर कामवासना नष्ट हो जाना आदि लक्षण हो जाते हैं। इस खंड में वृषण ग्रंथि के अन्तःस्राव निकलते हैं।

अन्तःफल ग्रंथि

इसमें भी वहिः तथा अतःस्रावों का क्षरण होता है। यह स्त्री बीज है। अन्तःफल से अन्तस्रावों का मुख्य कर्म धारण करने के लिये गर्भाशय को तैयार

करना तथा बिना गर्भ की स्थिति में आर्तव का स्राव कराना है। तरुण अवस्था में चिन्ह स्पष्ट होने लगते हैं। स्त्री बीज तथा पुंबीज से गर्भधारण की क्रिया का वर्णन यथास्थान हुआ है। आम अवस्था में स्त्री बीज के कोषों के आवरण बीजपुट होता है। बीजपुट के अन्तःस्राव को इस्ट्रिन तथा बीजपुट किण के अन्तःस्राव को प्रोजेस्टिरोन होता है। इससे गर्भधारण—पोषण होता है। अन्तःफल के अग्रिम खंड को नष्ट कर देने पर जननांग समाप्त हो जाते हैं तथा काम-वासना भी लोप हो जाती है।

पोषणिका ग्रंथि

यह दो अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के समूह रूप ग्रंथि आज्ञाकन्द के नीचे एक वज्र पर लगी रहती है। इसके अग्रिम तथा पश्चिम दो मुख्य खंड होते हैं। ग्रन्थि स्राव अन्य अन्तःग्रंथियों के स्रावों का प्रेरणा करते हैं, अतः इसको बड़ी ग्रन्थि भी कह देते हैं।

इस ग्रंथि के अग्रिम खंड से कई अन्तःस्राव निकलते हैं—वृद्धिकारक, बीज-ग्रंथि प्रवर्तक दुग्धवर्तक चुल्लिका प्रवर्तक आदि अन्तःस्राव। पश्चिम खंड से पिच्यूट्रीन नामक अन्तस्राव निकलता है, जो प्रसव के समय गर्भाशय के संकोच-नार्थ चिकित्सा विज्ञान में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस खंड से रक्त भार वर्धक मूत्रसंग्रहणीय, गर्भ प्रवर्तक अन्तःस्राव आदि निकलते हैं।

पोषणिका का नियंत्रण प्रतिसंक्रमिन क्रिया के रूप में होता। प्राणदा-नाड़ी सिरे को उत्तेजित करने से रक्त में पोषणिका ग्रंथि स्राव प्रकट होने लगते हैं। सम्भवतः काम संबंधी भावों से ग्रन्थि क्रिया में बढ़ोतरी हुआ करती है। ग्रंथि के प्रकोप-क्षय से कई प्रकार की विकृतियाँ हो जाती हैं। गर्भ के धारण-पोषण पर अन्तःस्राव का प्रभाव पड़ता है। अन्तःस्राव विभिन्न प्रकार से अस्थि-रोगों से सम्बन्ध रखता है। अकाल में बुढ़ापा तथा कुशिंगस डिसीज अग्रिम खंड के नाश तथा कुछ कोषों की क्रिया में वृद्धि हो जाने से क्रमशः उत्पन्न होते हैं। पोषणिका की विकृति कृच्छसाध्य मानी गयी है।

प्रश्न—मर्म की परिभाषा, संख्या तथा उनका परिचय लिखिए।

परिभाषा तथा महत्त्व

उत्तर—मर्मों का विषय अति महत्त्वपूर्ण है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और संधि जिन स्थानों पर मिलते हैं, उन्हें मर्म

स्थान कहते हैं, विशेष रूप से अग्नादिक प्राण स्वभाव से ही इनमें रहते हैं। अर्थात् एक शिरा के साथ दूसरी शिरा के मिलने का स्थान, एक स्नायु के साथ अन्य स्नायु के मिलने का स्थान आदि इसी प्रकार संयोगस्थल मर्म कहलाते हैं। इसी कारण मर्म स्थानों में चोट लगने से इन्द्रियविषयों में असंप्राप्ति, मन और बुद्धि की विपरीतता पैदा हो जाती हैं। अथवा भ्रम, प्रलाप, पतन, मोह आदि उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त, कफ व रक्त इनके वहने वाली चारों प्रकार की शिरा प्रायः सम्पूर्ण मर्मों में लिपटी हुई हैं और इसी से स्नायु, अस्थि, मांस व सन्धि इन चारों की तृप्ति करती हुई शरीर का पोषण करती है। इन सब मर्मों का ज्ञान चिकित्सक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शस्त्र कर्मादि करते समय इन मर्मों को बचाना चाहिए। मर्म-स्थान में यदि चीरफाड़ की जावेगी तो रोगी की मृत्यु हो जाना सम्भव है।

संख्या

शरीर में पाये जाने वाले १०७ मर्मों को निम्नलिखित पांच भागों बांट दिया गया है।

(१) मांस मर्म	—	११
(२) शिरा मर्म	—	४१
(३) स्नायु मर्म	—	२७
(४) अस्थि मर्म	—	८
(५) संधि मर्म	—	२०

(१) तलहृदय, इन्द्रवस्ति, गुदा, स्तन रोहित—मांस मर्म है। चार तल-हृदय में, चार इन्द्रवस्ति में, एक गुदा में तथा दो स्तन में—इस तरह मांस मर्म हैं।

(२) नील, धमनी, मातृका, शृंगाटक, अपांग, स्थपनी, कण, स्तनमूल, अपलाप, अपस्तंभ, हृदय, नाभि, पार्श्व, सन्धि, वृहती, लोहिताक्ष तथा उर्वी शिरा मर्म है। चार धमनी, आठ मातृका, चार शृंगाटक, दो अपांग, एक स्थापनी, दो कान, दो स्तन मूल, दो अपस्तम्भ, दो अवलाप, एक हृदय, एक नाभि, दो पार्श्व सन्धि, दो वृहती, चार लोहिताक्ष, तथा चार उर्वी—इस तरह ४१ मर्म शिरा मर्म संज्ञा वाले हैं।

(३) आणि, विटप, कक्षधर, कूर्च, कुर्चशिर, वस्ति, क्षिप्र, अंस, विधुर

तथा उत्क्षेप स्नायु मर्म है। चार आणि, दो विटप, दो कक्षधर, चार कूर्च, चार कूर्च शिर, एक वस्ति, चार क्षिप्र, दो अंस, दो विधुर तथा दो उत्क्षेप—इस तरह २७ स्नायु मर्म हैं।

(४) कटीक, तरुण, नितम्ब, अंसफलक तथा शंख अस्थि के मर्म हैं। दो कटीक, तरुण, दो नितम्ब, दो अंसफलक तथा शंख—इस तरह ८ अस्थि मर्म होते हैं।

(५) अब अन्तिम सन्धि मर्मों का वर्ग है। जानु, कर्पूर, सीमन्त, अधिपति, गुल्फ, मणिवन्ध, मकुन्दर, आवर्त्त तथा कृकाटिका सन्धि मर्म होते हैं। दो जानु, दो कोहनी, पांच सीमन्त, एक अधिपति, दो गुल्फ, दो मणिवन्ध, दो कुकुन्दर, दो आवर्त तथा दो कृकाटक—इस तरह से २० सन्धि में मर्म जानना चाहिए।

मर्मों के प्रकारान्तर (१९६३)

मर्मों के लक्षण या परिणामात्मक दृष्टि से भी पांच भेद किए गये हैं।

(१) सद्यःप्राणहर मर्म	—	१९
(२) कालान्तरप्राणहर मर्म	—	३३
(३) विशल्यघ्न मर्म	—	३
(४) वैकल्यकर	—	४४
(५) रुजाकर मर्म	—	८

(१) जिन मर्म स्थानों में चोट लगने से शीघ्र प्राणनाश हो जाता है, वे सद्यःप्राणहर मर्म के समूह में शामिल किये गये हैं। इसके अन्तर्गत आने वाले मर्म इस प्रकार हैं।

शृंगाटक—मस्तक के मध्य में जिन चार स्थानों में नाक, कान, नेत्र, जीभ को सन्तर्पण करने वाली शिराओं का मुख एकत्र होकर मिलता है, उन्हीं चार स्थानों को शृंगाटक मर्म की संज्ञा दी गई है। ये शिरा सम्बन्धी मर्म हैं और संख्या में चार हैं। चोट लगने पर ये शीघ्र प्राणों को हरने वाले होते हैं।

अधिपति मर्म—मस्तक के भीतर शिरा सम्बन्धी सन्धियों का जो संयोग स्थान है, उसके ऊपर व वाहर रोमावर्त (भौंरी या भौंरा वालों का) है। यह अधिपति मर्म है। यह सन्धि सम्बन्धी मर्म संख्या में चार हैं। इसका प्रमाण आधा अंगुल है और चोट लगने से शीघ्र प्राण नाश करना है।

कण्ठशिरा (शिरामातृका) मर्म—ग्रीवा के दोनों बगल में चार-चार शिरायें हैं, जो कि सब मिलकर ८ है। ये शिरा सम्बन्धी मर्म हैं। ८ अंगुल का यह मर्म शीघ्र प्राणनाशक है।

गुदा मर्म—गुदा तो प्रसिद्ध मर्म है। यह मांस सम्बन्धी मर्म है। इसका प्रमाण ४ अंगुल है। चोट लगने पर शीघ्र प्राणहारक है।

हृदय मर्म—दोनों स्तनों के नीचे मध्य वक्ष.स्थल में आमाशय के आधार पर सत्त्व, रज व तम गुणों का अधिष्ठान हृदय मर्म है। यह शिरा मर्म ४ अंगुल प्रमाण का है। चोट लगने पर तत्काल प्राणों का नाश करता है।

बस्तिमर्म—अल्पमांस व रक्त के भीतर कटि में जो मूत्राशय है, वह वस्ति मर्म संज्ञा वाला है। यह अधोमुखी मर्म पतली त्वचा वाला स्नायुसम्बन्धी मर्म है। ४ अंगुल प्रमाण का यह मर्म शीघ्र प्राणनाशक है।

नाभिमर्म—नाभि (टुण्डी) नाम से यह विख्यात है। यह पक्वाशय और आमाशय के बीच शिरा से उत्पन्न चार अंगुल प्रमाण वाला है। इस स्नायु मर्म में आघात से शीघ्र मृत्यु होती है।

(२) कुछ कालान्तर प्राणहारक मर्म होते हैं। इनकी कुल संख्या ३३ कही गई है। इनमें आघात लगने से कुछ देर बाद प्राण नाश होता है। इनका परिचय इस प्रकार है।

वक्षोमर्म—इसमें स्तनरोहित, अपलाप व अपस्तम्भ नामक मर्म है। स्तन-मूलमर्म दोनों स्तनों के नीचे दो-दो अंगुल परिमित स्थान में है। ये संख्या में २ शिरासम्बन्धी मर्म है। जहां आघात लगने पर कफ से पूर्ण हो जाने से वे काला न्तर में मारक होते हैं। दोनों स्तनों के ऊपर दो-दो अंगुल परिमित स्थान में स्तनरोहित मर्म हैं। इनमे चोट लगने से रक्त पूर्ण कोष्ठ हो जाने पर इनसे कालान्तर में प्राण नाश होता है। दोनों तरफ के अंसकूट (कन्धे के ऊपर की उभरी हुई हड्डी) के नीचे के एवं दोनों तरफ पंसुलियों के ऊपर आधा अंगुल परिमित अपलाप नामक दो शिरामर्म हैं। इनमें चोट लगने से वात से पूर्ण हो कर कास व श्वास उत्पन्न होता है तथा कालान्तर में प्राणनाश होता है। इस प्रकार वक्षोमर्म सब मिलाकर आठ हैं।

सीमन्त मर्म—मस्तक में जो पांच सन्धियां हैं वे ही सीमन्त नामक मर्म हैं ये ५ सन्धि मर्म चार अंगुल परिमत हैं। इनमें चोट लगने पर उन्माद. भय व

चित्त का विनाश आदि उपद्रवों के द्वारा कालान्तर में प्राणनाश करते हैं।

तलमर्म—दोनों हाथ दोनों पैर की बीच वाली अंगुली की सीध से लेकर हथेलियों में और तलुओं के मध्य में २ अंगुल परिमित जो स्थान है वे ही तल नाम मर्म है। दोनों हथेलियों में दो और दोनों पैर के तलुओं से दो, इस प्रकार सब ४ तल मर्म हैं। ये सब मांस सम्बन्धी मर्म है। आघात लगने से पीड़ा पहुंचकर कालान्तर में प्राणनाश होता है।

क्षिप्रमर्म—अंगुष्ठ व तर्जनी अंगुली के मध्य में क्षिप्र नामक मर्म हैं। ये स्नायु सम्बन्धी मर्म आधे अंगुल परिमित हैं। इनमें चोटें लगने से आक्षेपक वात रोग से कालान्तर में मृत्यु होती है।

इन्द्रवस्ति मर्म—दोनों प्रकोष्ठों के मध्य में तथा दोनों जंघाओं के मध्य में दो-दो, इन्द्रवस्ति मर्म हैं। इन मांस सम्बन्धी ४ मर्मों में चोट से रक्त का होने से कालान्तर में मृत्यु होती है।

वृहती मर्म—दोनों स्तनों के मूल भाग से लेकर पृष्ठवंश तक शिरा संबंधी मर्मों में आघात से अत्यन्त रक्तस्राव होकर मृत्यु होती है।

पार्श्व सन्धि मर्म—जघन तथा दोनों पार्श्व भाग (कांख से नीचे) की दो सन्धियों में पार्श्व सन्धि मर्म में चोट लगने से रक्त से पूर्ण कोष्ठ होकर प्राण नाश होते हैं।

कटीकतरुण—त्रिक के दोनो तरफ श्रोणिकांडों को लक्ष्य कर स्थित दो हड्डियों में कटीकतरुण अस्थि मर्मों में आघात से रक्तक्षय जन्य पांडू व विवर्ण रूप करके कालान्तर में प्राणनाश होते हैं।

नितंब मर्म—नितंब के दोनों ओर आधे अंगुल के ये अस्थि सम्बन्धी मर्म हैं। चोट लगने से अधोभाग में शोष दौर्बल्य होकर मृत्यु होती है।

(३) वैकल्य कारक मर्म शरीर में ४४ की संख्या में पायी जाती हैं। इन मर्म स्थलों में आघात लग जाने से अंग में विकलता उत्पन्न हो जाती है। इन का परिचय संक्षिप्त में इस प्रकार है—

लोहिताक्ष—उर्वी नामक मर्म से ऊपर और नीचे वंक्षण सन्धि व उरु मूल में शिरा सम्बन्धी आधा अंगुल परिमाण का लोहिताक्ष मर्म है। इसमें आघात लगने से रुधिर-क्षय होने से पक्षाघात होती है।

आणि मर्म—जानु से दोनों ओर तीन अंगुल परे आणि नामक मर्म है।

यह तीन अंगुल परिमाण का स्नायु सम्बन्धी मर्म है, यहां चोट लगने से शोथ की अधिकता तथा सक्थिस्तम्भ होते हैं।

जानुमर्म—पिंडली व उरु के बीच में सन्धि सम्बन्धी मर्म है। यहां चोट लगने से मनुष्य लाल हो जाता है।

ऊर्वी मर्म—उरु के मध्य में आध अंगुल का शिरा मर्म है। आघात से रुधिर क्षीणता होने के कारण पर सूख जाते हैं। इसी तरह बांहों में भी ये स्थित हैं।

इनके साथ ही इन वैकल्य कारक मर्मों में स्नायु सम्बन्धी—कूर्चमर्म विटप मर्म, कक्षधर मर्म, विधुर मर्म व अंस मर्म होते हैं। इनमें चोट लगने से क्रमश: पैर का घूम जाना व कंपन, नपुंसकता या शुक्राल्पता, पक्षाघात, वहिरापन तथा जकड़ना—उत्पन्न होते जाते हैं। सन्धि सम्बन्धी—कर्पूर मर्म, कुकुन्दन मर्म, कृकाटिक मर्म व आवर्त्त मर्म वैकल्य कारक मर्मों में समावेश किये गये हैं। इनमें आघात लगने से क्रमश: वाहु बीच खिचाव, सुन्नता व अधोभाग की चेष्टाओं का नाश, सिर का कांपना, नेत्र शक्ति का नाश उत्पन्न हो जाता है। अंसफलक अस्थि सम्बन्धी मर्म हैं, जहाँ चोट लगने से वाहुओं की सुन्नता तथा सूखना पैदा हो जाता है। अपांग मर्म व कर्ण मांस सम्बन्धी तथा नीला मर्म व मन्या मर्म हैं। इसमें चोट लगने से क्रमश: अन्धता, गन्ध ग्रहण शक्ति का नाश, गूंगापन व अस्वादग्राहिता उत्पन्न हो जाते हैं।

(४) रुजाकर मर्म शरीर में आठ हैं। इनमें आघात लगने से विशेष पीड़ा का अनुभव होता है। इसका विवरण इस प्रकार है।

गुल्फ मर्म—दोनों एड़ी सन्धि सम्बन्धी मर्म हैं। चोट लगने से लंगड़ापन होता है।

मणिवन्ध मर्म—गुल्म के नीचे के भाग में ये शिरासम्बन्धी मर्म हैं। इनमें चोट लगने से पीड़ा व सूजन होती है। एक गुल्म के आस-पास दो अर्थात् कुल ४ होते हैं।

(५) इन मर्मों से शल्य निकलने के वाद प्राणनाश होते हैं। उन्हें विशल्यघ्न कहाँ हैं। ये शरीर में तीन हैं।

उत्क्षेप मर्म—शिर के दोनों तरफ कनपटी के ऊपर केशपर्यन्त स्थान को स्नायुसम्बन्धी उत्क्षेप मर्म कहा है। यहाँ वाण आदि विंधकर उसे निकालने

पर मृत्यु होती है। दोनों भौंहों के बीच स्थपनी मर्म भी इसी तरह का होता है। इस प्रकार इतने सब शरीर में मर्म व्याप्त हैं।

सद्यः प्राण हरने वाले जो मर्म हैं, वे सात रात्रि में तथा कालान्तर प्राण-हारक संज्ञा वाले मर्म १५ दिन या १ मास में मृत्यु को प्राप्त कराते हैं। विशल्य मर्मों में जब तक शल्य अन्दर रहता है, तब तक मर्म स्थान की आश्रय-भूत वायु रुकी रहती है। खींचने पर वायु निकल कर वायु मृत्यु होती है। वैकल्यकारक मर्म सोम गुण युक्त है। अतः मृत्यु तो नहीं, पर विकलता अवश्य रहती है। रुजाकर मर्म वायु-अग्नि गुण वाले हैं अतः पीड़ाकर हैं।

नाड़ीचक्र

कुण्डलिनी

प्राचीन वाङ्मय में निर्दिष्ट, विशेषतः योग शास्त्रीय नाड़ी जाल तथा चक्र का विषय महत्त्व रखता है और इन पर पाश्चात्य विचारकों ने व्यवस्थाएँ भी की हैं। वस्तुतः मनुष्य में ये ऐसे शक्ति केन्द्र हैं, जो कई नाड़ियों के जाल से सम्बन्धित रहते हैं। जो कि योगसाधना द्वारा सूक्ष्मदर्शियों को चक्र या जल के रूप में प्रतीत होते हैं और योग के प्रसंग में इन चक्रों को जागृत करना पड़ता है, जिसमें हठयोग या व्यायामयिक अभ्यासों से शुद्धि की दृष्टि से सहायता ली जाती है। इस प्रक्रिया को योगशास्त्र में कुण्डलिनी कहा जाता है और उसकी क्रिया को विश्वशक्ति कहा गया है। जिसकी आकृति सर्पाकार होने से कुण्ड-लिनी नामकरण हुआ है। पाश्चात्य व्याख्या के अनुसार स्पष्ट किया गया है कि सर्पाकार अग्नि के रूप में, जो युगों से सुप्त अवस्था में दबी रहती है, योग साधना द्वारा जागृत की जाती है और इसकी तुलना क्षुद्रान्त्र से की जा सकती है, जिसमें इसकी आकृति तथा स्थिति प्रमुख आधार हैं (विसतन्तु स्वरूपाणां तां विन्दु त्रिवलयां प्रिये)।

यदि मूल रूप से योग शास्त्रीय नियमों के दृष्टिकोण पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा, मूल उड्डियान जालन्धर बन्ध से अथवा भस्त्रिका क्रिया द्वारा उदरस्थ चतुला पेशी तथा क्षुदान्त्र में ही विशेषरूपेण गति की जाती है। उदर के व्यायामो, विशेषतः दक्षिण नौलि, वामनौलि, मध्यनौलि- क्रियाओं से उक्त अंगों को इच्छित दिशा में विभिन्न गतियों द्वारा प्रवृत्त किया जा सकता है। इन चक्रों को प्लेक्सस के रूप में ग्रहण किया जाता है।

सुषुम्णा

शरीर में स्थित नाड़ी जालों का संकेत किया गया है, जिनसे वात की समानता की जा सकती है। नाड़ी तथा धमनी में परस्पर जो सम्बन्ध है वह यहाँ प्रासंगिक नहीं है। यहाँ पर हृदय से निकलने वाली नाड़ियों का बोध न कर मस्तिष्क की नाड़ियों का ग्रहण किया जाता है।

वस्तुत: स्नायु या नाड़ीजाल सम्बन्धी चक्रगत नाड़ियां मस्तिष्क में से निकलती हैं (नाड्योऽनन्ता: समुत्पन्नापञ्चापर्वसु—शा. ति. त) अर्थात् अनन्त नाड़ियाँ सुषुम्णा के दोनों ओर दो नाड़ियों का अर्थात् दायीं ओर पिंगला तथा बायीं ओर इड़ा—का वहन होता है। इनसे सुषुम्णा के चारों ओर कुण्डल की आकृति बन जाती है। ये नाड़ियाँ श्वेत कर्ण की सूत्रवत् कमलकन्द से उद्भूत श्वेत तन्तुओं की भाँति होती हैं।

इड़ा पिंगला (१९६५)

प्राचीन मतानुसार सुषुम्णा तालुमूल के ऊर्ध्व में विवरसहित मूल स्थित रहती है तथा वह सर्व नाड़ियों का आश्रय रखत. है इसके दोनों ओर दो नाड़ियों—इड़ा तथा पिंगला की अवस्थिति, जैसी कि संकेत की जा चुकी है, प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। इनका उल्लेख लययोग में किया गया है कि दोनों के संगम स्थल को सरस्वती कहा जाता है। तन्त्रान्तर में वचन उपस्थित किया है कि वाराणसी की स्थिति भ्रू के मध्य में रहती है।

योग शास्त्र तथा नव्य शारीर के वर्णनों की सूक्ष्म तुलना की जावे तो ज्ञात होगा कि वृहद् मस्तिष्क को सहस्रार लघुमस्तिष्क को योनिमण्डल पश्चिमामुखी, सुषुम्ना सेतु को सर्पफणयुक्त कुण्डलिनी, पिंगल नाड़ी मण्डल को पिंगला नाड़ी तथा सुषुम्णा के भीतर न जाने वाली (अपितु मस्तिष्क में समानान्तर जाती हैं) नाड़ी इड़ा के रूप में ग्रहण की जा सकती है। सुषुम्णा नाड़ी मण्डल के ३२ युग्म नाड़ी संगम स्थल पर मिश्रित नाड़ी गण्ड बन जाते हैं, जो मानाकृति में पीताभ वर्ण रहते हैं, पिंगला नाड़ी मण्डल कहलाते हैं। इस प्रकार योगशास्त्र में सुषुम्णा के अतिरिक्त इड़ा पिंगला तथा अन्य अनेक नाड़ियों का वर्णन है।

षट्चक्र

जैसा कि नाड़ी जालों निर्मित चक्र रचना का संकेत किया गया है, ये छः

चक्र होते हैं, जिनको योगशास्त्र में प्रत्येक को जागृत कर सिद्धि के लिए प्रस्तुत करना होता है। षट्चक्र निम्नांकित हैं—

१. मूलाधात
२. स्वाधिष्ठान
३, मणिपूर
४. विशुद्ध
५. अनाहत
६. आज्ञा

मूलाधार

इस चक्र की सम्पूर्ण रूप रेखा इस प्रकार है—

स्थान—योनि	देव—ब्रह्मा
दल—चतुर	देवशक्ति—शाकिनी
वर्ण—रक्त	यन्त्र—चतुष्कोण
लोक—भू	ज्ञानेन्द्रिय—नासिका
तत्व—पृथ्वी	कर्मेन्द्रिय—गुदा
वीज—लं	फल—आरोग्य, चित्त का
वाहक—ऐरावत हाथी	आनन्द, विनोदी, वक्ता, मनुष्यों में श्रेष्ठता तथा काव्य रचना
गुण—गंध	

स्वाधिष्ठान

इस चक्र की सम्पूर्ण रूपरेखा इम प्रकार अंकित है—

स्थान—वस्ति	देव—विष्णु
दल—षट्	शक्ति—शाकिनी
वर्ण—सिन्दूर	यन्त्र—चक्राकार
लोक—भुव	ज्ञानेन्द्रिय—रसना
अक्षर—वँ से लँ	कर्मेन्द्रिय—लिंग
तत्व—जल	फल—अहंकार विकार से
वीजवाहक—मकर	निवृत्ति, मोहरहित की
गुण—रस	स्थिति, गद्य पद्य रचना में समर्थ

अन्य चक्र

इसी रूपरेखा में अन्य तीन चक्रों को यथास्वभाव के अनुसार अंकित किया जा सकेगा, उदाहरण के लिए उक्त चक्रों को प्रस्तुत किया गया।

प्रश्न—ज्ञानेन्द्रिय क्या हैं ? नेत्र तथा कर्ण की रचना बतलाइए।

उत्तर—**क्षेत्र**

विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है। वह आत्मा (ज्ञाता) अकेला ही ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और न ही कर्म करने में अकेला समर्थ है। कुछ कारण या साधन हैं, जिनकी सहायता से आत्म, ज्ञान, कर्म, भोग आदि के सम्पादन में सामर्थ्यवान् है।, इन कारणों इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) का भी अपना स्थान है। ज्ञानेन्द्रियाँ नेत्र, कर्ण, नासा, जिह्वा, त्वचा—ये पाँच है। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थो का ग्रहण करती हैं। जैसे नेत्र रूप का, कर्ण शब्द का, नासा गन्ध का, जीभ रस का, तथा त्वचा स्पर्श का—ग्रहण किया करती है। वस्तुतः सब इन्द्रियां स्पर्शेन्द्रियात्मक ही हैं। यह एक रूप स्पर्शेन्द्रिय सर्वत्र शरीर में व्याप्त है। मन की सत्ता वहाँ अवश्य रहती है, जहाँ इन्द्रिय द्वारा किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति हो रही होती है। संज्ञा वह स्रोत सर्वत्र शरीर में व्याप्त है। इनका रूप आदि विषयों से स्पर्श होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करने की रीति यह होती है। इन्द्रियों को अपने-अपने अर्थों से सर्वप्रथम प्रयोग होता है। जिस काल में जिस विषय का ज्ञान हो रहा होता है, उस काल में उस अर्थ की ग्राहक इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होता है। मन आत्मा से सम्बद्ध रखता है। इस प्रकार विषय का ग्रहण हो जाता है। यही सब ज्ञानेन्द्रियों (Organs Sensation अथवा Ssytem of special organs) का परिचय है। इस प्रकार सामान्य भाषा में शरीर इन इन्द्रियों की सहायता से जीवन-निर्वाह करता है। इनसे ज्ञानेन्द्रियों का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। यहाँ एक बात विचारणीय है कि आयुर्वेद मतानुसार ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़तीं, वे तो अनुमानगम्य हैं। दृष्टिगोचर होने वाले उनके स्थान 'अधिष्ठान' माने जाते हैं।

नेत्र (१९६३)

रूप, प्रकाश वा वर्ण का ज्ञान नेत्रों से होता है। नेत्र कपाल की दोनों

नेत्रगुहाओं में उपस्थित है। इनके ऊपर पलक हैं। नेत्र गुहा में ऊपर व बाहरी कोने में एक अश्रुग्रन्थि (Lacrimal geand) होती है। इनसे नलिका निकल कर आँसुओं द्वारा नेत्रगोलक को शुष्कता से बचाती है। नेत्र में सबसे बाहर गोलाकार नेत्रगोलक है। इसका सबसे बाहरी भाग बहिःपटल से निर्मित है, इसके भीतर दूसरा मध्य पटल है। फिर तीसरे पटल को अतःपटल कहा जाता है। इन तीनों पटलों के भीतर अत्यन्त पारदर्शक तरल भरा होता है। इसके अग्र व पश्चात् भागों के बीच में एक ताल स्थित है। इस ताल पर आगे की ओर मध्य पटल से निकला हुआ एक तारामण्डल है। इसके मध्य एक तारा नामक छिद्र है। सबसे बाहर का बहिःपटल (स्कलेरा) जब नेत्र के अग्र भाग पर आता है जहाँ पीछे की ओर तारामंडल (आयरिस) तथा तारा (प्यूपिल स्थित है, तो उसकी रचना में कुछ परिवर्तन हो जाता है। यह पूर्णतः स्वच्छ हो जाता है। जिससे उसके द्वारा प्रकाश की किरणें भीतर प्रवेश कर सकें, इसे स्वच्छ मण्डल या कनीनिका कहा जाता है।

पीछे का मध्य पटल वास्तव में नेत्र का रक्तमय पटल है। यह पटल नेत्र गोलकों के चारों ओर होता हुआ आगे जहां ताल स्थित है, वहाँ पहुंच कर गवर्टनो के रूप में ताल (लस) के किनारों पर जाकर लग जाता है। इस प्रकार स्वच्छ मंडल (कोर्निया) तथा कृष्ण मंडल (कोरोयड कोटि) के मध्य सन्धान मंडल नामक मांससूत्र स्थित है। यहाँ की एक पेशी के साथ अनैच्छिक मासपेशियों के घेरे से कनीनिकी संकोच होता है।

इसके भीतर अन्तःपटल (रेटिना) है। इसका कर्म देखना है। यह कृष्ण मंडल के अन्दर की ओर स्थित अत्यन्त पतली तथा अनुभवशील कला है। पीछे की ओर पटल पर एक छोटा-सा उभार परिधि २ $\frac{1}{6}$ इंच है। इस हल्के पीले से उभार को पीत विन्दु कहा जाता है। इस विन्दु पीत (येलो स्पोट) गड्ढे में दृष्टि सबसे तीक्ष्ण होती है। हम प्रति पल नेत्रों को इसीलिए हिलाते रहते हैं कि देखने वाली वस्तु की प्रतिमा दृष्टि-मंडल के इस स्थल (फोविया सेंट्रेलिस) पर पड़े। पीत विन्दु के लगभग १॥ इंच भीतर की ओर दृष्टिनाड़ी के प्रवेश का स्थान वस्तुतः अन्तःपटल अनेक प्रकार के स्तरों से मिलकर बना है। इनमें नाड़ी सैलों की अधिकता रहती है। अन्तःपटल का सबसे अन्तिम भाग रंजक कणों का बना हुआ होता है। उनों दे कुछ सूत्र भी निकलते हैं। अन्तःपटल में

इस प्रकार के भिन्न स्तर हैं। इसके विशेष भाग को दण्ड शंकु नाम दिया गया है। दण्डों में रौडोप्सिन (आयुर्वेदानुसार यह आलोचक पित्त है) नामक रंजक होता है। वस्तुओं को देखते समय आकाश की किरणें गृहीत होकर इस द्रव्य पर पड़ती हैं। परिणामतः यह विवर्ण हो जाता है।

वर्त्मंमण्डल का नाम पूर्वोक्त पलक है। इनका अन्तर्वर्ती भाग एक कला से आवृत होता है। यह कला (कजक्टाइवा) नेत्र गोलक को भी आगे की ओर ढके रहती है। इनमें अश्रु आ जाते हैं। यह अश्रुग्रंथि का स्राव है। यह ग्रन्थि (लेक्रिमलग्लैंड)एक बादाम के आकार की है। आखों के अन्तःकोण में हरेक पलक पर अश्रुद्वार स्थित हैं। इनसे आंसू निकलकर अश्रुकुम्भिका नामक आशय में एकत्र होते है। यही अपने कारणों से अधिक ढलक पड़ते हैं। यही नेत्रों की सामान्य रचना है।

अब हमें दर्शन प्रक्रिया का कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रकाश सीधी किरणों में चलता है। मुड़े लैंस या ताल पर उनकी अपनी दिशा में परिवर्तन करना होता है। हमारे नेत्र में जब बाहर से किरणें पड़ती हैं तो वे भी मुड़ती हैं, क्योंकि नेत्र में कई मुड़े हुए ताल हैं। सबसे पूर्व कनीनिका का ऊर्ध्वतल मुड़ा हुआ ताल है। फिर अग्रकोष्ठ में (जहाँ एक तरल वस्तु भरी है)। प्रकाश का वर्त्तन होता है। फिर ताल आता है। इसके आगे पीछे दोनों ओर केवल उन्नतोदर हैं। अतः प्रकाश रेखा प्रवेश कर अपना मार्ग बदल देती है। निकलने के समय भी माग परिवर्तन करती है। अन्तःपटल में बाह्यवस्तु का उल्टा चित्र बनता है। मस्तिष्क का काम देखना और समझना होता है। किसी वस्तु का आकार व स्थान का निश्चय करना नेत्र का कार्य न होकर मस्तिष्क का कार्य है।

सारांशतःस्वच्छमण्डल (कार्निया),। तेजोजल मणि (लैंस) तथा मेदोजल प्रकाश की रश्मियों को संयूहित (फोकस) करके दृष्टिमंडल (रेटिना) के पीतबिंब (येलो स्पोट) पर पहुँचाते हैं। यह उत्पन्न प्रतिबिंब दृष्टिमंडल नाड़ी (आप्टिक नर्व) द्वारा मस्तिष्क में पहुँचकर रूप दर्शन-कार्य सम्पन्न करता है।

कर्ण (१६९१,९२,९३,७४)

शब्द का ग्रहण कर्ण या कान से होता है। सुविधा के लिए इसके तीन भाग कर दिए गए हैं—

१. बाह्य कर्ण ।

२. मध्य कर्ण ।

३. अंतःकर्ण ।

बाह्य कर्ण (एक्सटर्नल एयर) में कर्ण शष्कुली (Pinna) तथा बाह्य कर्ण गुहा सम्मिलित हैं। कान का जो बाहरी भाग हम देखते हैं, उनके बीच में एक नाली जाती है। जो अन्दर एक झिल्ली श्रुतिपटह कहलाती है। बाहर की कर्ण शष्कुली (पिन्ना) शब्द तरंगों को एकत्र कर उन्हें कर्ण गुहा (एक्सटर्नल औडिटरी मीटस) में भेजता है। यहां से वे टेढ़े मार्ग द्वारा श्रुतिपटह (टिम्पैनिक मेंब्रेन) तक पहुँच जाती है।

श्रुतिपटह या पटह कला को हम साधारण भाषा में कान कहा कहते हैं। यह ०.१ मि० मी० मोटी कला तीन स्तरों से निर्मित है। बाहर की ओर यह कर्ण गुहा की त्वचा से तथा भीतर की ओर श्लेष्मल कला से आवृत है। दोनों के बीच में सौत्रिक तन्तु केन्द्र से प्रांत की ओर फैले हुए हैं। कला में सूत्रों की व्यवस्था तथा इसकी पीकाकार आकृत शब्द वहन शक्ति वर्द्धन की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। इसमें अपनी कोई विशिष्ट ध्वनि न होने के कारण यह सब प्रकार के शब्द तरंगों के वहन में समर्थ है। कर्णगुहा टेढ़ी होने के कारण श्रुतिपटह बाहर से दिखाई नहीं पड़ता।

इस श्रुति से ही मध्य कर्ण (इण्टरनल इयर) का प्रारम्भ हो चुकता है। श्रुतिपरह के भीतर तीन कर्ण-अस्थियाँ—मुद्गरक, अंकुशक तथा धारण—स्थित हैं। वस्तुतः मध्य कर्ण अस्थिमय छोटी कोठरी है। इसकी लम्बाई लगभग आध इञ्च है। इसकी सबसे बड़ी अस्थि मुद्गार (मैलिअस) सम्पूर्ण लम्बाई में श्रुतिपटह से संलग्न रहती है। शेप अस्थियां अकुशक (इन्कस) तथा धरणक (स्टेपीज) एक दूसरे से क्रमानुसार संयुक्त रहती हैं। ये अस्थियां श्रुतिपटह के कम्पन तरंगों को अन्तःकर्ण में प्रविष्ट कराती हैं। मुद्गरक अस्थि का सिरा श्रुतिपटह से लगा रहता है और शब्द तरंग आने पर उसी के द्वारा कंपित होता है। ये शब्द की लहरिकायें क्रम से शेप दोनों अस्थियों को भी संयुक्त रहने के कारण आन्दोलित करती हैं। इन अस्थियों की गति पटहोत्त सिनी पेशी पर्याणिका पेशी नामक दो मांस पेशियों द्वारा होती है, पटहपूरणिका नलिका लगभग $1\frac{1}{3}$ इञ्च लम्बी एक सूक्ष्म प्रणाली नासिका के

में कई सुरंगाएँ रहती हैं। इन अतः, मध्य तथा ऊर्ध्व शुक्तिकाओं के ऊपर श्लैष्मिक कला आवृत्त रहती है। नासा-सुरंगाओं के द्वारा सहायक वायु विवरों का स्राव बाहर निकलता है। अधःसुरंगा में नासाश्रु वाही स्रोत आकर खुलता है। नासागुहा का तल तात्वास्थि तथा दाँत के मसूड़ों से निर्मित होता है। ऊपर की छत पार्श्वनासास्थि (आगे की ओर), झर्झर पटल (पीछे की ओर) तथा जतुकास्थि से बनी रहती है।

नासा के चार प्रधान कार्य होते हैं—

१. गन्ध ग्रहण करना।

२. नितरण वायु को छानने का कार्य।

३. उष्ण तथा आर्द्रीकरण

४. स्वर को निनादित करना

त्वचा

त्वचा सम्पूर्ण शरीर को आवृत्त करती है। स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठान त्वचा है। त्वचा शीत-उष्ण तथा गुरु-लघु आदि का स्पर्शन-ज्ञान कराती रहती है। हिताहित स्पर्श-ज्ञान द्वारा शरीर का रक्षण होता है। त्वचा में स्थित भ्राजक पित्त की सहायता से शरीर की ऊष्मा का साम्य रहता है। शरीर को कांति प्रदान करना तथा लेप आदि का प्रभाव ग्रहण कर शरीर में पहुँचाना त्वचा के कार्य हैं। स्वेद का आश्रय भी त्वचा है। यद्यपि त्वचा पाँचभौतिक है, तथापि वायु महाभूत प्रधान है।

आधुनिक मतानुसार त्वचा के मुख्य दो स्तर होते हैं—बहिस्त्वक् तथा अन्तस्त्वक्। बाहरी त्वचा दो स्तरों तथा अन्दर की त्वचा दो स्तरों से बनी होती है।

जिस प्रकार से अग्नि पर दूध का पाक करने से, उसके ऊपर सन्तानिका (मलाई) पड़ जाती है। उसी भाँति धातुस्थित अग्नि से पकते हुए शुक्र तथा रज से भी जो उत्पन्न होता है। वही त्वचा कहलाती है। एक के ऊपर दूसरी इस प्रकार सात त्वचाएँ होती हैं।

(१) अवभासिनी—भ्राजक नामक पित्त से अविभासित होता है। चौड़ाई में फैलाये हुए व्रीहिधाना के २० भागों में १८वें भाग के बराबर है।

(२) लोहिता—तिलकालक आदि रोगों की उत्पत्ति का स्थान है। यव की चौड़ाई के बीस भागों में १६ भागों के बराबर।

(३) श्वेता—चर्मदल, अजगल्लिका, मशक रोगों का उत्पत्ति स्थान है। यव की चौड़ाई के २० भागों में १२ भागों के बराबर।

(४) ताम्रा—यह किलास तथा श्वित्र कुष्ठकी उत्पत्ति का स्थान है। यव की चौड़ाई के २० भागों में ८ भागों के बराबर।

(५) वेदिनी—यह विसर्प तथा कुष्ठों की उत्पत्ति का स्थान है। यव की चौड़ाई २० भागों में ५ भागों के बराबर।

(६) रोहिणी—यह ग्रंथ, गण्डमाला, अर्बुद रोगों का स्थान है। एक यव की चौड़ाई के बराबर।

(७) स्थूला—यह विद्रधि आदि रोगों का स्थान है। दो यवों की चौड़ाई के बराबर।

प्रश्न—कण्डरा, रन्ध्र, स्रोत, संघात, सेवनी, कूर्च, जाल, रज्जु, सीमान्त का परिचय दीजिए।

उत्तर—कण्डरा

मांस पेशी का श्वेत भाग सौत्रिक तन्तु से निर्मित है, इसे कण्डरा कहा जाता है।

बड़े स्नायुओं को कण्डरा शास्त्र में कहा गया है। कण्डराओं के द्वारा शरीर के अंगों को फैलाने तथा सिकोड़ने की क्रिया संपन्न होती है। कन्डराएँ १६ होती हैं। इनमें से ४ कण्डराएं दोनों हाथों में, ४ कण्डराएं दोनों पैरों में, ४ कण्डराएं ग्रीवा में तथा ४ कण्डराएँ पीठ में होती हैं।

हाथों तथा पैरों में स्थित कण्डराओं के प्ररोह (अंकुर) भाग नख हैं। ग्रीवा में बंधी हुई तथा नीचे की तरफ गई हुई कण्डराओं की प्ररोह लिंग (शिश्न) है। पृष्ठ (पीठ) में निबद्ध कन्डराओं के प्ररोह भाग, नितम्ब, मस्तक, उरु, वक्ष-स्थल, नेत्र तथा स्तनपिंड हैं।

रन्ध्र

शरीर में दश छिद्र या रंध्र होते हैं। नेत्र, कान तथा नाक २-२ रन्ध्र, मुख-लिंग-गुदा में १-१ रन्ध्र तथा दसवां मस्तिष्क में बताया गया है। स्त्रियों के शरीर में दोनों स्तनों तथा गर्भाशय में १-१ रंध्र अर्थात् ३ रंध्र अधिक होते हैं।

स्रोत

जिन मार्गों से मन, प्राण, अन्न, जल, दोष, धातु, उपधातुओं के मल मूत्र तथा विष्ठा आदि पदार्थ शरीर में संचार करते हैं, इनको स्रोत कहा जाता है। स्रोत शरीर मे असंख्य है।

संघात

अस्थियों के संघात (अस्थियों का एक जगह पर स्थित होना) शरीर में १४ हैं। ३-३ संघात गुल्फ, जानु तथा वंक्षण में है। दूसरे पैर में भी इसी तरह तीन संघात हैं। इसी प्रकार से दोनों वाहुओं के मणिवन्ध, कर्पूर तथा वंक्षण में कुल ६ संघात हैं। त्रिकस्थान में २ तथा शिर में १ संघात है।

सेवनी

शरीर में सात सेवनी है। ५ सेवनी मस्तक में, १ लिंग में तथा १ जीभ में होती है। सेवनी का स्थान सिला हुआ लगता है। सेवनी का शस्त्र से वेधन नहीं किया जाता है।

कूर्च

कूर्च (कूँचा) के समान आकृति होने से कूर्च नाम पड़ा। शरीर में ६ कूर्च हैं। हाथों में १-१, पैरों मे एक-एक, ग्रीवा में एक तथा लिंग में एक कूर्च होता है।

जाल

शिरा, स्नायु, मांस तथा अस्थियो से जालों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक शिरा आदि के ४-४ जाल अर्थात् शरीर में १६ जाल होते हैं।

रज्जु

पृष्ठवंश के दोनों तरफ वड़ी-वड़ी ४ मांस की रज्जु (डोरियाँ) होती हैं। इन में से दो वाहर तथा दो भीतर रहती हैं। रज्जुएँ मांसपेशियों को ऊपर नीचे से अस्थियों मे वांधे रखती हैं।

सीमन्त

सीमन्त से अस्थियों के संघात परस्पर जोड़े जाते हैं। सीमन्त शरीर में १४ होते हैं।

उपधातु अवयव

धातुपधातु के प्रसंग में उपधातु का संकेत किया गया है जो कि प्राचीनोक्त

शरीर रचना विज्ञान में शरीर के मूल उत्पादन हैं। अर्थात् धातुओं के सहायक रूप में उपधातुयें शरीर में महत्त्वशाली हैं (उपमितिः धातुभिः इति धातुः— श. सं. म.) जो कि शरीर को धारण करने में अपना योग देती हैं, परन्तु पोषण नहीं करती (ते च स्तन्यादयो धात्वत्तरपोषणाच्छरीरपोषका अप्युधातु शब्देनोच्यते)। ये उप धातुयें मानवशरीर में विभिन्न अवयवों का द्रव्यों के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी संख्या सात है—

१. स्तन्य २. रज ३. कण्डरा ४. सिरा ५. वसा ६. त्वचा ७. स्नायु।

इनकी उत्पत्ति धातुओं से होती है। अर्थात् रस से स्तन्य व रज, रक्त से कण्डरा व सिरा, मांस से वसा व त्वचा तथा मेद से स्नायु उद्भूत हुई हैं। इन में से कतिपय अंगावयय यथास्थान प्रतिपादित हैं तथा अवशिष्ट प्रासंगिक हैं।

स्नायु (१९६६, ६८)

इनके शब्दार्थ के अनुसार स्नायु को वायु को वहन करने वाली नाड़ियां मानी जाती हैं और वायु मेद स्नेह-नसा का वहन करती हैं। और शिरा को स्नायु बना देती है। ये देहमांस पेशी, अस्ति तथा मेदस को आवृत्त करते हैं तथा संधियों को शक्ति प्रदान करते है। जो कण्डराएँ बड़ी हो जाती हैं, उन्हें भी स्नायु कहा गया है, जिनकी आकृति स्थान के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। इस रीति से आमाशय व पक्वाशय में वृत्त प्रकार की तथा वस्ति में सुषिर प्रकार की रहती है। प्रतानवती तथा पृथु दो अन्य प्रकार और बताए गए हैं। आधुनिक दृष्टि से स्नायु को नर्व टिस्यु तथा लिगामेन्ट के रूप में भी समझा जा सकता है और कण्डरा को टेण्डन कहा जाता है। (इहा हि कण्डकाशब्देन स्थूल स्नायुरुच्यते—चक्र)।

वसा

यह मांस पनेह तथा मेद की उपधातु है। यह मांसपेशियां के भिन्न स्थानों में पूरण किए रहता है तथा रक्तवाहिनियों तथा नाड़ियों आदि को बल प्रदान करती है। आधुनिक रीति के अनुसार फेट को वसा के रूप में ग्रहण किया जाता है।

अन्य अवयव

इनके अतिरिक्त कण्डरा, रज, सिरा, त्वचा तथा स्तन्य को क्रमशः टेण्डन

मेन्स्ट्रयुअल फ्लुड, ब्लड वेसल्स व नर्व्स तथा स्किन के रूप से समझा जाता है और इनका परिचय प्रसंगानुसार अंकित है। यह उल्लेखनीय है कि उपधातु अवयवों की पाश्चात्य शरीरानुसार व्याख्या करते समय सम्पूर्ण रूपेण सामंजस्य स्थापित हो जाये, ऐसा किंवा संभावित नहीं होता और परिस्थिति में ग्रहण करने की दृष्टि से तुलना की जाती है, जो उपर्युक्त है।

जैसा कि निर्देश किया गया है, रस, रक्त, मांस तथा मेद--इन चार धातुओं से उनकी उपधातुयें उत्पन्न होती हैं और शरीर में वे विभिन्न उपांगों या उपादान द्रव्यों के रूप में कार्य करते हैं, परन्तु अस्थि, मज्जा तथा शुक्र, जो तीन अन्त की अवशिष्ट धातुयें हैं, उनकी उपधातुओं का निर्देश नही किया गया है। यद्यपि स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं कि शुक्र धातुओं का अर्थात् मज्जा का अन्तिम सार है, जो कि मलरहित है तथापि ओज को शुक्र से उत्पन्न अर्थात् उपधातु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

प्रश्न—शुक्र की उत्पत्ति कैसे होती है? शरीर में धातुएँ कितनी हैं और उनका कार्य कितना है? शेद्ध शुक्र का लक्षण और कार्य बताइए।

(१६६६-७४)

उत्तर—शुक्र की उत्पत्ति—जिस प्रकार ईख में रस, दूध या दही में घी तथा तिल में तैल अलक्षित रूप से सर्वत्र ओत-प्रोत होता है, वैसे ही शुक्र मनुष्य के सर्वांग मे ओत-प्रोत होता है। इसी से मृतक परीक्षा में शुक्र स्थान विशेष पर सञ्चित नही पाया जाता। जब मनुष्य दृष्ट स्त्री का स्मरण, दर्शन, शब्द श्रवण किंवा स्पर्श करता है तो प्रहर्ष का अनुभव करता है और शुक्र अंग-अंग से खिंच कर मूत्र मार्ग से प्रवृत होता है। यह शुक्र बालकों और कन्याओं में भी होता है—परन्तु अव्यक्त रूप मे। जिस प्रकार कली में गंध अनभिव्यक्त दशा में रहता है—वैसे ही शुक्र बालकों में रहता है। यौवन उपस्थित होने पर बालकों में शुक्र का प्रादुर्भाव तथा कन्याओं में रोमराजी आदि चिह्न प्रकट होते हैं।

इस विषय में नव्य मतानुसार स्थिति यह है कि जब तक शरीर का विकास सम्पूर्ण नही हो जाता तब तक थायमस नामक अन्तर्ग्रन्थि के रस के प्रभाव से वृषण ग्रन्थियो का पुंबीजोत्पत्ति का कार्य रुका रहता है। तब तक वे केवल शरीर के विकास में भाग लेने वाले अन्तःस्राव को ही उत्पन्न करती है।

वर्तमान प्रत्यक्ष से शुक्र अनेक ग्रन्थियों के रसों का मिश्रण है। इसका प्रधान भाग पुंबीज होते हैं। एक वार के मैथुन में जितना शुक्र निकलता है उसमें इनकी संख्या बीस करोड़ से अधिक होती है। प्रत्येक पुंबीज के तीन अवयव होते हैं। एक मुण्ड दूसरा मध्य तथा तीसरा पुच्छ। पुंबीज की लम्बाई $\frac{1}{1000}$ से $\frac{1}{500}$ इञ्च होती है। पूंछ के सहारे पुंबीज बड़े वेग से गति करते हुए पाए जाते हैं। मैथुन के पश्चात् जो पुंबीज सबसे प्रबल होता है, वही वक्ष्यमान स्त्री बीज तक पहुंचता है और मुण्ड के नोकीले भाग से उसके अन्दर प्रविष्ट होकर गर्भ का आरम्भक प्रथम अणु बनाता है। शेष पुंबीज नष्ट हो जाते हैं।

शुक्रोत्पादन का कार्य वृषणों (टेस्टीज) का है जो संख्या में दो होते हैं। शुक्र यद्यपि सर्वशरीरव्यापी है तथापि प्रहर्ष काल में वृषणों द्वारा आकृष्ट एवं च्युत किया जाता है। वृषणों में शुक्रवाही अनेक स्रोत हैं। पोषक रस उनके मध्य में पहुँचता है तो जैसे गीले वस्त्र के निचोड़ने से उसके छिद्रों में से जल का स्राव होता है—वैसे हर्ष से उद्दीप्त हुए वायु की प्रेरणा से इन स्रोतों की पतली दीवारों से शुक्र का स्राव होने लगता है।

इस प्रकार से स्रुत शुक्र का वहन प्रत्येक वृषण से निकलने वाली एक—इस प्रकार दो शुक्र वहाओं से होता है। ये शुक्रवहा शुक्र प्रादुर्भावकर कहलाती हैं। इन दो शुक्रवहाओं से आगत शुक्र दो अन्य शुक्रवहाओं में पहुँचता है जो शुक्र का विसर्ग कराती हैं। विसर्गकरी शुक्रवहाएँ वस्ति के द्वार दो अगुल नीचे मूत्रमार्ग से मिलती है। शुक्र इसी मार्ग से बाहर आता है एवं शुक्रवह प्रणालियों का एक मूल वृषण तथा दूसरा मूल (सिरा) शिश्न है।

मूत्रवह स्रोतों की शुक्रस्राविणी तथा बीज जननी कला का नाम शुक्रधरा कला है।

आधुनिक मतानुसार वृषणों—वस्तिशिर, शुक्राशयों—शिश्न मूल ग्रन्थियों तथा शुक्रवहाओं के एकीभूत रस का नाम शुक्र है। इनमें वृषणों का रस प्रधान है।

शुद्धशुक्र (१९७४)

शुद्ध शुक्र का स्वरूप वताते हुए कहा गया है कि "शुद्ध शुक्र स्फटिकवत्—निर्मल" किन्हीं के मत में तैल या मधु के सदृश, स्निग्ध—कुछ द्रव, पिच्छिल—

मधुर—अविदाही—शुक्ल-मधु तुल्य गन्धवाला तथा आमगन्धरहित होता है। यही सन्तानोत्पत्ति क्षम ह।

धातुएँ

हमारे शरीर में कुल सात धातुएँ हैं। वे हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। इनका पोषण आहार रस से होता है। आहार रस से रस धातु की उत्पत्ति होती है और वह व्यान वायु की प्रेरणा से सारे शरीर में पहुँचता है। इससे आगामी धातु रक्त की उत्पत्ति होती है। इसी तरह एक धातु पर जब धात्वग्नि से कर्म होता है तो पर धातु का निर्माण तथा मल का शेषांश बंचता है।

होता यह है कि सात धात्वग्नियां हैं। अपनी-अपनी धात्वग्नि से पाक को प्राप्त हो वह रस आगामी धातु का निर्माण करती है और मल छोड़ देती हैं। इस तरह आहार रस से रस धातु और फिर अन्य धातुओं का निर्माण कार्य चलता रहता है। जो शरीर को धारण करता है। प्रत्येक धातु अपने-अपने विशेष गुणों के द्वारा शरीर का निर्माण-संचालन एवं धारण कर्म करती है क्योंकि यह शरीर को धारण करती है इसीलिए इनको धातु कहा जाता है। "धारणात् धातवः कहकर इस बात को तथा इनके कर्मों को स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न—पृष्ठवंश में कितनी अस्थियां होती हैं? उनकी रचना और प्रकार बताकर प्रयोजन बताइए। इनमें स्थित वातनाड़ियों के विषय में आप क्या जानते हैं? इन वातनाड़ियों की रचना और कार्य बताइये। (१९६८)

उत्तर—पृष्ठवंश की अस्थियाँ

पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी एक दिखाई देते हुए भी ३३ (तैंतीस) छोटी-छोटी अस्थियों से बनने वाला एक मुड़ सकने योग्य डंडे के आकार का अंग है। इसकी प्रत्येक इकाई को कशेरुका या मोहरा कहा जाता है। ये कशेरुका कपाल की पश्चात् कपालस्थि के पिछले भाग के नीचे से प्रारम्भ होते हैं और ग्रीवावक्ष तथा कटि प्रांतों में एक-दूसरे के ऊपर स्थित रहते है। इनके बीच के स्थानों के मिलने से एक लम्बी नलिका बन जाती है और पृष्ठवंश के आदि से अन्त तक चली जाती है। कशेरुकाओं के गात्रों के बीच में उपास्थि की एक चक्रिका (Disc) रहती है जिस से कशेरुकाओं के गात्र आपस में रगड़ने नहीं पाते।

समस्त पृष्ठवंश में ३३ कशेरुकाएँ हैं—यह ऊपर बताया जा चुका है। इन में से अन्तिम चार के जुड़ जाने से अनुत्रिकास्थि (Coccyx) तथा उनसे ऊपर के पाँच कशेरुका जुड़ कर त्रिकास्थि (Sacrum) बनाए हुए हैं। शेष २४ कशेरुकाएँ अलग २ रहते है। इन चौबीस तथा दो जुड़े हुए कशेरुकाओं की अस्थियाँ इस तरह कुल २७ अस्थियाँ भी पृष्ठवंश में बताई जाती हैं। ये सभी कशेरुकाएं आपस में बहुत मजबूत मांशपेशियों के सूत्रों से जुड़ी रहती हैं। ये बलवान माँशपेशियाँ कशेरुकाओं को अपने स्थान से हिलने नहीं देती तथा पृष्ठ-वंश को आगे पीछे या इधर उधर गति कराने देती हैं। इन गतियों से ही झुकना-मुड़ना आदि सम्भव हैं।

इस तरह रीढ़ की अस्थियों से जो स्तम्भ बनता है वह पृष्ठवंश कहलाता है। वह एकदम सीधे खम्भे नहीं हैं—इसमें चार झुकाव होते है। इन झुकावों का एक लाभ यह भी है कि पैरों के बल कूदने और उछलने पर झटके मस्तिष्क तक नहीं पहुंचने पाते। शैशवावस्था में यह वक्रता नहीं होती—पृष्ठवंश का स्तम्भ सीधा होता है। जब शिशु खड़ा होना सीखता है तब ये उभार और दबाव उत्पन्न होते है। ज्यों २ शिशु की वृद्धि होती है और वह बाल्यावस्था से युवावस्था में पहुंचता है त्यों २ ये वक्रताएं भी धीरे २ पूर्ण होती जाती हैं। युवावस्था में पहुँच कर पृष्ठवंश पूर्णतया विकसित हो जाता है। पृष्ठवंश के विकास पर बाल्यकाल तथा प्रारम्भिक युवावस्था की चाल ढाल, व्यायाम तथा बैठने और खड़े होने के ढंग का बहुत प्रभाव पड़ता है। एक स्वस्थ व्यक्ति का पूर्ण और समुचित रूप से विकसित पृष्ठवंश नतोदरता (दबाव) और उन्नतोदरता (उभार) से युक्त होना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि यदि बाल्यावस्था ही से झुककर बैठने या चलने की आदत पड़ गई तो उस से पृष्ठवंश विकृत हो जाएगा। उस के कारण सारे वक्ष का आकार बिगड़ जाएगा। इस प्रान्त की नतोदरता की कमी के कारण वक्ष के भीतर का स्थान कम हो जाएगा जिससे फुफ्फुस फैल न सकेंगे और उनमें वायु पर्याप्त मात्रा में न आ सकेगी। इससे फुफ्फुस सदा के लिए दुर्बल रह जाएगा और उन में रोगों के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाएगी। शरीर आगे की ओर झुक जाएगा। अतः बालक को उठने-बैठने चलने-खड़े होने की

ठीक आदतें सिखाई जानी चाहिए ताकि किसी प्रकार विकार न उत्पन्न हो सके।

एक सामान्य कशेरुका की रचना एक नगदार अंगूठी से कुछ २ मिलती जुलती होती है। जैसे अंगूठी के नग वाला भाग मोटा और घेरा बनाने वाला भाग पतला होता है—उसी प्रकार कशेरुका का भी अगला भाग मोटा होता है। इस मोटे भाग को गात्र या पिण्ड कहते हैं। जैसे २ हम पृष्ठवंश के ऊपर से नीचे की ओर के कशेरुका का अवलोकन करते चले आएगें तो हमें मिलेगा कि गात्र का आकार बड़ा होता जाएगा।

कशेरुका का दूसरा मुख्य भाग गात्र वाले भाग से लगा हुआ पतला घेरा सा होता है जिसे चक्र कहते हैं। इस चक्र के बीच में छिद्र होता है—सभी कशेरुकाओं में ये छिद्र एक दूसरे की सीध में रहते हैं और नलिका बनाते हैं जिसे रीढ़ की नली या कशेरुका की नली (Neural or spinal or vertebral Canal) कहते हैं। मस्तिष्क से निकल कर इसी नली में से होकर स्नायु संस्थान का वह लम्बा भाग जिसे सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord) कहते है—जाता है।

प्रत्येक घेरे से एक-एक छोटी हड्डी दोनों ओर उभरी रहती है। दोनों ओर के इन उभारों को पार्श्व प्रवर्धन कहते हैं।

घेरे के पिछले भाग में भी एक नौकीला उभार नीचे की ओर झुका हुआ रहता है। इस उभार को पार्श्व प्रवर्धन कहते हैं। ये उभार बड़ी सुगमता से रीढ़ पर उंगलियों से टटोलने पर अनुभव किये जा सकते हैं। इन्हीं नौकीले उभारों से बहुत से बन्धन (ligaments) लगे रहते हैं जिनसे ये कशेरुकाएं एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं। इन्हीं के उभारों के साथ अनेक मांस पेशियाँ भी लगी रहती हैं जो पीठ को झुकाने में सहायता देती हैं।

पहली कशेरुका जिसे शिरोधार कहते हैं वह अंगूठी जैसा होता है। इसका गात्र बिल्कुल नहीं होता। गात्र के स्थान पर एक महराब-सी होती है। इसके ऊपरी भाग में दो चिकने उभार होते हैं जिन पर खोपड़ी की पश्चात् अस्थि के दोनों सिरे टिके रहते हैं और इसी के सहारे खोपड़ी आगे पीछे घूमती है।

दूसरी कशेरुका (अक्ष—Axis) के गात्र के ऊपर भाग में दाँतों की तरह के उभार होते हैं—ये उभार शिरोधार की महराब में ठीक बैठ जाते हैं और

एक बन्धन के द्वारा जुड़े रहते हैं। ये भी खोपड़ी को घूमने में सहायता देता है।

पृष्ठवंश स्थित वात नाड़ियाँ

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि पृष्ठवंश के कशेरुकाओं के बीच में छिद्र होता है और उन छिद्रों की सीध के अनुसार एक लम्बी नलिका बन जाती है—उस नाली में मेरु रज्जु (Spinal cord) रहती है। यह कमल के नाल के समान दीखती है। इसका रंग मटमैला श्वेत या धूसर है। प्रथम ग्रैविक कशेरुका में प्रविष्ट होकर वहाँ से यह लगभग ३ फुट लम्बी जाती है—यह कटि प्रान्त की प्रथम कशेरुका पर पहुँचकर कई शाखाओं में विभक्त होकर समाप्त हो जाती है।

इस मेरुरज्जु (Spinal Cord) के दोनों ओर से वातनाड़ियाँ (Nerves) के ३१ जोड़े निकलते हैं। कशेरुकाओं के मिलने के स्थान पर उसके पार्श्व में जो अन्तर रह जाता है उसी में होकर वातनाड़ी बाहर निकलती है और वहाँ के अंगों में चली जाती है। जहाँ उसकी शाखाएं त्वचा और पेशियों तक में फैल जाती हैं। वातनाड़ी का एक पूर्व मूल बनाने वाला तन्तु निकलता है जो पेशियों से संकोच करवाता है जिससे गति होती है। एक पश्चिम गुच्छिका होती है। इस तरह पूर्व और पश्चिम मूल में जो तन्तु आते हैं उनके मिलने से एक साधारण सौषुम्निक वातनाड़ी बनती है। प्रत्येक वातनाड़ी में प्रेरक और सांवेदनिक दोनों प्रकार के वात सूत्र होते हैं। दोनों मूलों से निकलने वाले तन्तु कशेरुकान्तरिक छिद्र से तन्त्रिका के रूप में बाहर निकलने के पूर्व ही आपस में मिलकर एक वातनाड़ी बना देते हैं। इस छिद्र से निकल कर वातनाड़ी फिर कि बड़ी पूर्वशाखा और छोटी पश्चिम शाखा में विभक्त हो जाती है। पश्चिम शाखा पीठ की त्वचा और पेशियों में फैल जाती है। पूर्व शाखा जो पश्चिम की अपेक्षा बहुत बड़ी होती है अन्य वातनाड़ियों की पूर्व शाखाओं से मिलने से तीन बड़ी जालिकाएँ बनती है जो ग्रैवेयक—बहिवी और कटित्रिगा जालिका कहलाती हैं जिनसे अनेक तन्तु निकलकर भिन्न-भिन्न स्थानों में वितरित होते हैं। वातनाड़ी में पूर्व और पश्चिम दोनों मूलों के तन्तु आते हैं।

ये मेरु वातनाड़ियाँ मिश्रित होती हैं जिनमें प्रेरक और सांवेदनिक दोनों प्रकार के तन्तु रहते हैं। प्रेरक तन्तु प्रमस्तिष्क के धूसर भाग या प्रन्तस्था

(Cortex) में स्थित कोशिकाओं से निकल कर बीच में लाल केन्द्र (Red nucleus) आदि में होते हुए सुषुम्ना से पूर्व शृंग की कोशिकाओं में आते हैं। यहां से दूसरे तन्तु पूर्व मूल से निकलकर वातनाड़ियों में जाते हैं। सांवेदनिक तन्तु त्वचा आदि प्रारम्भ होकर इन्हीं वातनाड़ियों में होते हुए पश्चिम मूल की गुच्छिका में पहुँचते हैं। वहां की कोशिकाओं से दूसरे तन्तु निकलते हैं जो मेरु के पश्चिम शृंग में जाते हैं। वहां की कोशिकाओं से तीसरे तन्तु प्रारम्भ होकर मेरु शीर्ष स्तम्भ अणुमस्तिष्क आदि के केन्द्रों में जाते हैं। सम्भव है वहां से कोई अन्य तन्तु ही प्रमस्तिष्क में संवेदना ले जाता हो। सुषम्ना में कुछ तन्तु ऐसे भी हैं जो पश्चिम शृंग की कोशिकाओं से पूर्व शृंग की कोशिकाओं तक जाते हैं। अतः उत्तेजना पश्चिम शृंग की कोशिकाओं से पूर्व शृंग की कोशिकाओं में इन तन्तुओं द्वारा जा सकती है।

इस प्रकरण में यह भी बताया गया है कि सुषुम्ना के पूर्व मूल अर्थात् चालक वातनाड़ी की कोई जड़ कट जाए या नष्ट हो जाए तो उससे सम्बन्ध रखने वाली पेशी की गति रुक जाती है, किन्तु उस भाग में संवेदना पहले की तरह अनुभव होगी। इसी प्रकार पश्चात् मूल अर्थात् सांवेदनिक तन्तु की कोई जड़ कट जाए या नष्ट हो जाए तो गति तो रहेगी, संवेदना नष्ट हो जाएगी।

—:o:—

छात्रोपयोगी आवश्यक निर्देश

चतुर्थ पत्र 'रसशास्त्र' विषय पर है। इस विषय में भी १०० अंक का एक लिखित पत्र होता है तथा २५ अङ्क की मौखिक परीक्षा हुआ करती है। रस शास्त्र एक बृहत शास्त्र है जिसके अध्ययन में सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनों दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक होता है। वास्तव में चिकित्सा शास्त्र का आधार औषध है और औषधों के विषय में सभी ज्ञातव्यों को बताने वाला शास्त्र रस-शास्त्र है।

जहाँ हम विभिन्न द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं कि उनका शोधन-मारण कैसे होता है और उनका प्रयोग किस प्रकार करें तथा उसके गुण, कर्म क्या हैं—वहाँ हम यह भी जानते हैं कि उन द्रव्यों को किन-किन यन्त्रों—किन-किन विधियों की सहायता से प्रयोग योग्य बनाया जाता है। प्रयोग योग्य बनाने पर उसकी परीक्षा, उसके गुणकर्म का ज्ञान करना होता है—ये सभी विषय रस शास्त्र के अंग हैं।

इसी पत्र में रसशास्त्र के साथ-साथ रसायन वाजीकरण नामक दो आवश्यक विषय और भी हैं। अष्टांग आयुर्वेद में ये दो अंग भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रसायन तन्त्र में उन विधियों—औषधियों का वर्णन हुआ है जो जरा (बुढ़ापा) और व्याधि का नाश करने वाली हैं। वाजीकरण में पुरुषत्व शक्ति वर्धक विधियों को वर्णित किया गया है। खेद का विषय है कि सम्प्रति ये दोनों तन्त्र विकास को प्राप्त नहीं हो सके और हम यत्र-तत्र थोड़ा बहुत साहित्य ही उपलब्ध कर पाए हैं। चरक-संहिता के चिकित्सा स्थान के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय इन विषयों से भरे हुए हैं उनका अवलोकन करना चाहिए।

पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों का अध्ययन करना आवश्यक बताया है—

(क) रस शोधन प्रकार—हिंगुल से पारद निकलना—गंधक शोधन कज्जली-रस पर्पटी-रस सिन्दूर—मकरध्वज-षडगुण बलि (गंधक) जारण, रस कपूर, लौह-ताम्र, नाग-वंग-स्वर्ण-रजत-यशद, आदि का शोधन और मारण, अभ्रक शोधन तथा अभ्रक मारण, हरताल और मैनसिल का शोधन और मारण,

रस माणिक्य का बनाना, मण्डूर-स्वर्ण-माक्षिक-खर्पर आदि का परिचय तथा शोधन मारण, अंजन, तूतिया हीराकसीसादि का शोधन।

(ख) साधारण पुटपाकार्थ त्रिफलादिगण—विशिष्ट पुटपाकार्थ एरण्ड आदि गण तथा किरातादि गण; सम्पूर्ण लौह के निरुत्थीकरण के लिए मित्र पंचक आदि का वर्णन, मुक्ता-प्रवाल—शंख-शुक्ति-कपर्दीका-गोदन्ती आदि का शोधन—मारण आवश्यक गजपुट, महापुट आदि का वर्णन; आवश्यक डमरू यन्त्र, दोला यन्त्र, वालुकायन्त्र, पातालयन्त्र, वक्र यन्त्र आदि का वर्णन।

(ग) सिद्धौषध कल्पना—कथित प्रसिद्ध औषधियों के निर्माण और उपयोग की विधि।

(घ) रसायन तन्त्र—रसायन लक्षण—रसायन फल—रसायन प्रयोग—रसायन महत्व-विविध रसायन द्रव्यों का विवरण आदि।

(ङ) वाजीकरण तन्त्र—वाजीकरण परिभाषा—क्लीव लक्षण-क्लीवता के भेद, साध्यासाध्य लक्षण, क्लेव चिकित्सा, वाजीकरण की आवश्यकता, वाजीकरण पदार्थ—बीजीकरण प्रयोग—वन्ध्यादोष, वन्ध्यालक्षण, वन्ध्याभेद, वन्ध्या चिकित्सा आदि।

क्रियात्मक में पुट-यन्त्र-मित्रपंचक—निरुत्थीकरण, शोधनादि का ज्ञान, रसोपरस की पहचान और शोधन-मारण विधि विषोपविष की पहचान और शोधन विधि।

इस विषय का सही ज्ञान कुशल वैद्य के साथ रहकर कर्माभ्यास कर औषध निर्माण कला में दक्ष होना आवश्यक है।

चतुर्थ-पत्र

रसशास्त्र और रसायन, वाजीकरण

प्रश्न—रस चिकित्सा का प्रारम्भ एवं विकास कब और कैसे हुआ है? आयुर्वेदीय चिकित्सा में रसशास्त्र का क्या महत्व है? (१६७४)

उत्तर—रसशास्त्र विषयक तथ्यों को जानने के लिये हमें आरम्भ से विचार करना चाहिए। आयुर्वेद के वृहद्-त्रयी में चाहे पारद का नाम आया हो तो भी उसे रसशास्त्र नहीं कहा जा सकता। रसशास्त्र में हम निम्न ग्रन्थों का समावेश करते हैं और वास्तव में यह ही इस विषय के इतिहास को स्पष्ट करने वाले हैं।

(१) रस रत्नाकर या रसेन्द्र मंगल—रसशास्त्र का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ यह है। इसे नागार्जुन का बनाया हुआ कहा जाता है। यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दी में लिखा गया था। वास्तव में रसशास्त्र का इतिहास का श्री गणेश यहीं से होता है।

(२) रसहृदय तन्त्र—रसेन्द्र मंगल की अपेक्षा यह अधिक व्यवस्थित ग्रन्थ है। इसके रचना करने वाले का नाम गोविन्द बताया गया है। इस ग्रन्थ में १६ अवबोध हैं। इसके प्रथम अवबोध में रस-प्रशंसा है। वह रस को सिद्ध करने के पक्ष में है ताकि जगत से रोग एवं जरा को दूर किया जा सके।

दूसरे अवबोध में पारद के १८ संस्कारों का वर्णन है और उसमें अठारह में आठ का वर्णन मिलता है।

तीसरे अवबोध में अभ्रक-ग्रास की प्रक्रिया है। चौथे में अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्वपातन का विधान है। पांचवें अवबोध में गर्भद्रुति का विधान है। छठे अवबोध में जारण विधान, आठवें में बिड विधान, नवें में बीज विधान का वर्णन है। दसवें में वैक्रान्तादि में से सत्वपातन का विधान बताया गया है। ग्यारहवें अवबोध में बीज निर्वापण, बारहवें में द्वन्द्वाधिकार, तेहरवें में संकट बीज विधान, चौदहवें में संकट बीज जारण, पन्द्रहवें में वाह्यद्रुति,

सोलहवें में जारण, सत्रहवें में क्रामण, अठारहवें में वेध विधान, उन्नीसवें में शरीर शोधन के पश्चात् रसायन प्रयोग का वर्णन किया गया है।

रसशास्त्र पर व्यवस्थित रूप में ज्ञान देने वाला वास्तव में यह ही प्रथम ग्रंथ है। इसमें पारद के विषय में विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। इसका समय ११ वीं शताब्दी के आस-पास का माना जाता है। क्योंकि चक्रदत्त आदि के समय मे इस विषय का अधिक प्रचार नहीं था, इसीलिए उन्होंने उक्त विषय मे विस्तार से वर्णन नहीं किया।

यह रसशास्त्र के इतिहास में अग्रण्य ग्रन्थ है।

(३) रसार्णव—यह बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है। माधव ने सर्वदर्शन संग्रह में इसका वर्णन किया है। इसमें पार्वती परमेश्वर का संवाद है। इसके विभागों का नाम पटल है। इसमें मूषाएँ बताई गई हैं। सत्वपातन का विस्तार से वर्णन इसमें उपलब्ध है। रस सिद्ध करने के लिए अनेक द्रव्यों को साथ रखने का वर्णन किया गया है।

(४) रसेन्द्र चूड़ामणि—इस ग्रन्थ के कर्ता सोमदेव हैं। यह पुरवर महावीर वंश के थे। इसका समय १२-१३ वीं शताब्दी के मध्य का बताया जाता है।

इस ग्रन्थ में रस पूजन, रसशाला निर्माण-विधि, संग्रहण, परिभाषा, मूषा, पुट, यन्त्र का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें महारस, उपरस, साधारण रस का वर्गीकरण है। धातु रत्न का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

(५) रस प्रकाश सुधाकर—रसशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी रचना सम्भवत: १३०० ई० में हुई। इसके कर्त्ता यशोधर हैं। यह जूनागढ़ के रहने वाले श्री गौढ़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पद्मनाथ था जोकि वैष्णव धर्म को मानने वाले थे। इनके बाद में प्रकाशित रसरत्न समुच्चय में इसमें से बहुत से विषय लिखे गये हैं।

(६) रसराज लक्ष्मी—इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत महत्त्व है क्योंकि इसमें इससे पूर्व के रसशास्त्र के लेखकों के नाम निर्देश किये गये हैं। इसके कर्त्ता विष्णुदेव थे। इनका समय १३५४-१३७१ ईस्वी का माना गया है।

(७) रसेन्द्र सार संग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपाल भट्ट का

सेदा रेगमाही" नाम से यूनानी में प्रसिद्ध है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय यूनानी चिकित्सा का प्रचलन था। इस प्रकार नित्यनाथ का समय १३ वीं शताब्दी का होता है।

इस ग्रन्थ में रस के शोधन मारण आदि का विस्तार से वर्णन है और फिर ज्वर रोग तथा अन्य रोगों की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय तक रसशास्त्र का विकास एवं प्रचार बहुत हो चुका था। इसमें चक्रपाणि का भी वर्णन आया है।

(१२) रसेन्द्र कल्पद्रुम :—यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतः धातुओं एवं खनिजों का वर्णन है।

(१३) धातुरत्न माला :—यह १४वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें सर्वप्रथम अन्य प्राचीन धातुओं के अतिरिक्त खर्पर का वर्णन भी प्रथम बार उपलब्ध होता है।

(१४) रसरत्न समुच्चय :—इसका कर्त्ता वाग्भट्ट है। अष्टांग संग्रह के कर्त्ता वागभट्ट के समान ही इसके पिता का नाम भी सिहं गुप्त है। कुछ लोग इसे वही वागभट्ट कहते हैं किन्तु यह गलत है। इस ग्रन्थ की रचना १३वीं शती की मानी गई हैं। वास्तव में इसके पिता का नाम संघगुप्त है जिसको किसी पंडित ने सिंह गुप्त लिख दिया ऐसा श्री गणनाथ सेन मानते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रथम एकादश अध्यायों में रसोत्पत्ति, महारसों का शोधन आदि विषय दिये हैं। उसमें खनिजों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है— रस-उपरस-साधारण रस-रत्न और लौह।

रसरत्न समुच्चय में रसशास्त्र का बढ़ा हुआ स्वरूप देखने को मिलता है।

इसके पश्चात् भी अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ इस विषय में बने किन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं—केवल संग्रह मात्र ही समझना चाहिए। वास्तव में रसरत्न समुच्चय के पश्चात् रसशास्त्र विषयक शोधवृत्ति कम होती गई।

इस तरह यदि रसशास्त्र का इतिहास देखें तो हम कहेंगे कि रसविद्या का वास्तविक प्रारम्भ आठवीं शताब्दी से हुआ और १३वीं शताब्दी में उसका पूर्ण विकास हो चुका था। १६वीं शती तक वह स्थायी रूप में चलता रहा। इसके पीछे यथाश्रुत मात्र रह गया। यों तो आयुर्वेद प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना बाद में हुई और इस तरह १७वीं १८वीं शती तक रसशास्त्र की परंपरा रही।

वास्तव में देखा जाए तो रसतन्त्र में दो विषय हैं—धातुवाद एवं चिकित्सा धातुवाद बहुत पूर्व से भारत में प्रचलित था। गुप्तकाल का लोह स्तम्भ इसका प्रमाण है। दसवीं शताब्दी के लगभग चिकित्सा में भी इसका उपयोग होने लगा। इसलिए वास्तव में रस शास्त्र का प्रारम्भ १०वीं शती ही माना जाता है।

इस प्रकार रसशास्त्र का प्रारम्भ १०वीं शताब्दी पूर्ण विकास १४वीं से १६वीं शताब्दी तक रहा और पीछे केवल उसी विषय का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहा।

रसशास्त्र का महत्व :

आयुर्वेद चिकित्सा में रसशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। चरक संहिता-सुश्रुत संहिता आदि में वर्णित चिकित्सा का आज बहुत कम प्रचलन है और चिकित्सक रस चिकित्सा का ही अधिक प्रयोग कर रहे हैं इस का एक कारण है—जो रस चिकित्सा का महत्त्व बढ़ा।

रस चिकित्सा में पारद का प्रयोग होता है तथा ऐसी औषधियाँ अल्प मात्रा में उपयोगी हैं, अरुचि भी उत्पन्न नहीं होती तथा ऐसी औषधियाँ शीघ्र ही रोग को दूर कर आरोग्यदायक होती है। जहाँ कावय आदि काष्ठ औषधियाँ पूरी बड़ी मात्रा में खानी पड़ती हे—अरुचिकारक भी होती हैं और रोग को दूर भी देर मे करती हैं—वहां रस औषधियां की ऊपर वर्णित विशेषाएं होने से इन का महत्त्व होना स्वाभाविक ही है। न केवल यहाँ तक ही अपितु यह भी बताया गया है कि पारद मे यह शक्ति है कि साध्य रोगों को तो दूर करता ही है—असाध्य रोगो मे भी लाभ करने वाला है—यह बात भी रस औषधियों के महत्त्व को प्रदर्शित करती है। इस प्रकार रस औषधियों का चिकित्सा में अपना श्रेष्ठ स्थान है और यही बात सिद्ध करती है कि आयुर्वेद चिकित्सा में रस शास्त्र का महत्त्व है—ठीक उसी प्रकार जैसे एलोपैथिक चिकित्सा में कीमोथेरेपी का (रस औषधियों) महत्त्व हो गया है और जब से सल्फा औषधियां—एन्टीबायटिक्स निकले हैं—मिक्चर आदि कम हो गए है।

प्रश्न—रस (पारद) के दोष और लक्षण लिखकर रस के शुद्ध करने की कोई शास्त्र सम्मत उत्तम विधि लिखो। (१९७३)

उत्तर—पारद को अशुद्ध प्रयोग नहीं करना चाहिए। पारद में व्याप्त दोषों से निम्न प्रकार परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं—

दोष	रोग
विष	मृत्यु
नाग	व्रण, जाड्य
वह्नि	ताप
मल	जाड्य
वंग	कुष्ठ
चापल्य	वीजनाश
असह्याग्नि	मोह
गिरिदोष	स्फोट

इसमें विष, मल, वन्हि—सहजदोषः नाग, वंग—यौगिक दोषः भूमिजा गिरिजा या वारिजा दोष में—चापल्य, गिरिदोष, असह्याग्नि समाविष्ट हैं। सप्त कंचुक दोष पारद के प्रसिद्ध हैं।

रस शोधन (१९६७, ७३)

पारद के शोधन के दो प्रकार हैं—एक सामान्य शोधन तथा दूसरा विशिष्ट शोधन।

सामान्य शोधन के अन्तर्गत इन दोषों का शोधन करना होता है। नाग-दोष को हटाने के लिए घर का धुँआ, हल्दी तथा ऊन से पारद को मर्दन किया करते हैं। बाद में काँजी आदि अम्लद्रव से पारद को प्रक्षालन कर लेते हैं। वंगदोष के निष्कासन से लिए इन्द्रायण, अंकोल तथा हल्दी से मर्दन करने का विधान है। अग्नि दोष के लिए चित्रक के साथ करना चाहिए। मल दोष के निवारण प्रयोजन से अमलतास का प्रयोग ठीक रहता है। इसी प्रकार चपल दोष कृष्णधूतर के साथ दूर होता है। विष दोष त्रिफला से, गिरिदोष त्रिकटु से तथा असह्याग्नि दोष को गोखरू से मर्दन करते हैं। प्रत्येक मलने की क्रिया के वाद नींबू रस या कांजी आदि से प्रक्षालन भी कर लेना चाहिए।

अब पारद के विशिष्ट संस्कारों का परिचय देने की आवयकता है। इसमें आठ संस्कार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

(१) **स्वेदन**—क्षार अम्ल, तथा औषधादि को जल में मिलाकर दोलायंत्र में लटकाकर इसको ही पारद की स्वेदन क्रिया है। इसके लिए कपास के पत्तों के रस में, पारद से १६ अंश त्रिकटु शामिल कर लें तथा दोलायंत्र से आठ

दिन तक स्वेदन करने से पारद के सप्तकंचुक दोष भी नष्ट हो जाते हैं। स्वेदन संस्कार मलशैथिल्यीकरण के लिए है।

(२) मर्दन—घर का धुआँ, ईंट का चूरा, दही, गुड़, सैंधव, नमक, राई प्रत्येक पारद का सोलहवाँ हिस्सा लेकर तीन दिन मर्दन तथा प्रक्षालन करना चाहिए। यह मर्दन संस्कार,वहिर्दोष निष्कासनार्थ किया जाता है।

(३) मूर्च्छन—राई, कपास, मकोय, मेढ़ासिंगी, कालाधतूरा—में पारद को घोटते और कांजी में धोकर धूप में सुखाते रहने से पारे का मूर्च्छन संस्कार हो जाता है। जब पारद मर्दनीय द्रव्यों के साथ घुटता हुआ अपनी चपलता को त्याग कज्जल के समान हो जावे तब मूर्च्छित समझें। संस्कार मल, विष तथा अग्निदोष निवारण करता है।

(४) उत्थापन—मूर्च्छित (मरे हुए) पारद का पुनः अपने पूर्व रूप में प्राप्त होने का नाम ही उत्थापन संस्कार होता है। जो मूर्च्छित पारद हो उसका १६वां भाग अमूर्च्छित पारद मिलाकर खरल करें। इसमें नमक, शहद, व सुहागा मिलाकर मर्दन करके सारी पिष्टी वस्त्र में बांधकर दोलायन्त्र से स्वेदन करें मूर्च्छा से उत्पन्न दोष निवारणार्थ यह संस्कार करते हैं।

(५) पातन—पारद को किसी विधि से उड़ाकर उसकी वाष्प को शीतल कर लेना पातन कहलाता है। पारद का चाहे अधः, ऊर्ध्व व तिर्यक् पातन में से कोई सा किया जावे, उद्देश्य सबका एक ही रहता है। त्रिफला, राई, संहिजने की जड़, त्रिकटु, नमक, चित्रक तथा धान्याभ्रक सब पारद के समान लेकर कांजी में डालकर खरल द्वारा पिष्टी बनाकर सुखा लें। तीव्राग्नि पर पातन करें। पातन संस्कार में वकयन्त्र से काम निकाल लिया जाता है। यौगिक दोषनाशार्थ यह संस्कार बताया है।

(६) रोधन—मर्दनादि संस्कारों से उत्पन्न पारद का मन्दवीर्यत्व का उद्बोधन करने के लिए रोधन संस्कार होता है। अब इस पारद को सैन्धव-लवण चूर्ण के मध्य में रखकर ३ या सात दिन तक दोलायंत्र से स्वेदन कर लिया जाता है।

(७) नियमन—पूरी तरह पारद की चपलता को दूर करना या पारद की स्वाभाविक गति छुड़ाकर उसका बाँध देना ही नियमन संस्कार कहा गया है। भंगरा, लशुन, इमली, नौसादर, नागरमोथा के साथ पारद का स्वेदन करें।

(८) दीपन—पारद को जारण समर्थ बनाने के लिए दीपन संस्कार किया जाता है। इसके लिए चीते का क्वाथ तथा काँजी के साथ पारे को तीन दिन तक स्वेदन कर लेना चाहिए। सब संस्कारों में प्रत्येक शोधक पदार्थ का चूर्ण पारद की अपेक्षा १६वाँ भाग लेना चाहिए। इस प्रकार वह शुद्ध पारद चिकित्सा में प्रयोग होता है।

हिंगुल से पारद निष्कासन (१९६३, ६४, ६५, ६८, ७३)

हिंगुल से पारे को निकालने की अनेक विधियाँ है। सामान्यतः हिंगुल को खरल में अम्ल द्रव्य द्वारा भावना देकर टिकिया बना कर सुखा लें। इसे ऊर्ध्व पातन या विद्याधर यन्त्र द्वारा ऊर्ध्वपातन कर लें यह सब दोषों से रहित पारद माना जाता है।

इस विधि से प्राप्त पारद २ पल, शुद्ध गन्धक १ पल वटदुग्ध से मर्दन करें। मृदु अग्नि पर रखकर वट दंड से एक दिवस पर्यन्त घर्षण करने से पारद भस्म बन जाती है। भस्म, संग्रहणी, अतिसार, क्षयरोगनाशक, रसायन तथा वाजीकरण है। मात्रा आधे से १ गुञ्जा तक तथा मधु, दूध या मक्खन से देते हैं।

पारद से अनेक योग निर्माण किये जाते हैं।

प्रश्न—महारसों एवं उपरसों में भेद दर्शाते हुए बताइये कि दोनों कितने प्रकार के होते हैं ? गन्धक शोधन विधि समझा कर लिखिए। (१९६८)

उत्तर—रसशास्त्र में रसादि का वर्गीकरण कई दृष्टिकोणों से किया गया और भिन्न २ ग्रन्थकारों ने अलग २ मत व्यक्त किए। उनने रस को किसी वर्ग में न मानकर स्वतन्त्र रखा गया और उसके अनुसार पारद को रस कह कर सम्बोधित किया गया।

'रसरत्न समुच्चय' नामक ग्रन्थ में शेष रसों का वर्गीकरण करते हुए उनके तीन वर्ग वर्णित किए—यथा

(१) महारस
(२) साधारणरस
(३) उपरस

उनके अनुसार महारस वर्ग में ८ द्रव्यों का समावेश हुआ—यथा

(१) अभ्रक (२) वैक्रान्त (३) माक्षिक (४) विमल (५) शिलाजतु (६) तुत्थ (सस्यक) (७) चपल (८) खर्पर (रसक)।

साधारण रसों में प्रकरण के बताया गया है कि—

(१) कम्पिल (कमेला) (२) गौरी पाषण (संखिया) (३) नवसारक (४) कपर्द (५) अग्निजार (अम्बर) (६) गिरीसिन्दूर (७) हिंगुल (८) मृदार शृंग।

उपरस वर्ग में निम्न आठ चीजों का समावेश होता है—

(१) गन्धक (२) गैरिक (३) कासीस (४) कांक्षी (५) ताल (हरिताल) (६) मनःशिला (७) अंजन (८) कंकुष्ठ

यह रस रत्न समुच्चय का मत है—इस मत को दूसरे ग्रन्थकार स्वीकार नहीं करते। उनके अलग २ मत हैं। इस तरह इस विषय में मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। वास्तव में महारस-उपरस साधारण—इन संज्ञाओं से किसी विशेष निश्चयार्थ का बोध नहीं होता। चरक-सुश्रुत आदि आर्प ग्रन्थों में रस शास्त्र-विषयक प्रायः सब द्रव्यों का उल्लेख मिलने पर भी उनके वर्गवाचक महारस—उपरस और साधारण—इन संज्ञाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इन वर्गों में खनिज द्रव्यों के साथ अग्निजार को भी गिना है जो एक जांगम द्रव्य है—इसी तरह कमेला को भी ग्रहण किया गया है जो वानस्पतिक द्रव्य है। ऐसा लगता है कि अपने २ दृष्टिकोण से आवश्यकतानुसार ये वर्गीकरण किया गया होगा।

गन्धक शोधन विधि

गन्धक को उपरसों में गिना जाता है। यह एक खनिज पदार्थ है जिसे पार्वती का रज कहा जाता है। इसकी कई जातियाँ बताई गई हैं—परन्तु पीले रंग की गन्धक ही इस नाम से काम में ली जाती है। यह दो रूपों में मिलता है—एक चमकदार साफ पीले रग के टुकड़ों में—इसे आंवला सार कहा जाता है। दूसरा कुछ मैला दण्डाकार गन्धक। औषध में आंवलासार गन्धक को ही शुद्ध करके काम में लिया जाता है।

गन्धक के शोधन का प्रसिद्ध विधान यह है कि उसे घी में पिघलाना चाहिए और दूध मे बुझाना चाहिए। करना यह होता है कि गन्धक की मात्रा के बराबर घी लिया जाए और उस घी को लौह पात्र—कढ़ाई आदि में डालकर पिघला लें। अब समान भाग गन्धक को पीस कर—चूर्ण कर उसमें डाल दें। मन्द २ अग्नि पर थोड़ी देर में सब पानी हो जाएगी। एक दूसरे बड़े पात्र में

गन्धक से दुगुना दूध रखें। अब उस दूध के पात्र पर जो आधारिक्त हो, एक कपड़ा बांध दें। अब उस पिघले हुए गन्धक को कपड़े में से छान कर दूध में टपकने दें। इसको दूध में से निकाल गरम जल से धोलें। उसी को फिर घी मिला पिघलायें और नए दूध में बुझावें। तीन बार ऐसा करने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। यही विधि प्रायः कुशल चिकित्सक व्यवहार में लेते हैं।

प्रश्न—लोह शब्द से आप क्या समझते हैं? इसके भेद पृथक २ लिखिए। सोमनाथी ताम्र भस्म की निर्माण विधि बतलाइए। (१६६८)

उत्तर—संस्कृत भाषा में लोह शब्द धातु विशेष लोह (अयस्) के लिए भी प्रयोग में आता है तथा लुह छेदने अर्थ को लेकर धातुमात्र को भी लोह कहते हैं। प्राचीनकाल में सोना चाँदी आदि को धातु कह कर नहीं पुकारा जाता था अपितु इनके लिए लोह शब्द का प्रयोग किया जाता था। उस समय में धातु उन खनिजों को कहा जाता था जिन में किसी तरह का लोह विद्यमान हो।

लोह दो वर्गों में बताया गया—

(१) मिश्र लोह (२) अमिश्र लोह

अमिश्र लोह का वर्गीकरण करते हुए तीन भेद बताए गए—

(१) शुद्ध लोह में—(१) स्वर्ण (२) रौप्य (चाँदी) को कहा गया।

(२) साधारण लोह में—(१) ताम्र (२) अयस् को गिना गया।

(३) पूति लोह में—(१) नाग और (२) वंग को ग्रहण किया। इस तरह लोह (धातु) छः हुए।

इनके विषय में बताया गया कि सोना अक्षय लोह है। इसे अग्नि पर रख कर तपाने से किसी प्रकार की क्षीणता (घटोतरी) नहीं मिलती। रजत में कुछ घट जाता है। ताम्र चाँदी से ज्यादा घटती है। लोहा (अयस) ताम्र से अधिक छीजता है। नाग लोह से भी ज्यादा तथा वंग नाग से भी ज्यादा घट जाता है। इस तरह स्वर्ण को अक्षय धातु कहा गया। इन छः लोह का ज्ञान तो प्राचीन समय से था उसके बाद यशद को (जस्ता को) भी सातवीं धातु (लोह) मान लिया गया। वास्तव में यह खर्पर (खपरिया) से निकाली गई धातु है।

अमिश्र लोह के इन सात भेदों के बाद हम मिश्र लोह के विषय में बता

रहे हैं। इनमें वे द्रव्य गिने जाते हैं जिन में दो या दो से अधिक धातुओं का मिश्रण हो। वे मिश्र लोह निम्न हैं—

(१) पित्तल (२) कांस्य (कांसी फूल) (३) वर्त (भरत) इस प्रकार सात अमिश्र और तीन मिश्र धातुएँ होती हैं।

उपधातु के नाम से एक और वर्ग भी वर्णित किया गया है। रसरत्न समुच्चय में इन्हें महारसों में स्थान दिया गया है। पश्चात् कालीन आचार्य शार्गधर तथा इनके अनुयायी भाव-मिश्र ने इन सात धातुओं की उपधातुएँ बताते हुए कहा है कि जिस २ धातु की उपधातु होती है—उसके गुण भी होते हैं किन्तु इन में वे गौण रूप से होती हैं। वे निम्न प्रकार हैं।

(१) स्वर्णधातु की उपधातु स्वर्णमाक्षिक है।
(२) रजत धातु की उपधातु रजत माक्षिक है।
(३) ताम्र धातु की उपधातु तुत्थ है।
(४) वंग धातु की उपधातु कांस्य है।
(५) नागधातु की उपधातु सिन्दूर है।
(६) लोह की उपधातु शिलाजतु है। कुछ मण्डूर को मानते हैं।
(७) यशद की उपधातु पित्तल है।

इस तरह लोह शब्द और उसके भेदों के विषय मे प्राचीन साहित्य मे वर्णन उपलब्ध होता है।

सोमनाथी ताम्र भस्म

ताम्र के पत्र एक भाग लें और उतना ही पारद लें। हरिताल आधा भाग लें और मनःशिला चौथाई भाग लें। ताम्र-पारद आदि सभी शुद्ध ग्रहण करने चाहिए। ताम्र पत्रों को अलग रख कर शेष चार चीजों की कज्जली कर लें इस कज्जली से ताम्र पत्रों का आवृत्त कर गर्भ यन्त्र में रख कर एक पहर पकायें और स्वांगशीतल होने पर निकाल लें।

दूसरी विधि यह भी बताई जाती है कि दो भाग ताम्र पत्र ले कर, पारद एक भाग—गन्धक दो भाग लें। पारद और ताम्र पात्रों को घृत कुमारी के रस से घोट कर एक हांडी के तल में ऊपर नीचे गन्धक रख कर बीच में ताम्र पत्र रख दें। गन्धक से आवृत्त ताम्र पात्रों पर एक सकोरा रखकर संन्धि

बन्धन कर दें। शेष हाण्डी को लवण से भर दें। पश्चात् चूल्हे पर चढ़ाकर चार पहर तक पकावें। ठण्डा होने पर निकालकर ताम्र का चूर्ण कर लें।

इस तरह ताम्र की सोमनाथी भस्म बनाने की विधि 'रसशास्त्र' में लिखी है।

इस प्रकरण में यह स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा कि ताम्र का शोधन कैसे होता है। ताम्र के साधारण शोधन में ताम्र के सूक्ष्म कंटकवेधी पत्र बना कर अग्नि में तपा तपा कर तीन २ अथवा सात २ बार निम्नलिखित द्रव्यों से बुझाना है—(१) तेल (तिलों का) (२) तक्र (मट्ठा) (३) गोमूत्र (४) काञ्जी तथा (५) कुलत्थीक्वाथ। प्रायः सभी धातुओं का साधारण शोधन इसी प्रकार होता है।

ताम्र के विशेष शोधन में सामान्य शुद्ध ताम्र को सूक्ष्मवेधी पत्ररूप में ले कर उनके साथ यवक्षार—नीम्बू का रस अथवा कांजी तथा गैरिक मिलाकर अग्नि में पिघलाकर सात बार भैंस के तक्र में बुझावें तो ताम्र का विशेष शोधन हो जाता है। भस्म बनाने के लिए सामान्य शुद्ध ताम्र को अथवा अच्छा तो यह है कि विशेष शुद्ध ताम्र को ग्रहण किया जाए।

प्रश्न—स्वर्ण—लोह (अयस्)—अभ्रक—मनःशिला—हिंगुल—हरिताल स्वर्ण माक्षिक—शिलाजतु—तुत्थ के शोधनादि तथा भस्म निर्माण का वर्णन कीजिए।

उत्तर—स्वर्ण

यह एक अक्षय खनिज है जो बहुमूल्य द्रव्य है। पांच प्रकार का होता है—प्राकृत—सहज—अग्निज—खनिज और कृत्रिम। खनिज स्वर्ण हिमालय विन्ध्याचल तथा सुमेरु पर्वतों की खानों में पाया जाता है इसको अशोधित अवस्था में प्रयोग नहीं किया जा सकता अन्यथा यह बल-वीर्य का नाशक तथा कुछ रोगों का उत्पन्नकर्ता सिद्ध होता है।

स्वर्ण का सामान्य शोधन—पांच द्रव्यों में गर्मकर बुझाने से हो जाता है इसको आग पर तपा २ कर तैल—तक्र—गोमूत्र—कांजी और कुलथी के क्वाथ में बुझाते हैं। सात-सात बार बुझाने से स्वर्ण का शोधन हो जाता है। सभी ताम्र, रौप्य, लोह—आदि धातुएँ इसी सामान्य विधि से शुद्ध हो जाती हैं।

स्वर्ण की भस्म बनाने की विधि बताते हुए लिखा है कि शुद्ध स्वर्ण के कण्टकवेधी पत्र अथवा शुद्ध स्वर्ण का चूर्ण लेकर उन पर पारद भस्म अथवा रस सिन्दूर को बिजौरा नीम्बू के रस में घोट कर लेप कर दें। फिर लघु पुट (पांच उपलों की अग्नि) दें। इसी विधि से दस बार पुट देने से स्वर्ण की भस्म बन जाती है।

स्वर्णभस्म को $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{4}$ रत्ती की मात्रा में प्रयोग किया जाता है। यह क्षय, श्वास—कास—ग्रहणी—पाण्डुरोग—विष अरुचिका नाश करती है। ओज तथा बल की वृद्धि करती है कितने ही योगों में यथा वृहतवातचिन्तामणि-स्वर्ण पर्पटी —वसन्त कुसुमाकर रस—स्वर्ण सूत शेखर रस में स्वर्णभस्म मिलाई जाती है।

लोह (अयस्) (१९७३)

यह भी खानों में अन्य द्रव्यों के साथ मिला हुआ निकलता है। भट्ठियों में गलाकर लोह को अलग किया जाता है। मुख्य रूप से इसके तीन भेद किए हैं—मुण्ड लोह—(जो खानों से निकलता है) शुद्धलोह—(जो तपाकर गलाकर बनता है) तीक्ष्ण लोह (भट्ठी में पिघल शुद्ध लोह में मुण्ड लोह को कुछ मात्रा डालकर फौलाद बनाया जाता है जो तीक्ष्ण लोह कहलाता है।) सम्प्रति फौलाद (तीक्ष्ण लोह) को भी औषधार्थ ग्रहण करते हैं। कान्त लोह नामक एक जाति इस से श्रेष्ठ होती है परन्तु सरलता से नहीं प्राप्त होने से इसी को काम में लिया जाता है।

अशुद्धावस्था में लोह का प्रयोग हानि करता है—अतः उसका विशेष शोधन आवश्यक है। सामान्य शोधन स्वर्ण के समान होता है। सामान्य शोधन के पश्चात् लोह को पत्रों के रूप में अथवा चूर्ण के रूप में ले तीन तीन बार या सात-सात बार तथा तपा कर त्रिफला क्वाथ में बुझाने से लोह का विशेष शोधन होता है। त्रिफला क्वाथ हर बार नया ग्रहण करना चाहिए।

लोह भस्म बनाने की कई विधियाँ हैं। लोह के त्रिविधपाक प्रसिद्ध है—भानुपाक—स्थालीपाक और पुटपाक। भानुपाक में लोह को त्रिफला क्वाथ आदि में मिलाकर भानु-सूर्य की तीव्र धूप में रखकर सुखाया जाता है। स्थाली-पाक में क्वाथ भावित लोह को हांडी में डालकर आग पर रखकर पकाया जाता है। पुटपाक में भावित लोह की टिकिया बनाकर सुखाकर सम्पुट में रखकर गजपुट आदि में फूंक लेते हैं।

लोह भस्म त्रिफलाक्वाथ गोमूत्र—घृतकुमारी के द्वारा भावना देकर पाक करने पर भी बन जाती है और पारद-गन्धक की कज्जली के साथ फूंकने पर भी दूसरी विधि से अर्थात् पारद की सहायता से बनी लोह भस्म श्रेष्ठ कही गई है।

लोह भस्म रसायन है। पाण्डु—हलीमक—शोथ—विवर्णता की विभिन्न अवस्थाओं में इसका प्रयोग किया जाता है। नवायस लोह—विषमज्वरान्तक लोह—विड़गादि लोह में आदि तथा आरोग्यवर्धनी—चन्द्रप्रभा वटी—पंचामृत पर्पटी आदि योगों में लोह भस्म मिलाई जाती है।

अभ्रक (१९७३)

खनिज है जो नीचे के भाग से खोदकर काले अंजन के समान—चमकीला और भारी अभ्रक प्राप्त किया जाता है उसे श्रेष्ठ कहा गया है। अभ्रक की भी कई जातियाँ शास्त्रकारों ने बताई हैं। वज्र जाति के कृष्णाभ्रक को ही औषध में प्रयोग किया जाता है;

अभ्रक का शोधन करना आवश्यक होता है। सामान्य शोधन में बताया गया है कि एक कर्छी में अभ्रक को डाल तीव्र अग्नि पर पकाया जाता है। जब अग्नि वर्ण का हो जाय तो दूसरे पात्र में पड़ी हुई कांजी में बुझा दें। इस तरह सात बार कांजी में बुझाने से अभ्रक का शोधन हो जाता है। कांजी के स्थान पर गोमूत्र या त्रिफला के क्वाथ का प्रयोग भी किया जा सकता है। विशेष शोधनार्थ इसी शुद्ध अभ्रक को गोदुग्ध में सात बार बुझाना चाहिए।

अभ्रक से धान्याभ्रक बनाई जाती है। जिस विधि से अभ्रक को सूक्ष्माति-सूक्ष्म बनाया जाता है—उस विधि को धान्याभ्रककरण कहते हैं। करना यह होता है कि शुद्ध अभ्रक चार भाग तथा छिलके साथ धान १ भाग लेते हैं। दोनों को एक मोटे कम्बल में बांधकर पोटली बनाकर कांजी में—गोमूत्र में अथवा जल में तीन दिन अथवा एक दिन भिगोकर रख दें। इससे अभ्रक कोमल हो जाएगी। अब उस पोटली को कांजी या पानी में ही इस प्रकार हाथ से रगड़े कि वह अभ्रक बारीक होते २ कम्बल के छोटे छिद्रों से उस पानी या कांजी में निकल आवें। इस प्रकार रगड़ते २ जब सम्पूर्ण कण कांजी में निकल आवें तो उन कणों को एकत्रित कर सुखा लें। इस तरह जो सूक्ष्म अभ्रक बनता है, उसे ही धान्याभ्रक कहा जाता है। इस विधि से अभ्रक के

कंकर पत्थर कण ही दूर नहीं होते अपितु उसके सूक्ष्म हो जाने से मर्दन करना सरल हो जाता है।

अभ्रक भस्म बनाने के लिए इस धान्याभ्रक को विभिन्न औषधियों की पुट लगाकर पुट दिया जाता है। साधारण रोग नाश के लिए बीस से एक सौ पुट लगी अभ्रक काम में ली जाती है। रसायनादि कर्म के लिए एक सौ से हजार पुट लगी अभ्रक भस्म बनाने ली जाती है।

अभ्रक की भस्म बनाने के लिए आक का दूध, बड़ का दूध—थूहर का दूध—मकोय—नागरमोथा—कुमारी—गोमूत्र—वासा क्वाथ, त्रिफला क्वाथ आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

अभ्रक भस्म बनाने पर यह देखना आवश्यक है कि वह निश्चन्द्र हुई या नहीं। निश्चन्द्र (चमक रहित) होने पर ही अभ्रक भस्म को रोग शमनार्थ काम में लिया जाता है। यदि चन्द्रिका युक्त हो तो कच्ची समझनी चाहिए और उसके सेवन से प्रमेह—मन्दाग्नि आदि रोगों की सम्भावना रहती है। अभ्रक भस्म का भी अमृतीकरण किया जाता है। इसके लिए भस्म के बराबर गोघृत लेकर लोहे की कड़ाही में डालकर अग्नि पर पकावें। जब घृत सम्पूर्ण-तया जल जावे तब उतार लें। शीतल होने पर सब रोगों में प्रयोग करें। इस तरह अमृतीकरण करने से अभ्रक में अनेक पुटों से जो रूक्षता आदि आ जाती है, वह दूर हो जाती है और अभ्रक सर्वथा अमृत के समान हो जाता है। (अभ्रक के गुण कर्म आगे लिखेंगे।)

मनःशिला (१९७०)

यह नैसर्गिक रूप में भी मिलता है तथा कृत्रिम भी बनाया जाता है। नैसर्गिक का नारंगी रंग होता है। भारी होती है, और शीघ्र चूर्ण होने योग्य हो जाती है। कृत्रिम विधि से इसमें संखिया और गन्धक को विशेष विधि से मिलाकर बनाते हैं।

मनःशिला को अशुद्धावस्था में प्रयोग करने से अश्मरी-मूत्रकृच्छ—मन्दाग्नि मलबन्ध आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। शारीरिक बल का नाश होता है। अतः शुद्ध करना आवश्यक है। मनःशिला को खरल में डालकर पीसें तथा अद्रक स्वरस की भावना दें। इस तरह सात भावनाओं से मनःशिला शुद्ध हो जाती है। अद्रक की तरह ही अगस्त. जयन्ति—भृंगराज—का प्रयोग भी

किया जा सकता है। इन द्रव्यों के रस में या बकरे के मूत्र में दोलायन्त्र विधि एक पहर तक पकाने से मन:शिला प्रयोग योग्य हो जाती है। इसकी भस्म हरिताल की तरह की जा सकती है।

मन:शिला सब रसायनों में श्रेष्ठ है। रस में तिक्त और कटु—उष्णवीर्य तथा वातकफ शामक है। कास—क्षय—कण्डु, अग्निमान्द्य में प्रयोग की जाती है। चन्द्रोदय वर्ति में मन:शिला होती है और वह नेत्र रोगों में लेखन कर्म के लिए प्रयोग की जाती है। श्वासकुठाररस में मन:शिला होती है जो श्वास—कास को मिटाता है। शिलासिन्दूर योग मे शुद्ध मन:शिला होती है।

इस प्रकरण में यह ध्यान रखने की बात है कि मन:शिला से सत्वपातन किया जाता है। इसका सत्व भी तालवत ही निकाला जाता है। इसका प्रयोग भी कई रोगों की चिकित्सा मे किया जाता है।

हिंगुल

इसे सिंगरफ नाम से भी जाना जाता है। इसके भी दो भेद बताए हैं—खनिज और कृत्रिम। कृत्रिम पारद और गंधक के योग से बनाया जाता है। आजकल बाजार में यह कृत्रिम हिंगुल ही उपलब्ध हो रहा है। हिंगुल से पारद भी निकाला जाता है जिसकी विधि पीछे लिख चुके हैं।

हिंगुल को प्रयोग करने योग्य बनाने के लिए शुद्ध करना आवश्यक है। इसकी विधि यह है कि हिंगुल में एक बार भेड़ के दूध की भावना देनी चाहिए फिर तद्गत स्नेहांश को दूर करने के लिए सात बार अम्लवर्ग—नीम्बु के रस की भावना देकर सुखा लेने से वह शुद्ध हो जाता है। इसको ही औषधार्थ प्रयोग किया जाता है।

शुद्ध हिंगुल वर्ण को निखार कर केसर के समान बना देता है। यह नेत्र रोगहर—कफ प्रकोपनाशक—पित्त प्रकोपजन्य सर्वरोगनाशक—प्लीहा—कुष्ठ—कामला—का नाश करता अग्निवर्धक एवं आम पाचक होता है। सब प्रकार के पूयमेह को नष्ट करता है। कान्ति—बल तथा बुद्धिवर्धक होता है। ज्वरादि मे काम मे लिया जाता है।

हरिताल

इसे ताल भी कह दिया जाता है। यह भी खनिज रूप की तथा कृत्रिम बनी हुई दो प्रकार की मिलती है। यह भी गन्धक और संखिया का यौगिक है।

अशुद्ध हरिताल सेवन करने से आयु क्षीण होती है तथा शरीर की कान्ति नष्ट होती है और ताप की वृद्धि होती है। अतः इसको शुद्ध करके काम लेना होता है।

तवकी (पीत) हरिताल के छोटे २ टुकड़े करके दोलायन्त्र में लटका दें। दोलायन्त्र में पेठे का स्वरस भरकर तीन घंटे तक स्वेदन करें। इसी तरह चूने के पानी—तिलक्षार के जल—त्रिफला क्वाथ—तिल तैल को भी पेठे के स्वरस के स्थान पर दोलायंत्र में डाल सकते हैं। फिर पोटली खोलकर गरम पानी से धोकर हरिताल प्राप्त करना चाहिए।

हरिताल की भस्म बनाने की विधि भी बताई गई है—उनके अनुसार ढाक की जड़ का गाढ़ा क्वाथ करें। इस क्वाथ की हरिताल में तीन भावना दें। फिर भैंस के मूत्र में घोटकर अथवा ३ भावना देकर टिकिया बना लें। धूप में सुखा लें। शराव सम्पुट में रखकर १० जंगली उपलों की आग में पकावें स्वागशील होने पर निकालकर पुनः भैंस मूत्र में मर्दन कर पूर्ववत् १० उपलों की अग्नि दें। इस तरह १२ पुट देने से हरिताल की श्रेष्ठ भस्म बन जाती है।

हरिताल से रस माणिक्य भी बनाया जाता है। शुद्ध हरताल लेकर श्वेताभ्रक के पत्र पर रखें और ऊपर से दूसरा अभ्रक का पत्र रख दें। इन दोनों अभ्रक पत्रों को सिलाई कर दें। अब तीक्ष्ण अग्नि पर—कोयलों पर रखकर पकावें। जब अभ्रक के पत्रों के बीच की हरिताल पिघलकर माणिक्य के रंग की चमकदार हो जाए तो आग से निकालकर बाहर रख लें। शीतल होने पर उस चमकदार हरताल को पीसकर रख लें—यही माणिक्य रस है। और भी कई विधियाँ रस माणिक्य निर्माण की कही गई हैं।

रस माणिक्य कफवातजन्य कास—तमकश्वास—जीर्णज्वर—फिरंग—वातरक्त—कुष्ठ और नाड़ी व्रण का नाश करता है।

(हरिताल के गुण कर्म आगे लिखेंगे।)

सुवर्ण माक्षिक

सुवर्ण माक्षिक नववर्ण सोने के जैसे वर्ण का होता है। यह शुद्ध करके उपयोग में लिया जाता है। इसके शोधन के लिए यह क्रिया जाता है कि माक्षिक चूर्ण—३ भाग और सैंधव लवण १ भाग दोनों को लोहे की कढ़ाही

किया जा... । अथवा नीम्बु का रस मिला कर अग्नि पर रखें एक... हिलाते रहें। जब सब चूर्ण अग्नि वर्ण हो जाए तो ... शीतल होने पर बार २ जल से धोकर लवणांश ...क्षिक का उत्तम शोधन हो जाता है। इसी तरह अरण्ड ...में पकाने से भी शुद्ध हो जाता है।

माक्षिक के समभाग गन्धक मिलाकर और बिरौजा नीम्बु के स्वरस में घोट कर पिष्टी बना लें और छाया में सुखा लें। फिर उसको मूषा में बन्द कर वाराह पुट में पकावें। इस तरह पांच पुट देने से माक्षिक की भस्म बन जाती है।

सुवर्ण माक्षिक रस में मधुर—तिक्त—कुछ कषाय—कटुपाक—लघुगुण एवं शीत वीर्य है। वाजीकरण—रसायन—बलकारक—योगवाही—कफ—पित्त-क्षय—पाण्डु रोग—कृमि—कुष्ठ—ग्रहणी अर्श—मन्दाग्नि—कामला—रजमक्ष्मा-विष नाशक है।

शिलाजीत

पर्वतों की शिलाओं में से ग्रीष्म ऋतु में ताप के कारण जो लाक्षा जैसा स्राव बाहर आकर सूख जाता है। वह शिलाजीत है। यह पत्थरों में मिले हुए स्वर्ण-रजत ताम्र-लोह के संयोग से निकलने के कारण इन धातुओं के रंग के समान होती है। जो शिलाजीत गोमूत्र के समान गन्धवाली, काले रंग की हो—अत्यन्त भारी हो वही श्रेष्ठ होती है।

शिलाजतु शोधनार्थ गरम जल में घोल कर लोहे के पात्र में डाल कर तीव्र धूप में रख देते हैं। सूर्य की तीव्र किरणों से संतप्त होकर उस जल के ऊपर का भाग जब काला हो जाता है अर्थात् उस पर मलाई सी आ जाती है—तब उसको उतार कर दूसरे लोहे पात्र में डाल देते हैं। नीचे के शेष रहे जल को पुनः तीव्र धूप में रख देते हैं। इस तरह फिर मलाई उतार लेते हैं। इस प्रकार जो शिलाजीत प्राप्त होती है, वह सूर्यतापी शिलाजीत कहलाती है। अग्नि की सहायता से भी शिलाजीत प्राप्त की जाती है। करना यह होता है कि शिलाजीत के पत्थर को लेकर कूट कर पानी में भिगोते हैं—उसमें शिलाजीत का अंश आ जाता है। उसे नियार कर—रेत मिट्टी से रहित समझते हुए—त्रिफला क्वाथ-मिला कर आग पर पकाते हैं। इस तरह आग से तपाने

प्रश्न—रजत, नाग, वंग यशद तथा मण्डूर का शोधनादि तथा उपयोग लिखें।

उत्तर—**रजत** (१९६५, ६७,१९७३)

रजत (चांदी) सर्वविदित धातु है। स्निग्ध, मृदु, निर्मल तथा छेदन करने, तपाने, कसौटी पर घिसने चन्द्रमावत श्वेतवर्ण रहने वाली चाँदी उत्तम तथा ग्रहण करने योग्य होती है। अशुद्ध रजत के सेवन से ताप, विबन्ध, अंगसाद तथा वीर्यनाश होता है।

इसके पतले पत्रों को अग्नि में तपाकर के अगस्ति के स्वरस में तीन बार या चांगेरी के स्वरस में सात बार बुझाने से चाँदी शुद्ध हो जाती है। शुद्ध रजत कुक्कुटपुट में तीन बार भस्म करनी चाहिए। इस क्रिया से काले अंजन की तरह भस्म प्राप्त हो जायेगी।

चाँदी की भस्म अम्ल, कषाय रस, शीतवीर्य, त्रिदोषहर, रसायन, अतिमेध्य, लेखन, वयःस्थापन, सर, गर्भाशय शोधन, रसायन तथा प्लीहोदर, नाड़ीशूल, निर्बलता आदि रोगों को नाश करती है। मात्रा आधे से १ गुन्जा तक है।

नाग (१९६१, ६४, ६८)

नाग को सीसक (Lead) कहा जाता है। जो नाग गुरु, मृदु, बाहर से काला, छेदन करने पर अन्तः नीला तथा स्वच्छ आदि लक्षणों से युक्त होता है वही उत्तम है। अशुद्ध के सेवन से सन्धियों में दर्द, पेट में शूल, क्षीणता, भगंदर आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

नाग को द्रवित कर निर्गुन्डी स्वरस में सात बार बुझा देना चाहिए। इन से नाग की शोधन क्रिया सम्पन्न हो जाती है। अब मारण कीजिए। शुद्ध नाग मैनशिल, शुद्ध गन्धक सब बराबर भाग लें। वंग की तरह मैनशिल से कड़ाहे में नाग का चूर्ण बना लेना चाहिए। स्वांगशीत होने पर गन्धक मिलकर नींबू के रस से पीसकर चक्रिकाएँ बनावें। इनको सुखाकर लघुपुट में ३ पुट लगा देने मात्र से नाग भस्म प्राप्त हो जाती है।

नाग भस्म मधुर तिक्त रस व उष्णवीर्ययुक्त, लेखन, स्निग्ध तथा प्रमेह, वातव्याधि, संग्रहणी, बवासीर कफ सम्बन्धी रोग तथा स्त्रियों के प्रदर का शमन करती है। इसकी मात्रा $\frac{1}{4}$ से १ गुन्जा तक सेवन कराने की है। नाग भस्म अन्त्रशोषान्तक रस आदि में प्रयुक्त है।

वंग (१९६१, ६४, ६८, ७०)

वंग को शुकलोह (Tin) भी कहा जाता है। वंग दो प्रकार का है। जो मृदु, निर्मल, शीघ्रद्रव हो जाने वाला, शब्द रहित हो तथा चांदी के समान आभा युक्त-खुरवंग—नामक वंग हैं, वही औषध कर्म में प्रयोग करना चाहिए। मिश्रक वंग अग्राह्य है। अशुद्ध वंग प्रयोग से चर्म के रोग, गुल्म, क्षय, पांडु व भगन्दरादि उत्पन्न हो जाते हैं।

अतः वंग का शोधन इस विधि से कर लेना चाहिए। वंग को लोहे के पात्र में पिघलावें। फिर सम्हालू के रस में हल्दी का चूर्ण मिलाकर—इस मिश्रण में उसे तीन बार बुझाना चाहिए। इस विधि से शुद्ध वंग का अंवमारण कर शुद्ध वंग को लौहपात्र में पिघलावें। साथ ही इसमें वंग का चतुर्थांश लटजीरा का चूर्ण प्रक्षेप रूप में धीरे-धीरे मिलाना चाहिए। इसके नीचे तेज आँच देने के साथ धातु के दंड से आपस में मिलाते रहे। चूरा हो जाने पर इसको इकट्ठा करके शराव में रखकर २७ घंटे तक तीव्राग्नि दें। स्वांगशीत होने पर श्वेत भस्म प्राप्त हो जाती है।

वंग भस्म तिक्तकषाय लवणरस व शीतवीर्य युक्त, सर रूक्ष, मेदछ तथा प्रमेह, मेदोरोग, कृमिरोग, श्वास, रात्रिस्वेद नाशक रसायन-वाजीकरण है। वंग भस्म प्रमेह विकारों में विशेष रूप से प्रयोग की जाती है। सिंह जैसे हाथियों को नष्ट करते हैं, वैसे ही यह सब प्रमेहों पर कार्य करती है—ऐसा शास्त्र में उल्लेख है। वंग की मात्रा १ से ३ गुंजा है। उसे दूध शहद या उचित अनुपान से प्रयोग कराया जाता है।

यशद (१९६४)

यशद को खर्पर (Zincum) भी कहा जाता है। जो यशद काटने से स्वच्छ, स्निग्ध, मृदु हो तथा द्रुतदावी तथा गुरु हो वही औषध कर्म के लिए ग्रहण करना चाहिए। इससे उल्टे लवणों से युक्त यशद को प्रयोग न करें।

यशद को नाग की तरह शुद्ध तथा मारण वंग के समान करना चाहिए। यशद भस्म कसैली व कुष्ठ, विष नाशक एवं ताम्र के समान गुणकारी हैं।

मंडूर (१९६४, ६७, ६८)

लौहकिट्ट (Iron rust) मन्डूर का दूसरा नाम है। लौह के साथ इसको

भी ध्यान में रख लेना चाहिए। स्निग्ध, भारी पक्का व काला वर्ण का मन्डूर ग्राह्य है। इनमें छेद भी होना चाहिए। षष्टि वर्ष का अधम, सप्तति वर्षीय मध्यम तथा शतवर्षीय मन्डूर सबसे उत्तम माना गया है।

मन्डूर को भी शुद्ध करना होता है। मन्डूर को बहेड़ों के अंगारों में खूब गर्म करके गोमूत्र में सात बार बुझाएँ। अब शुद्ध मन्डूर का मारण किया जायेगा। त्रिफला के क्वाथ से सर्वप्रथम भावना दे। फिर उसे गजपुट में अग्नि दें। इस प्रकार ३० बार पुट देने से लाल चन्दन के वर्ण की भस्म तैयार हो जाती है।

मण्डूर मधुर, शीतवीर्य, मधुर विपाक युक्त, पित्तशामक, पांडु, कामला, शोफ, शोपरोग का नाश करता है और खून को विशेषतः बढ़ाता है। इसकी मात्रा १ से २ गुंजा तक होती है। मंडूर को पुनर्नवा मण्डूर, मण्डूर-वटक आदि में डालते हैं।

प्रश्न—अभ्रक, हरिताल, इनका शोधनादि तथा उपयोग लिखिए।

उत्तर—अभ्रक (१९६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८) **शोधन-मारण लिख चुके हैं।**

सामान्यतः २० से १०० पुटें देकर रोग के नाशनार्थ तथा १०० से एक हजार पुटें देकर रसायन कर्म के लिए अभ्रक भस्म प्रस्तुत करनी चाहिए, जिस भस्म में निश्चन्द्रता, सूक्ष्मता, स्पर्श कोमलता तथा अरुणवर्णता हो वही ठीक समझनी चाहिए। अमृतीकरण अभ्रक भस्म का इस विधि से करना चाहिए। अभ्रक भस्म १० भाग, त्रिफला क्वाथ १६ भाग, घृत ८ भाग—लौह पात्र में इनको मध्यम आंच से पकावें।

अभ्रक का सत्व पातन भी किया जाता है। इसके लिए वज्राभ्रक ४ भाग सुहागा १ भाग—इनको मूशली रस से घोटना चाहिए। फिर मूषा में रख कोष्ठी में द्रवित करने पर हमको काले रंग का सत्व मिलेगा। त्रिफला क्वाथ से मर्दन कर अम्लद्रव से धो लेने से अभ्रक सत्व की शुद्धि हो जाती है।

अभ्रक सत्व अभ्रक की भस्म की तरह लाभप्रद है। अभ्रक भस्म सुवर्ण वसन्त मालती, ज्वरार्यभ्रक आदि में प्रयुक्त है। अभ्रक के नित्य सेवन से वह वीर्य वृद्धि कर अतुल काम शक्ति देता है और उत्तम सन्तानोत्पत्ति व मृत्यु नाश करता है।

मल शुभ्र और हल्की अग्नि-आघात सहन करने वाला—यदि हो तभी उत्तम समझना चाहिये। कांसा फूल तथा तैलक दो प्रकार का होता है। इसमें सफेद फूल कांसा उत्तम माना गया है।

कांसे को शुद्ध करने के लिए उसे गाय के मूत्र में सात बार वुझाना चाहिए। इस प्रकार शुद्ध कांस्य पत्र एक तोला तथा इसी के वराबर गन्धक लेकर आक दुग्ध से भावना दें। फिर इसे धूप में सुखावें। इस द्रव्य को गजपुट में तीन वार भस्म करें—कांस्य भस्म प्राप्त हो जायेगी।

कांस्य सामान्यत: ताम्र की तरह गुणों वाला कहा गया है। यह तिक्त कपाय रस तथा कटुविपाक युक्त, लेखन, रुक्ष, सर, विशद, नेत्र रोग त्रिदोष-नाशक है। इसकी मात्रा ½ से १ गुंजा तक है।

पित्तल के भी स्थूलत: यही गुण कर्म शोधनादि समझना चाहिए।

अंजन (१९६४)

अंजन के भेद इतने हैं—कृष्णांजन (सौवीरांजन), स्रोतोंजन, पुष्पांजन, पारदपीत भस्म व श्वेतांजन। पर मुख्यत: अंजनों के स्रोतोंजन तथा सौवीरांजन दो भेद समझना चाहिए। स्रोतोंजन तथा सौवीरांजन यही शोध्य हैं। जो वल्मीक के शिखर के समान आकार वाला, तोड़ने पर अंजन के टुकड़ों के समान तथा घिसने पर गेरु के समान होता है। यह स्रोतोंजन (काला सुरमा) है। जो सुरमा पाण्डूर वर्ण (श्वेतामपीत) वह सौवीरांजन (सफेद सुरमा) है। काला सुरमा श्रेष्ठ माना गया है।

अंजन को एक सप्ताह त्रिफला क्वाथ में मर्दन करने से उसकी शुद्धि हो जाती है। काले तथा सफेद सुरमे की ही शुद्धि क्रिया की जाती है। सौवी-रांजन स्तम्भन, शीतल व नेत्ररोग, रक्तपित्त, रक्त प्रदर तथा रज:स्राव नाशक है स्रोतोंजन मधुर कषाय, लेखन, ग्राही तथा रक्तपित्त, नेत्ररोग, वमन, कफ पित्त दोष नाशक है। पुष्पांजन, रसांजन आदि के भी अपने-अपने गुण हैं। अंजन अधिक दिन तक आभ्यान्तर रूप से सेवन करना वर्जित है। इससे विष प्रभाव तथा रजोनाश भी होता है। अत: अधिक से अधिक तीन दिन तक ½ से १ गुंजा की मात्रा में सेवन किया जाता है।

कान्तपाषाण—कान्तपाषाण को चुम्बक कहते हैं। इसे नींबू के रस में पीस-कर पुन: सहिजने के स्वरस से दोलायन्त्र में चार याम तक स्वेदन करते हैं।

इस विधि से शुद्ध चुम्बक पत्थर को गाय के मूत्र तथा त्रिफला क्वाथ में पीसकर मृदुपुट में सात बार पुट देने से लाल रंग की कान्तपाषाण भस्म बन जाती है।

यह भस्म सामान्यतः लौह से समान गुणप्रद बताई गई है। चुम्बक लेखन, शीतल, पौष्टिक तथा गरविष, हृदयकम्प, रक्ताल्पता, पाण्डु, श्वास, जीर्णज्वर रक्तपित्त, मूर्च्छा व ज्वर आदि नाशक है। मात्रा २ गंजा है।

प्रश्न—कासीस, खर्पर, गैरिक का शोधनादि तथा उपयोग लिखिए।

कासीस—कासीस (आयरन सल्फेट) के चूर्ण कासीस तथा पुष्प कासीस दो भेद बताये गये हैं। सफेद रंग का चूर्ण कासीस होता है। जो कासीस हरा, स्वच्छ हो उसे पुष्पकासीस कहते हैं। यही औषधियों में प्रयोज्य है।

कासीस को भृंगराज के स्वरस में तीन घंटे तक दोलायन्त्र से स्वेदन करने से वह शुद्ध हो जाता है। फिर इस शोधित कासीस का सेहुण्ड पत्र स्वरस से भावना देकर तब तक पुट दीजिए जब तक कि कासीस की अम्लता समाप्त न हो जावे। जब खट्टापन उसका नष्ट हो जावे तो कासीस भस्म प्रस्तुत हुई जानना चाहिए।

यह कषाय, उष्णवीर्य युक्त, केश्य, नेत्र्य, रक्तवर्धक, रजप्रवर्तक, श्लेष्म-कला संकोचन तथा तिल्ली बढ़ जाना, वातकफदोष नाश करता है। कासीस मूत्रकृच्छ, कुष्ठ, विष आदि नाशकरता है। इसकी मात्रा आधे से १ गुंजा पर्यन्त है। कासीसादि तैल में प्रयुक्त है।

खर्पर (१९६५)

खर्पर (जिंक कार्बोनिट) के सदल तथा निर्दल दो भेद होते हैं। प्रथम प्रकार काखर्पर सत्वपातन के कार्य में आता है। द्वितीय प्रकार का निर्दल खर्पर औषधि कर्म में युक्त होता है।

इसका शोधन मृद्दारश्रृंग की तरह करते हैं। अतः खर्पर को टुकड़े कर उसमें से मिट्टी का अंश निकाल देना चाहिए। इस खर्पर को नींबू के रस में सात बार पीस लें। इस प्रकार खर्पर की शुद्धि कर लेते हैं। अब मारण कीजिए। शुद्ध पारद व शुद्ध खर्पर बराबर मात्रा में मिलाकर वराहपुट में रखकर, जंगली उपलों द्वारा अग्नि लगानी चाहिए। तीन बार पुट देने से खर्पर की पीली भस्म प्राप्त हो जाती है।

खर्पर शीतल व कफपित्त दोष, नेत्ररोग, रक्तपित्त, रक्त प्रदर, जीर्णज्वर, प्रमेह, अर्श, अतिसार नाशक है। इसकी मात्रा ½ से २ गुंजा तक है।

गैरिक—गैरिक (गेरू) जो पाषाणों व मिट्टी की अधिकता वाली हो उसका प्रयोग यहाँ औषधि में त्याज्य है। स्वर्ण गैरिक लौह की अधिकता वाली होती है। यही ग्रहण करने योग्य बताई गई है।

गैरिक को गाय के दूध से भावना देकर, उसे शुद्ध कर लेना चाहिए। गोघृत में धीमी आंच पर भूंजते भी हैं। गैरिक मधुरकषाय, शीतल, संग्राही, व्रणरोपण तथा ज्वर, रक्तप्रदर, उदर्द, वमन, हिक्का, रक्तपित्त, रक्तस्राव, ताप, शीतपित्त आदि रोगों में प्रयोग की जाती है। मात्रा २ से ८ गुंजा तक देना चाहिए।

प्रश्न—मुख्य रत्नोपरत्न का शोधनादि उपयोग सहित लिखें।

उत्तर—माणिक्य—माणिक्य (Ruby) अति बहुमूल्य चीज है। जो माणिक्य हल्का, कर्कश, विरूप, टेढ़ी धूएँ के रंग का है उसे प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो माणिक्य लाल कमल के रंग की तरह, प्रयुक्त तथा चारों तरफ से ठीक हो उसे ग्राह्य बताया गया है।

माणिक्य को नीम्बू के रस में दोलायन्त्र से एक याम तक स्वेदन करना चाहिए। फिर शुद्ध माणिक्य शुद्ध मैनसिल तथा शुद्ध गंधक—सब बराबर की मात्रा में लेकर नीबू के रस मे एक सप्ताह तक पीसें। फिर इस द्रव्य को गज-पुट में आठ पुट लगायें। इस विधि से पांडुर वर्ण की भस्म प्रस्तुत हो जायेगी।

माणिक्य भस्म मधुर, शीतल, रसायन तथा कफदाह, क्षयरोग, वातपित्त नाशक है। इसके साथ ही यह भूत बाधा, पाप को भी नष्ट करता है। इसकी मात्रा १।४ से एक गुंजा तक है।

मौक्तिक (१९६५, ६७)

मोती (pearl)—दीर्घ पार्श्वकृश, रूक्ष, व्रणों सहित श्याम, चमक रहित तथा तीन कोण वाला ग्रहण नहीं करना चाहिए। चिकना, गोल, खुरदरेपन से रहित, किरण के समान निर्मल, पानी की प्रभावाला, गोल तथा शालिधान के छिलके व गोमूत्र के साथ मर्दन करने पर भी जिसकी कान्ति नष्ट न हो—ऐसा मोती अगर लिया जावे तो बहुत सुन्दर।

मोती का शोधन करने के लिए उसे अगस्त या जयन्ती के स्वरस में दोलायन्त्र

लिख आए हैं। ये पाँच प्रकार—स्वरस, कल्क, शृंतकषाय, शीत कषाय तथा फाँट हैं। रस शास्त्र में औषध निर्माण (शोधन, मारण, निर्माण आदि) से कुछ गणों का बराबर कार्य पड़ता है।

पंचमृत्तिका—ईंट का चूर्ण, वाल्मीकि मृत्तिका, गैरिक, लवण, भस्म।

अम्लवर्ग—जंबीर, दाड़िम, नींबू, अम्लिका, अम्लवेत, नारंगी, वृक्षाम्ल, बीजूपरक, चणकाम्ल करमर्दक, चुक्र, चांगेरी।

क्षारपंचक—मुष्कक, यव, सर्जिका, तिल, पलाश क्षार।

अम्लपंचक—अम्लवेतस, जम्बीर, मातुलुंग, निम्बू, नारंगी।

क्षाराष्टक—स्नुही, पालश, अपमार्ग, चिचा, अर्क, तिलनाल, स्वर्जिका, यवक्षार।

क्षारद्वयम्—स्वर्जिका क्षार, यवक्षार।

क्षारत्रय—स्वर्जिका, टंकण, यवक्षार।

पचतिक्त—गुडूची, निम्बत्वक्, वासा, कंटकारी, पटोल।

पंचामृत—गोदुग्ध, दही, घी, मधु, शर्करा।

क्षीरत्रयम्—अर्क, स्नुही, वटक्षीर।

तैलवर्ग—तिल, सर्षप, धत्तूर, एरंड, अलसी, निम्बबीज।

द्रावक वर्ग—गुंजा, मधु, गुड़, घृत, टंकण, गुग्गुल।

मित्रपंचक—घी, गुंजा, टंकण, मधु, गुग्गुल। (१९६३, ६५)

मधुरत्रिक—मधु, घृत, गुड़।

मूत्राष्टक—महिषी, बकरी, भेड़, ऊंट, गो, गर्दभी, घोड़ा, हाथी का मूत्र।

लवणत्रिक—सैंधव, सौवर्चल, विड़।

लवणपंचक—सैंधव, सामुद्र, सौवर्चल, बिड़, रोमक।

वनस्पति वर्ग—काकोदुम्बर, स्नुही, दग्धिका, अर्क, उदुम्बर, वट, अश्वत्थ, लोध्र।

दुग्ध वर्ग—(जंगमवर्ग) हस्तिनी, घोड़ी, गाय, भेड़, बकरी, ऊँटनी, महिषी, गदही, नारी।

त्रगन्धक—गन्धक, हरिताल तथा मैनसिल

प्रश्न—रसशास्त्र की मुख्य परिभाषाएं लिखिए।

उत्तर—रसशास्त्र के विषय में कुछ शब्द प्रयोग करके औषध का शोधन,

खरल में औषधियों के स्वरस, गोमूत्र आदि द्रवय पदार्थों में घोट कर उसे अग्नि पुट देकर भस्म बनाने की पद्धति को मारण कहा जाता है।

पिष्टी—मोती, प्रवाल आदि के चूर्ण को पत्थर के खरल में डालकर केवड़ा गुलाब आदि के अर्क में घोटकर जो सूक्ष्म चूर्ण बनता है उसे पिष्टी कहते हैं।

निरुत्थ भस्म (१९६४)

किसी धातु की भस्म को गुड़, गुंजा, सुहागा तथा घी के साथ मिला मूषा में रख उस भस्म के बनाने में कम अग्नि के बराबर उतनी अग्नि देने पर फिर भस्म धातु रूप में न आ जावे तो उसे अपुनर्भव या निरुत्थ भस्म कहते हैं।

रेखापूर्ण तथा वारितर भस्म जो धातु भस्म तर्जनी और अँगूठे के बीच में रगड़ने से उनकी रेखाओं में प्रवेश कर जाये तो वह रेखापूर्ण भस्म कहलाती है। जो धातु भस्म जल में तैर सकती है, उसको वारितर भस्म नाम दिया गया है।

भावना—किसी धातु या वनस्पति के चूर्ण को द्रव से गीला कर खरल में घोटना भावना कहलाता है। जब स्वरस की चूर्ण में भावना देनी हो तो चूर्ण में द्रवपदार्थ इतना डालो कि सारा चूर्ण या भावनीय पदार्थ डूब जावे। फिर इसको मर्दन करके सुखाना चाहिए। स्वरसों की भावनाओं से गुण वृद्धि तथा दोषों का परिहार भावना के मुख्य प्रयोजन हैं।

स्वांग बहिःशीत—चूल्हे या पुट में रखी हुई वस्तु जो अपने आप ठण्डी शीतल हो जाये तो उसको स्वांगशीतल तथा अग्नि से बाहर निकालने पर शीतल की जाये (हो जाये) तो उसे बहिःशीत नाम दिया गया है।

निर्वापण—अग्नि में गर्म की हुई किसी वस्तु को जल में बुझाने की क्रिया को निर्वापण या निर्वाप कहते हैं।

शुद्ध वर्त-बीजावर्त—जब अग्नि खूब प्रज्वलित होकर उसमें से श्वेतवर्ण की ज्वाला उठने लगे तो उसको शुद्धावर्त कहा जाता है। ऐसा लक्षण यह बताता है कि धातुओं से सत्व निकलने का समय आ गया है। द्रव्य धातु के वर्ण के समान यदि ज्वाला दिखाई दे तो वह बीजावर्त है। यह द्रव्य के द्रवीकरण या पिघलने का समय होता है।

ताड़न—मिश्र लोहों में से एक धातु का नाश तथा दूसरी धातु के प्राप्ति

उष्ण वीर्य तथा वातशामक है। इस गण का चूर्ण वातव्याधि, पार्श्वशूल, कटिशूल अजीर्ण, शूल, आध्मान आदि वातविकारों में प्रयोग करते हैं।

८. त्रिकटु

इसमें शुण्ठी, पिप्पली, तथा मरिच का समावेश करते हैं। यह गण कटु रस-विपाक, वीर्य उष्ण, स्वेदजनन, वात कफहर है। त्रिकटु श्वास, कास, गुल्म, प्रमेह, स्थूलता, मेदोरोग, श्लीपद, पीनस तथा चर्मरोग में उपयोगी है।

९. चतुरूषण—

त्रिकुट में पिप्पलीमूल सम्मिलित कर देने से यह गण बनता। इसके गुण त्रिकुट से कुछ विशिष्ट है।

१०. पंचकोल—(१९६१)

इसमें पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा शुण्ठी द्रव्य समाविष्ट हैं। सब द्रव्य कोल (आधाकर्ष) परिमाण के लिए जाते हैं। यह गण कटुरस कटुविपाक, उष्णवीर्य, दीपन, पाचन, कफ वातहर व पित्त प्रकोपण है। इसको गुल्म, प्लीहा, उदर, अनाह तथा शूल रोगों में प्रयोग करते हैं।

११. षडूषण (१९६३)

पंचकोल में मरिच मिला देने से षडूषण बन जाता है। यह रूक्ष, विशेष उष्ण तथा विपघ्न है। मरिच के कारण पंचकोल की स्निग्धता दब जाती है।

१२. अष्टवर्ग (१९६२)

इसमें पिपली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि तथा वृद्धि—आठ द्रव्यों का समावेश होता है। यह रस-विपाक में मधुर, शीत-वीर्य, गुरु, शुक्ल, बृंहण, सन्धानीय, बल्य, वाजीकरण, दाहप्रशमन, तृष्णा-प्रशमन, वातपित्तहर है। रक्तपित्त, दुर्बलता, ज्वर, प्रमेह, क्षय, प्रभृति रोग नाशक रसायन है।

१३. क्षाराष्टक

इसमें पलाश, वज्री, अपामार्ग, चिंचा, अर्क, तिलनाल के क्षार तथा यव-क्षार सज्जीक्षार समाविष्ट हैं।

१४. पित्तपञ्चक

इसमें मछली, गाय, घोड़ा, मनुष्य तथा मयूर के पित्त होते हैं।

आवश्यक हैं। इससे धूप आती रहेगी, सील नहीं रह पावेगी। उपयोगी चीजों के रखने की अलमारियां लगवा दी जानी चाहिए। तुला आदि प्रयोग के यन्त्र रखने के लिए शाला में ही चोरस चबूतरे जैसे स्थान आवश्यकतानुसार बने हों। मेज भी लगाई जा सकती हैं। शाला में बाहर जल के लिए नालियां भी हों। रसायनशाला की दीवालों पर रस सिद्धि आचार्यों के चित्र तथा उपयोगी वाक्यों के पट्ट टांग देना भी अच्छा रहता है। रसायनशाला में तो थूकना, नाक सिनकना आदि वर्जित होना चाहिए। सामान्य दिन में एक बार सफाई अवश्य करवाते रहें। प्रातः सायं जन्तुघ्न तथा सुगन्धित द्रव्यों का धूपन करना अच्छा रहता है।

(क) प्रयोगशाला

रसायनशाला के प्रयोगशाला तथा रसनिर्माणशाला दो भाग कर दिये जावें तो सुविधा रहती है। प्रयोगशाला में 'लेबोरेट्री' की तरह सामान होने चाहिएं। इसमें निर्माण हुए रसादिकों का प्रयोग या परीक्षण किया जावे। यहीं नये आविष्कारों का जन्म दिया जाता है। रसनिर्माणशाला प्रयोगशाला से मिली अथवा दूर स्थान पर—दोनों ही प्रकार से बनाई जा सकती है। अपनी सुविधा के अनुसार इनका विस्तार छोटा या बड़ा रखना चाहिए। प्रयोगशाला में तुला, स्प्रिट लैम्प, परीक्षण नलिकाएँ, कांचकुप्पियां, अग्निसह काँच की प्यालियां व चौड़े बर्तन, रबर की नलियां, काँच के बड़े जार या ग्लास, काँच के औषधिमापक पात्र, द्रवपरिस्रावक यन्त्र, मापक यन्त्र, काँच की शालक, चिमटी, फुंकनी, छन्ना कागज (फिल्टर), खरल तथा रासायनिक द्रव्य उपस्थित रखे जाते हैं।

रसायनशाला में कौन सा कार्य किस-किस दिशा या स्थान पर हो इसका उल्लेख प्राचीन शास्त्रों में मिलता है। गैस के चूल्हे, भट्ठी आदि पर रखकर चीजों का शोधन, पाक करना या बनाना आदि कर्म रसायनशाला के आग्नेय कोण में करें। द्रव्यों के कूटने पीसने घोंटने प्रभृति कार्य दक्षिण में सम्पन्न करें। छेदन, भेदन आदि के शस्त्र कर्मों का स्थान नैऋत्य कोण में हो। धोने, छानने आदि के कार्य पश्चिम कोण में करायें। पदार्थों को सुखाने, फैलाने जैसे कार्यों का स्थान वायु कोण हो। उत्तर कोण में धातुओं के संकरीकरण वेधन व यौगिक निर्माण के लिए तथा सिद्ध वस्तुओं को ईशान कोण में रखना

१० से १००नम्बर तक की जाली युक्त बाजार में खरीद सकते हैं। जौकुट चूर्ण बनाने के लिए १० नं० वाली, साधारण चूर्णों के लिए ६० या ७० नं० वाली, गोलियों के लिए ८० या १०० नम्बर की जाली वाली चलनी को काम में लाते हैं। छानने के बाद उन्हें पोंछ, साफ कर रखना चाहिये। छानने के काम में आवश्यकतानुसार महीन या मोटा कपड़ा भी प्रयोग किया जा सकता है।

कपरोटी करने की मृत्तिका (मिट्टी) तथा उसके विधान का विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थल है। इसे केवल मुलतानी मिट्टी ही न समझ लें। शास्त्रकार के अनुसार इस कार्य में प्रयुक्त मिट्टी कृष्णवर्ण की, भारी, चिकनी, लेसदार, रेत-कंकड़ न हों, ऐसी मिट्टी ग्रहण करें। कांचकुप्पी का विषय भी विस्तृत है। कांच, मिट्टी सोना, लोहा व चाँदी की कुप्पियाँ बनती हैं।

प्रश्न—मूषा किसे कहते हैं ? रस शास्त्र में उसकी उपयोगिता क्या है ? विविध मूषाओं का वर्णन कीजिए। (१९६९—१९६६)

उत्तर—रसशास्त्र के आरम्भ और स्वर्ण रजत लोहकारों के जीवन के श्रीगणेश के साथ मिट्टी की एक प्याली में पकाने से सोना, चांदी, तांबा, रांगा, जस्ता, आदि धातुएँ गल जाती हैं। उन्हें गलाकर सुनार विविध आभूषण ढालते हैं तथा रसशास्त्री उनके द्वारा अनेक जीवनोपयोगी औषधियों का निर्माण करते व हेमकरी विद्या वा रजतकरी विद्या का ज्ञानार्जन कर सोना व चांदी का पारद तथा अन्य धातुओं के योगों से निर्माण करते हैं।

सचमुच देखने में क्षुद्र पर कार्य की दृष्टि से अतीव उपादेय रस घरिया का जिस दिन आविष्कार किया गया होगा, वह दिन निःसन्देह व्यक्ति के धातु के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रथम दिन रहा होगा।

मूषा को क्रौंची, क्रौंचिका, कुमुदी, कुमुदिका, करहाटिका, पाचनी, अग्नि-मित्रा, वह्निमित्रा तथा पाठ भेद से कोविका, करमादिका, पावनी, पातनी आदि नामों से रसशास्त्री पुकारते हैं।

क्रौंच नामक पर्वत की मिट्टी से बनने के कारण क्रौंचिका तथा करहाट नामक देश से प्राप्त मिट्टी के कारण इसका करहाटिका नाम पड़ा होगा। औषधियों या धातुओं का पाचन करने से "पाचनी" धातुओं की अशुद्धि दूर कर उन्हें पावन करने से पावनी और उन्हें गला कर पतित करने से पातिनी नाम इसके कालान्तर में रखे गये हैं। इसका आकार कुमुद के समान होने से

कुमुदिनी तथा अग्नि के साथ इसकी मैत्री के सम्बन्ध होने से ही यह अग्निमित्रा कहाती है।

निरुक्ति

इसका सर्वोपरि नाम मूषा है इसकी निरुक्ति करते हुए आचार्य रस वाग्भट्ट महोदय लिखते हैं—

जिन दोषों का हटाना, अत्यावश्यक (मूषेचान्दोषान) है उन्हें जो नष्ट कर देती है (मुष्णाति) अतः इसे कहते हैं।

मूषा के घटक

एक चांदी की चम्मच में सोना डालकर अग्नि पर गलाने का प्रत्यन करें। सोना जब तक गलेगा उस से पहले चांदी की चम्मच गलकर राख में मिल जावेगी। और उसका सोना भी साथ ही गिर जायेगा। सीसे की प्याली में जस्ता गलाने से वही दशा होगी।

इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक धातु के द्रवणांकों में थोड़ा बहुत अन्तर ही होने से एक को दूसरे में रखकर गलाया नहीं जा सकता। लोहा ऐसी धातु है, जिसे गलाने के लिये कोई एक धातु का पात्र कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

यह संभव है कि किसी धातु के पात्र में कोई एक दूसरी धातु गल भी जावे तो भी गला हुआ तरल शुद्ध एक धातु न होकर एक मिश्र प्राप्त कर उसकी भस्म करना या आभूषण बनाना असंभव हो जावेगा। इस अवस्था में रस वैद्यों को ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हुई जिसके द्रवणांकों में आकाश-पाताल का अन्तर हो जो धातुओं को द्रवणावस्था में उनको अशुद्ध न कर दे तथा जिन धातुओं में निहित अशुद्धियों को नष्ट करने की भी सामर्थ हो। इन सबसे बढ़-कर बात यह है कि जो उच्च ताप को सहने में समर्थ्य हो। ऐसा उपयोगी पदार्थ विचार करने पर मिट्टी और उसके अन्य सहयोगी घटकों का ज्ञान प्राचीनों ने प्राप्त किया।

मिट्टी—प्रत्येक मिट्टी से मूषा नहीं बना करती। इसके लिए रस वाग्भट्ट ने लिखा है कि रंग में हल्की पीली—बारीक और कंकड़ियों से रहित अथवा लाल पीताभ बालू रहित मिट्टी का उपयोग मूषा निर्माण में करना चाहिए।

इस प्रकार मिट्टियां न मिलने पर बांबी की मिट्टी या कुम्हार की वर्तन बनाने में प्रयुक्त मिट्टी उपयोग कर सकते हैं, वही मिट्टी मूषा के निर्माण में समर्थ होती है। जो चिरकाल तक अग्नि में रखे जाने पर भी तिरकती नहीं है। इस ओर सुनार दिल्ली की मिट्टी नाम से बिकने वाली मिट्टी से मूषा बनाते हैं।

हमारे परममान्य आचार्य कुलकर्णी महोदय ने मूषा बनाने के उतयुक्त मिट्टी में निम्न तीन गुणों की ओर विशेष संकेत किया है।

१. मिट्टी को भिगोकर गारा करने पर वह इतनी कोमल हो जावे उसे जिस आकार में डालना चाहें ढाली जा सके।

२. जब उससे मूषा या अन्य पात्र बनाकर सुखा लिये जावें तो वे पात्र फट न जावें।

३. मिट्टी के कच्चे या सूखे हुए पात्रों को आग में अवे के अन्दर पकाने पर भी वे न फटें बल्कि मिट्टी के अणु परमाणु थोड़े गलकर इस प्रकार मिल जावें कि वह पात्र अत्यन्त दृढ़ और अग्नि सह्य हो जावे। मूषा बनाने में मिट्टी और लोहा ये दो उपादान होते हैं—

मूषा के निर्माण में मिट्टी के अतिरिक्त निम्न पदार्थों में से किसी न किसी की आवश्यकता पड़ती है—

१. दग्ध तुष—जली हुई भूसी
२. सन के कतु
३. बिना पानी के बुझे लकड़ी के कोयले
४. घोड़े की लीद
५. सेलखड़ी
६. खपड़ा
७. लोहकिट्ट
८. दुग्ध आदि

उपादेयता

शास्त्रकारों ने घटकों की दृष्टि से वा आकार की दृष्टि से अनेक प्रकार की मूषाओं का वर्णन किया है। इन सब प्रकार की मूषाओं को रसशास्त्र की दृष्टि से पृथक्-पृथक् महत्व है। मूषाओं के द्वारा निम्न कार्य सिद्ध होते हैं—

१. मूषा में धातुएं गलाई जाती हैं।
२. सत्त्व पातन कर्म विना मूषा संभव नहीं
३. कुछ मूषाएँ पारद या अन्य धातुओं के गुण में वृद्धि करती हैं।
४. अत्यन्त कठोर वज्र का भी द्रावण करने की सामर्थ्य मूषा में होती है।
५. कुछ मूषायें कितने ही समय तक अग्नि में प्रचण्ड उत्ताप पर रखने पर भी नहीं पिघलती हैं।
६. कुछ मूषायें उच्च ताप थोड़े समय सह सकती हैं उनके द्वारा मृदु पदार्थों का सत्त्वपातन किया जाता है।
७. मूषाओं के द्वारा धातुओं को भस्मीभूत किया जाता है।
८. मूषाओं के द्वारा दो मिश्रित धातुओं को पृथक् किया जाता है।
९. विविध रसों की सिद्धि में मूषा का प्रयोग योगदान होता है।
१०. विविध यन्त्रों में मूषा महत्त्व का भाग लेती है।

प्रशंसा

मूषा के इतने गुणों को देख और इसकी उपादेयता की छाप लग जाने के बाद आचार्य का निम्न वाक्य अनुचित नहीं—

मानी (पुरुषार्थी) व्यक्ति के लिए मूषा के द्वारा प्राप्त एक कांकिणी या कौड़ी अधिक श्रेष्ठ है अपेक्षा दुर्जन सेवा या व्यर्थ की चापलूसी से प्राप्त एक लाख रुपया। अपने परिश्रम से मूषा की सहायता से स्वबुद्ध या एक कौड़ी भी प्राप्त हुई तो वह सार्थक है। पर नीच वृत्ति द्वारा लाखों का धन भी निरर्थक समझना चाहिये।

मूषा अनेक रस तन्त्रात्मक अतीव चमत्कारपूर्ण आविष्कारों की जननी है। इसके उपयोग से जन कल्याणकारी अनेक उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है।

विविध मूषाएँ

मूपा, कुमुदी या घरिया की भिन्न-भिन्न जातियां होती हैं ? [इन जातियों का नामकरण संस्कार या तो उनके निर्माण में लगे पदार्थों को देखकर किया जाता है अथवा उनके आकार के अनुसार कर दिया जाता है।

हम यहां विविध प्रकार की मूषाओं का संक्षेप में वर्णन करेंगे। वर्णन से

पूर्व निम्न तालिका द्वारा बहुत लाभ होगा।

अब हम नीचे इन्हीं मूषाओं का विचार आरम्भ करते हैं।

घटकानुवर्त्तिनी मूषाएं

घटक वैभिन्य के कारण जो मूषाओं के विविध प्रकार हैं, वे इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। साधारणतया ६ प्रकार की ऐसी मूषायें देखी गई हैं।

ग्रंथान्तर में अन्य भेद भी दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इन्हें वाचकवृन्द वहीं समझ लेंगे।

साधारण मूषा—मिट्टी, भूसी, राख, सन के तन्तु, कोयला, घोड़े की लीद बराबर-बराबर लेकर लोहे के मूसल से कूटकर इसमें जो मूषा बनाई जाती है, उसे साधारण मूषा कहते हैं।

वज्र मूषा—६ भाग मिट्टी, सन ४ भाग, भूसी की राख २ भाग, लोहकिट्ट १ भाग कूटकर जो मूषा बनाई जाती है वह वज्र मूषा कहलाती है और वह सत्त्वपातन कर्म में प्रयुक्त होती है।

योग मूषा—राऊ, भूसी की राख, मिट्टी, कूटकर घरियां बना उस पर विड का लेप कर है। यह योगमूषा है, इसमें सिद्ध पारद अपूर्व गुणवान हो जाता है।

वज्र द्राविणी मूषा—गारा केंचुओं से शुद्ध हुई मिट्टी, सन, भूसी की राख

सब सममाग भैंस के दुग्ध में कूट क्रौंची बना लें इसे, हीरा गलाने के लिए प्रयुक्त करने का विधान है ।]

गार मूषा—६ गुने गारे में १-१ भाग लौहकिट्ट, राख और सन तथा ३ भाग काली मिट्टी डाल दूध से सान मूषा बनावें इसे गार मूषा कहते हैं। ६ घंटे कठोर अग्नि में रखने पर यह गलती नहीं।

वरमूषा—चिथड़ा, राख भूसी की राख, १-१ भाग मिट्टी और गारा ४-४ भाग से बनी घरिया ३ घण्टे की अग्नि सह सकती है।

वज्र द्रावणमूषा—गारा, केंचुएं की मिट्टी, जली भूसी और सन के तन्तु को बराबर लेकर भैंस के दूध में कूट कर घरिया बना खटमल के रक्त का लेप कर कर दें। फिर उसके सूखने पर चौलाई की नई जड़ के स्वरस का लेप करें। और सुखा दें। यह मूषा अत्युष्ण तरल से भरी होने पर भी १२ घण्टे तक की अग्नि सह लेती है।

आकारानुवर्तिनी मूषायें

भिन्न-भिन्न आकार या स्वरूप के कारण जो मूषा के विविध स्वरूप बनते हैं। वे इस वर्गीकरण में आते हैं। ये मूषा में भिन्न-भिन्न रस कर्मों की सिद्धि के लिए बनाई जाती हैं।

घटकानुवर्त्तिनी मूषायें ही आकारानुवर्त्तिनी नाम भी ले सकती हैं, जैसे गोल मूषा कहने से आकार का बोध तो हुआ, पर यह ज्ञात न हुआ कि उसका घटक् दृष्टया गारमूषा नाम होगा, या वरमूषा या कोई अन्य, अतः आकार विभिन्न होते हुए अनेक नाम वाली मूषा घटक दृष्ट या एक ही नाम से पुकारी जाती है। आगे आकार दृष्टया मूषाओं का वर्णन किया जाता है।

वृन्ताकमूषा—लम्बे बैंगन के आकार की दृढ़ मूषा बना उसके ऊपर धत्तूरे के फूल के समान नलिकाकार १२ अंगुल लम्बी, और आठ अंगुल व्यास की एक मूषा बैठाकर अन्दर के दोनों गर्भो में प्रवेश का छिद्र हो। यह खर्पर आदि मृदु पदार्थों के लिए सत्त्वपातन के लिए प्रयुक्त होती है। और वृन्ताक मूषा (बैंगन घरिया) कहाती है।

गोस्तनीमूषा—गाय के थन के आकार की एक घरिया बनावें। थन वाला लम्बा और गोल भाग के ऊपर पतला एक ढक्कन बनावें जिसे जब चाहें ढक दें जब चाहे संडासी मे उतार लेवें।

यह धातु सत्व को द्रावण कर उसका शोधन करने के लिये प्रयुक्त होती है।

मल्लमूषा—दो मल्लों (शरावों) के सम्पुट का नाम मल्लमूषा है इसका प्रयोग पर्पटी आदि रसों के स्वेदन के लिए किया जाता है।

पक्वमूषा—कुम्हार की बनी पक्की हांडी जिसके निर्माण में मूषोपयोगी द्रव्य लगे हैं पक्वमूषा कहलाती है। यह पोट्टली रसों की सिद्धि के लिये उपयोगी है।

गोल मूषा—बिना मुख का गोला जिसके गर्भ में पुटपक्वनिर्मित्त पदार्थ भरा हो गोल मूषा कहलाती है।

महामूषा—तल पर कोहनी के समान नुकीली और ऊपर विस्तृत और बैंगन जैसी स्थूल यह महामूषा अभ्रक सत्वपातन द्रावण एवं पुट के लिए प्रयुक्त होती है।

मण्डूक मूषा—मेंढक के आकार की ६ अंगुल गहरी ६ अंगुल लम्बी, और ६ अंगुल चौड़ी यह एक मूषा होती है। इसे भूमि में गाढ़ कर ऊपर से पुट दिया जाता है।

मूसल मूषा—आठ अंगुल ऊँची मूसली की आकृति की यह मूषा होती है, जो चक्रवद्ध पारद को सिद्धि के लिए उपयोगी होती है।

वर्णानुरूपिणीमूषाएँ—मूषा के रंग की दृष्टि से ये मूषायें बनती हैं। परिभाषा में रक्त वर्ण, कृष्ण वर्ण, श्वेत वर्ण जो दिये हैं, उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ में पत्थर रहित मिट्टी सान मूषा बनाकर ऊपर से फिटकरी-कासीसादि रक्त स्थापक पदार्थों का लेप कर देते हैं। इन मूषाओं में रखे पदार्थ के रंग का उत्कर्ष किया जाता है। एसी वर्ण मूषा का वर्णन निम्न है।

विविध विडों का लेप करने से विडमूषा बनती है, जिसके वर्णन भी विडों के वर्ण के अनुसार होते हैं।

प्रश्न—पुट के विषय में आप क्या जानते हैं—विविध पुटों का वर्णन करें? (१९६९-६८-६६-६५-७२)

उत्तर—बहुधा पुट कहते हुए वैद्यों या कविराजों को सर्व साधारण सुना करते हैं कि अभ्रक १०० पुट का है या मण्डूर में इतने पुट दिये गये हैं। बचपन में जब पूज्य पिता जी कई बार पुट का जिक्र करते थे तब मेरे लिये

पुट एक गुत्थी ही रहती थी। बहुत लोग सोचते होंगे कि पुट क्या बला है। अंग्रेजी पढ़ा लिखा विद्यार्थी 'पुट' का अर्थ रखना ही समझता है और उसे वैद्यकीय 'पुट' का आभास तक स्पर्श नहीं करता। आज जब समय बीत गया है और एक वैद्य के रूप में मेरी जीवन धारा प्रवाहित होने लगी है तो शैशव का पुट—पुट समय रूपी बालू पर स्मृति रूप क्षीण चिन्ह मात्र रह गया है। पर इसे न जानने वालों के लिए मेरा शैशव विज्ञान ही अभी बना होगा। इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं।

पुट का लक्षण

रस, उपरस, महारस, साधारण रस धातु उपधातु आदि पदार्थों को कपड़े तुष आदि ईंधन द्रव्य के अन्दर रखकर अग्नि संस्कार कर निश्चित प्रभाव में उनके गुणान्तर उत्पन्न करने की क्रिया पुट कहलाती है।

अग्नि संयोग से द्रव्यों के पाक का प्रमाण पुट नाम से प्रसिद्ध है।

किसी पदार्थ में कितनी आंच दी गई यह जान लेने से उतने ही पुट उस पदार्थ में लगे यह सिद्ध हो जाता है। पर आंच के लिए ईंधन का एक सुनिश्चित प्रमाण होता है। उतने प्रमाण में ईंधन के अन्दर एक आँच लगाई गई। और पदार्थ स्वांगशीत होने पर निकाला गया, तब एक पुट ऐसा माना जाता है। क्योंकि—

न्यून वा अधिक पाक इष्ट नहीं है। कच्चा वा खर पाक सदा गर्हित कहे गये हैं। केवल सुपाक ही हितकर होता है।

पुट का प्रयोजन

पुट देने से धातुएँ अपुनर्भव हो जाती है। उनमें गुण की अधिकता हो जाती है। वे अधिक अग्र (योग्य) हो जाती है। उन्हें पानी में डालने पर डूबती नही, हाथ मे लेने पर रेखाओं में भर जाती है।

खनिज पदार्थों (रसोपरस—धातुपधातु) को पुटित करने से उनमें रंग आ जाता है। वे हलके हो जाती हैं। उनमें शरीर में शीघ्र ही व्याप्त होने का गुण आ जाता है। वे जठराग्नि को प्रदीप्त करने में समर्थ हो जाते है।

जारित पारद के जो गुण होते हैं, उससे बहुत अधिक गुण पुटित धातु भस्मों के होते हैं।

जैसे खनिज पदार्थों का पुट लगाने से अग्नि उनमें प्रवेश कर उनकी भस्म करके उनमें अनेक गुण उत्पन्न कर देती है। उसी प्रकार पुट के योग में भी अनेक गुण निःस्सदेह हो जाते हैं।

ऊपर पुट लगाने की क्या आवश्यकता है इसे व्यक्त किया गया है। कहना नहीं होगा कि धातुओं एवं खनिज द्रव्यों को हमारे पूर्वजों ने अपने वश में करने के लिए पुट पद्धति का आविष्कार कर इन्हें इतना कुचला, इतना सताया और इतना तपाया, कि वे भस्म रूप अमृत में परिणत होकर प्राणी मात्र के कष्टों को हरण करने में सचमुच संकटमोचन हो गये।

पुट के कारण—१. गुणाधिक्य २. अग्रता ३. रंग ४. लघुत्व ५. शीघ्र-व्याप्ति ६. दीपन नामक छः गुणों की वृद्धि ने आयुर्वेदीय चिकित्सा संसार में उथल-पुथल मचा दी।

पुट क्रम

पुट का क्रम क्या है इसे बतलाते हुए कहा गया है कि मूषा में धात्वादि पुटनीय द्रव्य को रख सम्पुट करके उसके अनुकूल अग्नि देना ही पुटक्रम है।

उपरोक्त श्लोक में पुट देने की सम्पूर्ण विधि न बता केवल संकेत कर दिया है। साधारण क्रम यह है कि सर्व प्रथम भावना द्रव्यों में शोधित किये हुए लोहादि पदार्थों को मर्दन कर टिकियां बना सुखा लें। इन टिकियों को मूषाओं में भर सम्पुट का कपड़मिट्टी चढ़ा नाम लिख सुखा दें फिर उसे यथामान अग्नि के साथ संयुक्त कर स्वांगशीतल होने पर निकाल लें, यही पुटक्रम है, फिर उन टिकियों को पीस भावना द्रव्य में पुनः मर्दन कर दूसरा पुट दिया जाता है। हर पुट में धातु चूर्ण होती जाती है। उस पर रंग चढ़ने लगता है। हल्की हो जाती है और गुणाधिक्य होने लगता है। भौतिक दृष्टि से वारितर होनी एवं रेखा पूर्णता इन दो गुणों का विकास होता जाता है।

रासायनिक दृष्टया वह पूर्णतः भस्म होने पर निरुत्थ हो जाती है।

विविध पुट

अब हम नीचे विविध प्रकार के पुटों का वर्णन देते हैं।

१. महापुट—एक व्याम का अर्थ है दोनों हाथ समतल भूमि के समानान्तर फैला देने से दक्षिण हस्त की मध्यमांगुली के अग्र भाग से वामहस्त मध्यमांगुली के अंग्र तक का भाग महापुट आधे व्याम गहरा दो हाथ लम्बा चौड़ा चौकोर

एक कुण्ड होता है उसमें जंगली उपले भर दिये जाते हैं। रस रत्नसमुच्चयकार इसमें १००० उपले भरने का विधान करते हैं। इसमें बीच में पुटनीय पदार्थ युक्त मूषा रख दी जाती है। फिर और उपले भर दिये जाते हैं। और फिर अग्नि प्रदीप्त कर दी जाती है। यही महापुट है।

२. गजपुट—राजहस्त (सवादहस्त) ३० अंगुल का माना जाता है। ३० अंगुल लम्बा चौड़ा और गहरा कुण्ड खोदें। आधा भाग जंगली उपलों को भर कर फिर शराब-सम्पुटस्थ पुटनीय द्रव्य को रख पुनः मुख तक उपले भर दें। यह गजपुट है। जो बहुत गुणकारक है।

३. वाराह पुट—एक अरत्नि कूर्परास्थि की नोंक से कनिष्ठका-अंगुली के अग्र भाग तक की लम्बाई को कहते हैं। इतना लम्बा चौड़ा और गहरा कुण्ड बना उपले भर अग्नि देने को वाराहपुट कहते हैं।

४. कुक्कुट पुट—एक वितस्ति या विता १२ अंगुल को कहते हैं दो विता लम्बा चौड़ा और ऊँचा कुण्ड बना उपले भर अग्नि देने से कुक्कुट पुट बोला जाता है।

कुण्ड के स्थान पर जमीन के ऊपर २ विता चौड़ा एक वर्त्तुल बना उस पर मूषा रख ऊपर से दो विता ऊँचा शिखिराकर उपलों का ढेर उठा अग्नि देने को भी कुक्कुट पुट कहा जाता है।

आचार्य कुलकर्णी इसी को कुक्कुट पुट मानते हैं।

५. कपोत पुट—भूमि पर आठ कंडों में जो पुट पारद मारण की दृष्टि से दिया जाता है वह कपोत पुट है।

छोटा गड्ढा खोदकर उसमें आठ उपले रख कर भी इस पुट को दे सकते हैं।

६. गोबर पुट—गाय के गोबर के चूर्ण से या तुषों को वजन में ८ उपलों के बराबर उसमें मूषा गाढ़ आग देना गोबर पुट कहलाता है।

७. भाण्ड पुट—मटके में तुष भर बीच में मूषा स्थापित कर आग देना भाण्ड पुट कहलाता है, इसमें मटके का मुख खुला रहेगा। भाव प्रकाशकार ने नीचे जो भाण्ड का मुख बन्द करने को लिखा है, तुषों के जल जाने के बाद बन्द करना समझें।

८. बालुका पुट—भार को प्रतप्त बालू से घड़ा आधा भर उसमें मूषा

डाल शेष भाग भी प्रतप्त बालू से भर स्वांगशीत होने तक रखना बालुका पुट कहलाता है।

९. भूधर पुट—भूमि में मूषा गाढ़ दो अंगुल मिट्टी चढ़ा ऊपर से आवश्यक संख्या में उपले रख जलावें, यही भूधर पुट है।

१०. लावक पुट—एक पल वजन में या एक वित्ता (१२ अंगुल) स्थान में तुष या गोबर का सूखा चूर्ण भर कर ऊपर से मूषा रख जो पुट दिया जाता है, वह लावक पुट होता है।

पुट संबंधी में अन्य ज्ञातव्य

१. यह आवश्यक नहीं कि विशेष मिट्टी की बनी मूषाओं में ही रखकर पुट दिये जावें। साधारणतया मिट्टी के साधारण शरावों से भी वह कार्य सिद्ध हो सकता है। पर यदि तीक्ष्ण अग्नि हो तो योग्य मूषा का ही व्यवहार करें।

२. शराव में पदार्थ रख ऊपर से दूसरा शराव यों ही जमाया जाता है। पर कभी कभी कपड़मिट्टी भी कर दी जाती है।

३. गड्ढा या कुण्ड खोदकर उनमें उपले भर कर पुट देने में वैज्ञानिक महत्त्व है। ऐसा करने से उपले धीरे-धीरे सुलगते हुए जलते हैं तथा तेज अग्नि बहुत देर तक देने में समर्थ होते हैं। जमीन के ऊपर ३००० उपलों में भी दी हुई आग महापुट का मुकाबला नहीं कर सकती। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।

४. पुट लगाने से पूर्व और पश्चात् पुटनीय पदार्थ को तोल कर जांच अवश्य करनी चाहिये। पुट लगाने से भस्म का मूल धातु से भार बढ़ जाता है। इसे देख कुछ लोग पुट लगने से लघुता आती है, इसमें सन्देह करने लगते हैं। पर वह लघुता उसके गुण में है और भार वृद्धि द्रव्यत्व में है।

५. यदि किसी स्थान पर यह न बताया जावे कि कितने पुट दें या कौन पुट दें तो ऐसे समय वैद्य अपनी बुद्धि का ही सम्यक् रूपेण उपयोग कर लें।

विशेष करके अतिखर द्रव्य महापुट में, साधारण खर गजपुट में, मध्यम द्रव्यों में कुक्कुट पुट, मृदु द्रव्यों में वालुका, भूधर एवं लावक पुट देना चाहिये।

प्रश्न—रसशास्त्रोपयोगी यन्त्रों एवं उन की विशेषताओं को बताते हुए विविध प्रचालित यन्त्रों का निरूपण कीजिए। (१९६९-६८-६७-६६-६५-६३-६२-६१)।

उत्तर—आगम शास्त्र में यन्त्र शब्द मंत्रों के देवताओं के विग्रह का वाचक

है। प्राचीन काल से यंत्र शब्द सुविधाजनक साधन के लिये प्रयुक्त होता आया है। आयुर्वेद में भी यंत्र शब्द व्यवहार में पराधीन संचलन के अर्थ का द्योतक है। यन्त्र कार्यों के काठिन्य को कोमल बनाता है। वास्तव में जीवन का सभी क्षेत्रों में यन्त्रों का साम्राज्य है। वर्तमान विश्व लोकतन्त्र राजतन्त्र नहीं अपितु यन्त्र तन्त्र है। शब्द साम्य से प्राचीन युग भी यंत्र तंत्र पूर्ण था। महर्षि चरक और सुश्रुत के औषध निर्माण में भी यन्त्रों की आवश्यकता होती है तोलने को तराजू की, पीसने को चक्की की, सिल लोढ़े की, छानने की छलनी की, उबालने को बटुई कढ़ाई की आसव को घड़े बरनी आदि यन्त्रों की आवश्यकता होती है। ये यन्त्र होते हुए भी इनकी गणना रस ग्रन्थों के यन्त्र प्रकरण में नहीं की गई है। ये यन्त्र केवल औषध निर्माणों प्रयोगी ही नहीं जोवनोपयोगी हैं। रसाचार्यों ने यन्त्र प्रकरण में केवल औषध निर्माणोपयोगी यन्त्रों को ही स्थान दिया है।

जब आचार्यों का ध्यान प्रारम्भ काल में खनिज पदार्थों की ओर गया उपयोगिता के लिये प्रयत्न करने लगे। विश्लेषण के प्रयोग काल में असुविधाओं ने आतङ्कित किया होगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी है इस सिद्धांत ने ही यंत्र निर्माण के आविष्कार किये होंगे। मध्यकाल में रसौषध निर्माण के कारण ही आयुर्वेद यंत्र साहित्य का शिलान्यास हुवा होगा। आज अर्वाचीन रसशास्त्र के उपयोगी अनेक यन्त्रों के अन्वेषण का एक इतिहास है। इसी प्रकार भारतीय रस यन्त्रों का भी मनोरम इतिहास रहा होगा। उस इतिहास के अन्वेषण की आवश्यकता है। सभी यन्त्र एक साथ निर्मित नहीं हुए होंगे। रस शास्त्र के विकास के साथ ही यंत्र विस्तार हुआ होगा। रस ग्रन्थों में एक समान यंत्र वर्णन उपलब्ध नहीं है। वाग्भट काल में रसशास्त्र का ज्ञान विकसित हो चुका था रस रत्न समुच्चय में विविध यन्त्रों का विस्तृत वर्णन है। रस ग्रन्थों में एक ही यंत्र को भिन्न २ नामों से उल्लिखित किया है। मिलते-जुलते समान यन्त्रों को भिन्न यन्त्र स्वीकार किया है। वर्तमान काल में भी रस ग्रन्थ निर्मित हुए हैं। रस निर्माण की विशेष क्रियाओं का प्रचार लुप्त हो गया है। आज अभ्रकादि जारण नहीं होती है। इससे नवीन ग्रन्थों में अनेक प्राचीन यन्त्रों का वर्णन नहीं है। रसतरंगिणीकार ने प्राचीन कुछ यन्त्रों को छोड़ा है तो कुछ नये यन्त्रों को सूची में स्थान भी दिया है। जो इस काल के व्यवहार्य हैं। थोड़े से कार्य या स्वरूप के भेदों के यन्त्रों का एकीकरण भी किया है। रसायना

चार्य ने बहुत कम यन्त्रों का वर्णन किया है प्रचलित रसों का निर्माण कम यन्त्रों से भी हो जाता है आपने भी अनेक नवीन यन्त्रों की सृष्टि की है। रसाचार्यो ने यन्त्रों की कोई सीमा नहीं बांधी है। जिनको जब जैसी जरूरत पड़ी, उन्होंने तब वैसे-वैसे यन्त्र बढ़ाये, बनाये-घटाये। आयुर्वेदीय औषध-निर्माण की बड़ी-बड़ी फार्मेसियां हैं। उनमें अनेक अर्वाचीन यन्त्रों का उपयोग हो रहा है। यदि वैद्य विद्वान अन्वेषण पर तत्पर हो जायें तो, क्या आश्चर्य कि नवीन विज्ञान के सभी यन्त्र प्राचीन विज्ञान के अंग हो जावें। कूपी पक्वरस-निर्माण वि न के निर्माता ने इस पथ में पदन्यास किया। आचार्यों ने यन्त्र परिभाषा —कि स्वेदनादि पारदीय संस्कार नामक कार्यों के करने के लिये रस तन्त्र वेत्ता पारद का जिस-जिस विधान से नियन्त्रण करते हैं वही साधन यन्त्र कहलाता है।

शल्य शालाक्यीय यन्त्र के निर्माण और आविष्कार के जहाँ बहुत मेधा और अपूर्व श्रम करना पड़ता है, वहाँ साधारण बुद्धि के उपयोग से ही भैषज्य कल्पना के यन्त्रों का निर्माण हो जाता है। अब हम इस प्रकरण में जहाँ कहीं भी यन्त्र शब्द का प्रयोग करेंगे वहाँ डमरू यन्त्रादि ही समझ कर चलना चाहिये अन्यथा बहुत अधिक गड़बड़ घोटाला होना संभव है।

यन्त्र परिभाषा

यन्त्रों की अपनी कुछ विशेषतायें हुआ करती हैं। उनका परिगणन करना सदैव लाभप्रद रहता आया है। भैषज्यकल्प निर्माण की दृष्टि से रस उपरस-महारस-साधारण रस, धातु, उपधातु, विष, उपविष, रत्न, उपरत्न, आदि प्रत्येक का ऐसा स्वरूप बनाना कि वह चिकित्सात्मक रूप में प्रयोग होकर स्वस्थ का संरक्षण और रुग्ण का रोग हरण कर सके, इसके लिये उन पर विशेष संस्कार करने पड़ते हैं। उसके लिए जिन विशिष्ट नियामक विविध स्वरूप के पात्रों की आवयकता होती है, जिनकी सहायता से वस्तु नियन्त्रण में आ जाती है और उसका अभीष्ट स्वरूप बनता है, उन विशिष्ट पात्र को यन्त्र नाम से पुकारा जाता है।

उदाहरण के लिये सौंफ का एक कल्प चूर्ण बनाने के लिये उसे एक खरल में डाल कर मूसलों से कूटना पड़ेगा। यह खल्व एक यन्त्र कहलायेगा। फिर सौंफ चूर्ण को पानी में भिगोकर उसका अर्क खींचने के लिये एक विशेष पात्र की आवश्यकता पड़ेगी, जिसे हम भबका कहते हैं। यह भबका भी एक यन्त्र विशेष

है जिसके आयुर्वेदीय नामों से आगे परिचय हो जावेगा किसी पदार्थ का स्वेदन करने के लिये ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी जिसमें भाप पर्याप्त रूप से लग जावे। यह संभव नहीं कि नीचे भाप बनती रहे और हम हाथ में साध कर उस पदार्थ का स्वेदन करने के साथ ही साथ अपने हाथों का स्वेदन कर बैठे। इसके लिये हमें एक पात्र लेना होगा। उसके ऊपर एक छड़ रखनी पड़ेगी और उस छड़ पर पदार्थ की कपड़े से बनी पोटली इस प्रकार टांगनी पड़ेगी कि पात्र के नीचे आग जलाने से द्रव खौले और उसकी भाप पोटली से टकरावे। यह छड़ गिर न पड़े इसके लिये उसे पात्र के किनारों में बैठा देना होगा। इस यन्त्र को हम दोलायन्त्र नाम से पुकारते है।

कभी-कभी साधारण रूप से किसी पदार्थ का रस नहीं निकलता। उसके लिए उसे एक घड़े में भर देते हैं। घड़े के पेंदे में छेद करके उसे भूमि में जमा देते हैं। उस छेद से सटाकर एक बोतल भूमि के नीचे लगा देते हैं। घड़े का मुख बन्द कर मिट्टी से ढंक कर ऊपर से उपले चुन आग लगा देते हैं। जब उपले बुझ जाते हैं और सब ठण्डा पड़ जाता है तो देखते हैं कि बोतल उस पदार्थ के रस से भर गई है। घड़ा बोतल और उपलों के इस क्रम को पातालयन्त्र के नाम से इस ओर बोलते हैं। सम्भव है दूसरी ओर इसका दूसरा नाम हो।

औषधि निर्माण में सहायता के लिए प्रयुक्त सब पात्र यन्त्र कहलाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार आयुर्वेद आधुनिक औषधि निर्माण में प्रयुक्त प्रयोग-शालाओं के सब पात्रों को भी यन्त्र संज्ञा प्रदान कर देता है। शब्दों के इस दुर्भिक्षकाल में विदेशी नहीं अपितु स्वदेशी इस सहायता का उपयोग कर लेने से बढ़कर दोनों के लिए अन्य पुण्य कार्य क्या हो सकता है।

यन्त्रों की विशेषताएँ

१. **ये यन्त्र सर्व सुलभ होते हैं**—हम पर्वत पर, मैदान में, समुद्र तट पर पठार पर कहीं भी सरलता से भैषज्य कल्पना में प्रयुक्त यन्त्रों को प्राप्त कर सकते हैं।

२. **इनका निर्माण कार्य सरल है**—हमने देखा है कि निर्माणशालाओं में यन्त्र बनाने का कार्य भैषज्य कल्पविद स्वयं नहीं करता, उसी प्रकार जिस प्रकार इंजीनियर मशीन न बनाकर मिस्त्री से बनवा लेता है, अपनी बुद्धि और मिस्त्री के हाथ पैर लगाकर पर यहाँ इंजीनियर जितना पढ़ने की आव-

श्यकता नहीं। वल्कि मिस्त्री से भी कम बुद्धि खर्च कर रसशाला के लड़के लोग इन्हें सुरुचिपूर्वक और यथार्थ रूप में वना लेते हैं। इनके वनाने में कोई दांव-पेच नहीं सीखना पड़ता।

३. ये अतिशीघ्र वनाये जाते हैं—ऐसा कदाचित ही कोई यन्त्र हो उसके वनाने में १०-२० दिन लगें। तुरत फुरत इन्हें वना लिया जाता है और अति-शीघ्र इन्हें विगाड़ा जा सकता है।

४. वे अति व्ययसाध्य नहीं हैं—इन यन्त्रों के निर्माण में भी वहुत अधिक पैसा व्यय नहीं होता, यह सत्य है कि रत्न पीसने के लिए जो सिमाक पत्थर के खरल आते हैं उनका मूल्य सैंकड़ों और सहस्रों तक जाता है परन्तु अधि-कांश यन्त्रों के निर्माण में वनाने वाले की मजदूरी ही सव से अधिक व्यय समझना चाहिये।

५. ये जटिल भी नहीं होते—रचना की दृष्टि से इनमें जटिलता वहुत कम होती है। यही कारण हैं कि शास्त्रों में इनका वर्णन २-४ वाक्यों से अधिक में नहीं आता। इनके वनाने के लिए कलाकार खानों की ओर दृष्टि निःक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, विविध प्रकार की हांडियां, मूषायें, कपड़ा, मिट्टी, सन्धि—वन्धन के पदार्थ एकाध लोहे का पात्र अंगीठी, कांचकूपी आदि से ही ये वना लिये जाते हैं।

६. प्रयोगशालाओं के आधुनिक विविध यन्त्रों के ये यन्त्र जनक हैं—आज जो वड़े-वड़े परिस्रावक यन्त्र देखने में आते हैं या अन्य चमत्कारक यन्त्र दिखलाई पड़ते हैं उनके मूल में जाने पर अधिकांशतः वे किसी न किसी आयु-र्वेदीय यन्त्र के ही रूपान्तर मिलेंगे। जिनको हम वड़े-वड़े माप घट, (मैंजरिंगजार्स) फ्लास्क, वीकर आदि कहते हैं, वे सव प्राचीन घट यन्त्र के ही रूपान्तर हैं। वालुका यन्त्र का रूपान्तर सैण्ड वाथ एपरेटस में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। तिर्यक पातन यन्त्र की विधि ही डिस्टीलेटरों में प्रकट हुई है। कण्डेंसर और रिसीवर भी इसी यन्त्र के रूपान्तर हैं।

यन्त्रों के प्रति आक्षेप

यह कहा जा सकता है कि भैषज्य कल्पों के लिये प्रयुक्त यन्त्र देखने में असुन्दर या भोड़े होते हैं पर यह आक्षेप निराधार है। उनको सुन्दर वनाना कठिन नहीं है। उसके लिये विशेष बुद्धि वल अवश्य अपेक्षित हैं। डेकी यन्त्र

का आधुनिक मनोमुग्धकारी रूप किसी आधुनिक प्रयोगशाला में कोई जाकर देख ले। वह उसी मां का पुत्र है उसे किसी विदेशी ने नहीं जना। यह भाव चाहे उस समय तिरोहित हो जावे पर थोड़े समय पश्चात् किसी भी स्वाभिमानी में जागृत होकर ही रहेगा।

यह आक्षेप कि वे जल्दी बिगड़ जाते हैं सही है। मिट्टी द्वारा निर्मित पदार्थ वर्षों नहीं चलते। साथ ही अपनी यह भी कल्पना है कि जिस यन्त्र में एक बार पाक कर लिया गया उसमें दूसरे द्रव्य का पाक न किया जाये। अपितु यन्त्र का निर्माण नये सिरे से हो, इसलिये पुराने यन्त्र को तोड़ कर नये सिरे से यन्त्र निर्माण करने की परम्परा है। अल्प व्यय साध्य होने के कारण इसमें कुछ भी हर्ज़ नहीं है। कुछ यन्त्र एक बार बड़ी कठिनाई से बनते हैं अतः दूसरी बार बनाने का झंझट कैसे किया जावे। पर मनुष्य ने जिस कार्य को एक बार किया है, वह दोबारा करने से और सुधरेगा या बिगड़ेगा ? निस्सन्देह सुधरेगा। बुद्धि जितनी बार उसका नवनिर्माण करेगी उतनी ही बार नवीन सुधार उसमें लावेगी। और वह पहले से अधिक सुधरा हुआ बनेगा। यदि छापे का यन्त्र चीनियों के समय का ही बना रहता तो जो सुधार आज उसमें है वह कैसे होता। सुधार के लिये भावना की जागृति भी इसी प्रकार होती है।

इन यन्त्रों को सावधानी से न बनाया गया और संयम से सन्धियों का बन्धन न किया गया या जितनी अग्नि यन्त्र सह सकता है, उससे अधिक अग्नि का उपयोग किया गया तथा उसके पकड़ने, स्थापित करने और प्रयोग करने में लापरवाही प्रदर्शित की गई तो इन यन्त्रों के कारण भेषज कल्प का सफलता से बनना ही नहीं रुक सकता, पाक भी कच्चा रह सकता है। अतः सावधानी, संयम एवं सतर्कता रखने के लिये हमें सदैव तैयार रहना पड़ेगा संक्षेप में हमारे यन्त्र सस्ते, सरलता से बनने वाले और सावधानीपूर्वक उपयोग करने के लिये बनाए गए हैं। इन्हीं यन्त्रों की सहायता से बने भेषज कल्पों ने असंख्य प्राणियों को जीवन-दान दिया और रोग युक्त किया है तथा भर दिया है अनेक वैद्यों का गृह लक्षावीध मुद्राओं से।

विविध यन्त्र

हम इस स्थल पर भैषज्य कल्पविदों द्वारा सहस्रों वर्षों से प्रयुक्त होने वाले

औषधि निर्माण कार्य में अपरिमित सहायता करने वाले यन्त्रों का संक्षिप्त वर्णन प्रकाशित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्णन रस रत्न समुच्चय नामक सुप्रसिद्ध रस ग्रन्थ के आधार पर है।

२. दोला यन्त्र—एक पात्र लें (मिट्टी का या इनैमिल चढ़ी तामचीनी का) उसके मुख में आमने-सामने एक-एक छेद कर दें। उन छेदों में होकर एक लोहे या लकड़ी का भार संभालने योग्य दण्ड लगा दें। दन्ड के ऊपर पारद से युक्त (अथवा अन्य स्वेद्य पदार्थ से युक्त) पोटली बाँधकर स्वेदन करें।

ऊपर जो कुछ दिया गया है उससे व्यवहार में कई बातें स्पष्ट नहीं होती। एक तो यह कि स्वेदन के लिये पोटली को द्रव में डुवा देना चाहिए, या केवल भाप ही लगे इतना ऊँचा बाँधना चाहिये। दूसरे यह कि पात्र का माप क्या हो। तीसरा यह कि एक वार उसका उसका पात्र द्रव डालकर अग्नि लगाकर भाप उठावें और जब द्रव जल जाये तो बन्द कर दें या द्रव के जलने पर और डालते जायें। चौथा यह कि पोटली अधर में लटकी रहे या किसी विधि से उसे टिका दिया जावे। इन शंकाओं का समाधान साधारणतः यह है कि स्वेदन के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों का घोल प्रयुक्त होता है यदि केवल भाप ही लगाना अभीष्ट होता तो केवल जल का भी प्रयोग किया जा सकता था। अतः स्वेद्य पदार्थ को उस विशिष्ट द्रव का सम्पर्क भी प्राप्त होवे तथा भाप भी लगे, इस विचार को न भूलते हुए भी सम्पूर्ण पोटली को छड़ से लगा कुछ भाग छोड़ तरल में डुबा देना चाहिये। पात्र के माप के सम्बन्ध में यह ध्यान रखें कि पोटली डूब जाय। इतना तरल भर देने पर भी पात्र का आधा भाग खाली रहे ताकि तरल में कोई उबाल आवे तो पदार्थ बाहर न निकले। प्रायः दोलातन्त्र में स्वेदन कुछ समय तक करना पड़ता है और यह कदापि संभव नहीं कि एक वार का डाला हुआ द्रव उतने समय चल जावे। अतः समय २ थोड़ा २ द्रव डालते रह सकते हैं। ऐसा कुछ का मत ठीक है। यदि संभव हो तो इस क्रम से भी अग्नि लगा सकते हैं कि प्रदत्त द्रव के समाप्त होने से पूर्व तक स्वेदन काल समाप्त हो जावे पर पहला दृष्टिकोण अधिक युक्तियुक्त है। पोटली को सदैव अधर में ही लटकना चाहिए। तली तक पोटली के जाने से कपड़ा जल सकता है और हानि भी हो सकती है।

इस प्रकार स्वेदन के द्वारा स्वेद्य पदार्थ के दोषों का निर्हरण किया जाता है।

२. स्वेदनी यन्त्र—जल से युक्त पात्र के मुख पर वस्त्र बांधकर उसके ऊपर स्वेद्य पदार्थ रखकर चूल्हे पर चढ़ा दें यही स्वेदनी यन्त्र है।

केवल वाष्प द्वारा ही स्वेदन करने के लिए इस यन्त्र की आवश्यकता पड़ती है। स्वेद्य पदार्थ कपड़े पर रखने के पश्चात् ऊपर से एक शराव से ढक देना चाहिये। पात्र या स्थाली में जल या तरल पदार्थ सदैव आधे भाग तक ही भरें ताकि उफान आवे तो कपड़े को न छू ले। किनारों से जो वस्त्र लटकता रहे वह इतना बड़ा न रहे कि चूल्हे की अग्नि से झुलस जावे।

स्वेद्य पदार्थ के जल में घुलनशील वे भाग घोलने के लिये १०० शतांश ताप की आवश्यकता पड़ती है, भाप के द्वारा प्राप्त जल में घुलकर नीचे पानी में उतर जाते हैं। इससे स्वेद्य पदार्थ का शोधन हो जाता है। साथ ही स्वेद्य इतना नरम हो जाता है कि उसे पीसकर रस भी निकाला जा सकता है। कुछ लोग जो पुट पक्व विधि से पत्रों के स्वरस नहीं निकालते, वे इस यन्त्र का भी प्रवेश कर सकते हैं। पर इसमें पत्रों का बहुत सा तत्त्व छीज जाता है।

३. पातन यन्त्र—आठ अंगुल (आठ इंच) चौड़ा दश अंगुल लम्बा और चार अंगुल ऊँचा एक जलाधार (जलपात्र) १६ अंगुल विस्तार वाले पात्र की पीठ पर मिट्टी से बना उस पात्र के मुख में नीचे वाले पात्र का मुख फँसा दें। सन्धि स्थल को चूना मण्डूर और राब को भैंस के दूध में कूटकर उससे बन्द कर दें। सूखने पर जलाधार में जल भर दें तथा सबको अंगीठी पर चढ़ा दें। इस यन्त्र को "विद्याधर यन्त्र" भी कहते हैं। यह ऊर्ध्वपातन यन्त्र है, इसमें नीचे की छोटी हांडी में ऊर्ध्वपातन होने के लिये पारदादि पदार्थ सुखाकर भर देते हैं। फिर ऊपर की हांडी के मुख में फँसाकर सन्धि बन्धन और कपरौटी कर देते हैं। ऊपर जलाधार बनाकर यन्त्र को सुखाकर चूल्हे पर चढ़ाते हैं। जलाधार में जब तक जल रहेगा यन्त्र में पाक बराबर होता रहेगा यदि सावधानी न की गई और जल निवट गया तो यन्त्र फट भी सकता है। एक बार पानी भरकर उसे भर कर बार-बार बदलने की आवश्यता नहीं, जितना जल कम हो जाये पुनः उतना ही डालते रहना चाहिये। अधिक गरम उसे न होने दें।

इस यन्त्र में कितनी अग्नि दी जावे उसके सम्बन्ध में लिखा है—

नीचे से ५ प्रहर तक अग्नि दें और ऊपर जब जल गरम हो जावे तभी

निकाल दें। या बदल दें इसी सम्बन्ध में आचार्य कुलकर्णी जी अपनी टीका में लिखते हैं—

आंच कितने घण्टे की देनी चाहिये यह बात द्रव्य की मात्रा पर निर्भर करती है। ऊर्ध्वपातन जिस द्रव्य का करना हो तो उसकी मात्रा यदि ८० तोला अर्थात् एक सेर के लगभग हो तो करीब ५ प्रहर अथवा १५ घण्टों की आंच देना आवश्यक है। द्रव्य की मात्रा विशेष कम हो तो ४ प्रहर की आंच दे सकते हैं और द्रव्य की मात्रा १ सेर से अधिक हो तो ६ अथवा ७ प्रहर तक की कड़ी आंच देना आवश्यक हो जाता है। आंच बराबर लगती रहनी चाहिए।

४. अधःपातन यन्त्र—ऊपर के पात्र में भीतर की ओर अधःपतित होने वाले पदार्थ का लेप कर दें। नीचे के पात्र में जल भर दें। दोनों पात्रों का मुख दृढ़ता से बन्द कर कपरौटी चढ़ा सुखालें। इसी भूमि में गाढ़ ऊपर से कण्डे सुलगा दें।

सन्धि बन्धन के लिये चूना, मण्डूर, राव और भैंस का दूध ही प्रयोग करें, जो पदार्थ ऊपर के पात्र के तल प्रदेश पर लीपा गया है उसे पूर्णतः सुखाने के बाद ही दोनों पात्रों को जोड़े ईंधन जितने में अधःपातन हो जावे।

५. तिर्यक् पातन यन्त्र—एक बड़े घड़े में पारदादि ने पदार्थ जिनको तिर्यक् पतित करना है डाल दें। उसके गले से एक नाल तिरछा करके लगा दें। उसका दूसरा सिरा एक दूसरे छोटे घड़े में डालकर मिट्टी से दोनों घड़ों के मुँह बन्द कर दें। बड़े घड़े की नीचे तीव्र अग्नि जलावें और छोटे घड़ों पर शीतल जल की धारा छोड़ें। रस तन्त्रवेत्ताओं ने इसे तिर्यक् पातन नाम दिया है।

यह डेस्टीलेटर का आदि स्वरूप है। जब पारद के कण किसी भी प्रकार से अन्य पदार्थों से पृथक् नहीं किये जा सकते तो इस यन्त्र की सहायता से पारद निकाला जाता है। पारद के शोधन के समय जब वह चूने या लशुन स्वरस में बारीक बारीक कणों के रूप में छिप जाता है, तब हम इसी विधि से उसे निकालते हैं।

घड़े के स्थान पर कांच का पात्र, कांच की नलियाँ आदि लेने के लिये भी कुछ कहते हैं। पर पारद के लिये तीव्रोत्तापसह मिट्टी के पात्र ही आवश्यक हैं।

सबसे बड़ी कठिनाई जो दिखाई देती है वह है सन्धि-स्थलों से पारद के उड़ जाने की। यदि किसी कुम्हार से विशेष रूप से पूरा का पूरा यन्त्र बनवा कर पकवा लिया जाये तो यह दिक्कत भी दूर हो जाती है। छोटे घड़े पर ऊपर से पानी डालने की अपेक्षा उसे ठण्डे जल के टब में रख दें। जिसमें नीचे निकास नली लगी हो और एक किनारे पर नल की टोंटी से जल आता रहे तो भी ठीक है।

६. **कच्छप यन्त्र**—एक नाद को ज़मीन में गाढ़ उसमें पानी भर दें। उसमें एक मटके का खीपड़ा (पेंदे वाला आधा भाग) रख दें। उस खर्पर के बीच में विडयुक्त पारद के साथ मूषा रख दें। मूषा के ऊपर एक लोहे की कटोरी ढांककर घट खर्पर और लोह की कटोरी के मध्य की सन्धियों का दृढ़ता से बन्धन कर दें। अब इस खपड़े में बेर की लकड़ी के कोयले भर दें, और अग्नि दें। इस प्रकार पारद का स्वेदन कर लें, फिर उसे मर्दन कर रख लें। इससे पारद बुभुक्षित हो जाता है और सर्व धातु सत्वों को अपने अग्नि बल के अनुसार द्रवीभूत कर लेता है।

ऊपर जो लिखा है उससे विदित होता है कि पारद को बुभुक्षित करने और गर्भदुतिसंस्कार के योग्य बनाने के लिये ही इसका उपयोग किया जाता था। नीचे की नांद मिट्टी की न होकर लोहे की हो सकती है।

घट खर्पर के स्थान पर तामचीनी का पात्र भी लेने को कहते हैं। कोई भी पात्र हो यह जल में तैरना चाहिये। मूषा में विड (क्षार वर्ग—अम्लवर्ग—गव्यादि—मूत्र—और लवणों से बनाया—विशेष पदार्थ) का मोटा मोटा लेप कर सुखाकर फिर उसमें पारद भरते हैं। लोहे की कटोरी और घट खर्पर से चूना मण्डूर, राब और भैंस के दूध से बने मसाले से ही रांजना चाहिये। कोयले पारद की मात्रा के अनुसार ही भरें। सन्धि बन्धन में तनिक भी सांस रह गई तो सब पारा उड़ जावेगा। नीचे की नांद का पानी बराबर ठण्डा रक्खा जावे। इससे निकले पारे में स्वर्ण को घुलाकर हमने देखा कि वह बहुत शीघ्र विलीन हो जाता है।

७. **दीपिका यन्त्र**—कच्छप यन्त्र में जो मूषा में विड लगाकर पारद रखने की विधि है, उसी में अन्तर करने से दीपिका यन्त्र बनता है। अर्थात् यहाँ पर मूषा के स्थान पर मिट्टी का एक आसन बना लें। उस पर एक दीपक रख लें।

उस दीपक में पारद भर दें फिर उस पर लोह कटोरी रख सन्धि बन्धन कर बेर के कोयलों की अग्नि दें। यहाँ पारद घट खर्पर के तल में जाकर लगता है।

८. डेकी यन्त्र—एक पात्र के गले के नीचे एक छेद करके उसमें बांस की लम्बी नली का एक सिरा फंसा दें। दूसरा सिरा कांसे के २ पात्रों के सम्पुट में ऊपर निकाल दें। इस सम्पुट में भीतर में जल भर दें। कांसे के पात्रों और नली का बन्धन दृढ़ रखें। पहले पात्र में आवश्यक द्रव्य डालकर उसका मुख बन्द कर दें और सन्धि बन्धन ठीक प्रकार से कर दें। नीचे तेज आग दें। इतनी दें कि सम्पूर्ण पात्र नली तक उत्तप्त हो जावे।

इधर कांसे के सम्पुट को चाहें तो पानी के टब में डाल दें। सम्पूर्ण पारद नली द्वारा कांस्य पात्र के सम्पुट में अन्दर तिर्यक् पतित हो जावेगा।

यह तिर्यक् पातना का एक प्रकार है। सन्धि बन्धनों की दृढ़ता विशेष ध्यान देने योग्य है।

९. जारणा यन्त्र—१२ इंच व्यास की २ लोह मूषा ऐसी बनावें कि एक दूसरी में थोड़ी भीतर बैठ सके। इसमें ऊपर की मूषा में एक छोटा छेद कर दें। इसमें गन्धक भर दें। दूसरी मूषा में पारद रख दें। गन्धक वाली मूषा को पारद वाली मूषा में बैठा दें। पारद की मूषा को एक जल से भरे पात्र में रख दें जो पारद की मूषा तक अन्दर चला जावे। जल के पात्र का इतने ही बड़े दूसरे पात्र से मुंह ढककर सन्धि बन्धन कर दें तथा कपरौटी चढ़ा दें। इस ढक्कन के ऊपर कण्डों की चूर का कपोतपुट दें और नीचे तीव्र अग्नि लगा दें। तीन दिन यही क्रम रखें। फिर स्वांग शीतल होने पर निकाल लें। इस क्रम से पारद में कोई हानि नहीं होतीं तथा इस क्रिया से गन्धक की जारणा भी ठीक-ठीक हो जाती है।

यह गन्धक को पारद में जीर्ण करने की क्रिया सम्पन्न करने वाला यन्त्र है। पारद वाली मूषा को जलपात्र में ऐसे रखें कि केवल उसका आधा भाग ही डूबे। कपोतपुट तीन दिन तक बराबर दहकना चाहिये। यह नहीं कि एक बार करके छोड़ दिया। गन्धक वाली मूषा में एक ही छिद्र पर्याप्त है।

जब तक यन्त्र के अन्दर जल गरम रहे तब तक इसे न खोलें। पूर्ण शीतल होने के बाद ही खोलने का विधान है।

इस यन्त्र की प्रेरणा क्रिया कैसे होती है, उसे बताते हुए कुलकर्णी जी लिखते हैं—

इस यन्त्र में नांद के नीचे कड़ी आग देने से उसकी भीतर का जल वाष्पीभूत हो जाएगा। ऊपर रखी हुई नांद में भी कपोत पुंट की आंच होने से यह जल वाष्प और भी उत्तम हो जाएगा। नीचे की अग्नि और तीव्र हो जाए तो जल वाष्प का दबाव अत्यधिक बढ़ जाने से इस यन्त्र के फट जाने की भी संभावना हो सकती है। नांद के नीचे आंच और ऊपर वाले नांद में भी आग के होने के कारण जल की भाप उत्तप्त हो जाती है। वास्तव में जलवाष्प का तापांश १०० डिग्री शतांश होता है। किन्तु उत्तप्त जलवाष्प के कारण ऊपर वाली मूषा में से रखा हुआ गन्धक पिघलाकर उसके तल भाग में बनाये छिद्र से नीचे वाली मूषा में चला जाएगा और इस द्रव गन्धक की लशुन के स्वरस की उपस्थिति से पारद के साथ कुछ विशेष क्रिया होगी, इस प्रकार की क्रिया सुसम्पन्न करने के लिए ही रस जारणा यन्त्र की आयोना की जाती है।

कहना नहीं होगा कि इस यन्त्र के द्वारा ऊपर जो बताया गया है, उतना ही न होकर अनेक भौतिक रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं।

जारणायन्त्र में गन्धक की जारणा एक बार ही नहीं अनेक बार की जा सकती है।

१०. विद्याधर यन्त्र—एक चारमुखी चूल्हे पर दो हांडियां सम्पुट करके रख दें और ऊपर एक जलाधार बना दें तो यह विद्याधर यन्त्र बन जाता है।

११. सोमानल यन्त्र—ऊपर अग्नि नीचे जल बीच में पारदादि औषधि रखने के लिये जो विशेष व्यवस्था की जाती है, उसी को सोमानलयन्त्र कहते हैं। यह अभ्रक आदि की जारणा के लिए प्रयुक्त होता है।

भूमि में गड्ढे में एक जल से भरा पात्र रख उस पर एक शराव में पारदादि पदार्थ रखें और उसे ढक दें। जिसके ऊपर उपले रख आग जला दें। यही सोमानल का विधान है।

१२. गर्भ यन्त्र—पिष्टी बने पारद की भस्म करने वाले यन्त्र का अब वर्णन किया जाता है। चार इंच लम्बी दो इंच चौड़ी मिट्टी की एक गोल मूषा बनावें। इस पर २० भाग लवण, १ भाग गुग्गुल, और १० भाग मिट्टी मिली मूषा के भीतर भाग में खूब लेप कई बार कर दें तथा वही लेप के

बाहर कई पर्त चढ़ा दें अब इसे भूमि में गड्ढे में रखकर १ से ३ दिन तक तुषों की अग्नि से तपावें।

गोल मूषा में अन्दर लेप करने के बाद पारद पिष्ठी आदि भरकर फिर चारों ओर से उसे बन्द करके कई लेप चढ़ाकर सुखाना पड़ेगा। इस प्रकार पारद की अन्तंधूम भस्म बन जाती है। कुलकर्णी जी मूषा के मुख को खुले रहने के पक्ष में है।

१३, हंसपाक यन्त्र—वालू से भरे एक खपरे में, दूसरा छोटा खपरा रख कर पांचों क्षार, आठों मूत्र और पांचों नमकों को डाल दें और मन्द-मन्द अग्नि पर पाक करें। इस पाक से बिड तैयार होता है। और इस यंत्र को हंसपाक यंत्र कहते हैं।

१४. वालुका यन्त्र—एक सुन्दर गहरी एक अंगुल मोटी कपरौटी करके सुखाई हुई कांच की आतशी शीशी लेकर उसके तीन भागों में औषधी युक्त पारद भर दें। उसे एक लोहे की नांद में (जिसकी एक बित्ता गहराई में बालू भरी हो) रख दें और चारों ओर से वालू से उसका तीन भाग आच्छादित कर दें नांद के ऊपर एक ढक्कन रखकर सन्धि बंन्धन कर दें। सूखने पर चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द मृदु और तीक्ष्ण अग्नि दें। जब ऊपर रखा तिनका जलने लगे तो पाक हुआ जानें।

यह वालुका यन्त्र है। वालू के स्थान पर नमक भरने से यही लवण यन्त्र कहलाता है।

५ आढक वालू से भरे पात्र में पारादि पदार्थों के गोल शीशी या पाक करने को वालुका यन्त्र कहते हैं।

आजकल साइन्स प्रयोगशालाओं में जो तापसह—सिगकोल या चाइरेक्स कांच की २५० या ५०० सी. सी. की गोल पेंदी की शीशियां बिकती हैं, उनका उपयोग करना बहुत लाभप्रद रहता है। इस पर दो-तीन कपड़ा मिट्टी करने से भी काम चल जाता है। इसके तीन चौथाई भाग में कज्जली व दवा भर कर वालुका यन्त्र में रख देते हैं। इस यन्त्र में पाक करके रस सिन्दूर, स्वर्ण सिन्दूर तथा अन्य कूपी पक्व बनाये जाते हैं। इसका विशेप वर्णन आगे उसी प्रकरण में देखें

१५. नालिका यन्त्र—नमक से भरे दृढ़ पात्र में लोहे की नली में पार-

दादि पदार्थों की कज्जली भर वालुका यन्त्र की तरह पाक करने की क्रिया को नलिका यन्त्र पाक कहते हैं।

१६. भूधर यन्त्र—रस से युक्त मूषा को गड्ढे में रख चारों ओर से वालू डाल ऊपर से उपलों की अग्नि जला दें। यह भूधर यन्त्र है।

१७. पुट यन्त्र —दो शरावों के सम्पुट में पुटित होने वाले पदार्थों को रख संधि-बन्धन कर दें (यदि आवश्यक हो तो) और उसे उचित संख्यक उपलों में फूंक दें या इस सम्पुट को दो पहर तक चूल्हे पर चढ़ा दें। यह पुट यन्त्र है।

१८. कोष्ठी यन्त्र—धातुओं के सत्त्वपातन करने के लिये १६ अंगुल व्यास की १ हाथ ऊँची जो भट्टी बनाई जाती है। वह कोष्ठी यन्त्र कहलाता है। इसे ठोस कोयलों से भर दे। बीच मे सत्त्वपातनार्थ प्रयुक्त पदार्थों से भर कर पात्र रख दें। उसके नीचे मुँह से मुँह मिलाकर दूसरा पात्र गड्ढे में रख दे और अग्नि देकर फुँकनी मे धोंकें। ऊपर के पात्र से धातु गल-गलकर नीचे जमा होती जायेगी।

१९. वलभी यन्त्र—एक लोहे के (कान्त लोहे के हों तो और अच्छा) पात्र में भीतर की ओर दो छल्ले डलवा दें, एक दूसरा छोटा लोहे का पात्र बनवाकर दोनों छल्लों को बाँध छोटे पात्र को अधर लटका दें। छोटे पात्र मे मूर्च्छित पारद डालें, बड़े पात्र को कांजी से भर दें। ६ घण्टे लगातार स्वेदन करें तो रस का उत्थापन हो जायेगा और वह षड गुण सम्पन्न हो जाएगा।

छोटे पात्र की ऊँचाई बड़े पात्र की चौथाई रहनी चाहिये ताकि कांजी भरने से छोटे पात्र में भी वह आ जावे, और पारद डूब सके।

२०. पालिका यन्त्र —लोहे के गोल प्याले के एक ओर बिन तामलोहे का डण्डा लगा दें, यही पालिका यन्त्र या तेल निकालने के लिए प्रयुक्त तेलियों की परी है। यह गन्धक जारण पर्पटी निर्माण या पारद की कृष्ण भस्म बनाने के लिए प्रयुक्त होती है।

२१. घट यन्त्र—ऐसा घड़ा या काच का पात्र जिसमें ४ प्रस्थ नपा हुआ जल आता हो और जिसका मुख चार अंगुल चौड़ा हो, घट यन्त्र या आप्यापनक या उत्थापनक कहलाता है।

२२. इष्टिका यन्त्र—भूमि में गोल गड्ढा खोद कर उसमें एक प्याला रख

दें। उसके ऊपर एक ईंट जिसके बीच में एक गड्ढा हो जमा दें। गड्ढे के चारों ओर १ अंगुल ऊँची एक मेंड़(पाली) बांध दें ईंट के गर्त में पारद भर दें। पाली ऊपर एक कपड़ा तान दें जिसके ऊपर गन्धक रख दें फिर शराव के मुख को ढक सकें इतना बड़ा शराव रखकर चारों ओर मिट्टी से पाली और शराव के बीच का भाग भर दें। अब उल्टे शराव पर केवल एक कपोत पुट दें। यह इष्टिका यन्त्र है जो गन्धक जारणा के लिए प्रयुक्त होता है। इसका स्वरूप चित्र में देखें।

कुलकर्णी जी आर-पार छेद वाली ईंट लेने को कहते हैं। इष्टिका यन्त्र से गन्धक की निर्धूम जारणा होती है।

२३. हिंगुलाकृष्टि विद्याधर यंत्र—एक घड़े के अन्दर हिंगुल डालकर उसके ऊपर दूसरे घड़े का पैंदा जमा सन्धिबन्धन कर चूल्हे पर चढ़ा दें ऊपर के घड़े में शीतल जल डालते जावें। इस हिंगुलाकृष्टि विद्याधर यन्त्र से हिंगुल से पारद निकालने के लिए ऊर्ध्वपातन किया जाता है।

२४. डमरू यंत्र—एक भाण्ड में पारद युक्त पदार्थ डालें, दूसरा समान आयतन का भाण्ड उसके ऊपर औंधा दें। दोनों की सन्धियाँ दृढ़ कपरौटी से बन्द करके सुखा दें। यह डमरू यन्त्र है जो रस भस्म या हिंगुल से पारद निकालने के लिए प्रयुक्त होता है।

२५. नाभियंत्र—लोहे या मिट्टी की चार अंगुल किनारे वाली एक थाली बनावें। इसके बीच में एक गढ्ढा बनावें उसमें पारद गन्धक की कज्जली या दोनों यों ही डाल दें। गड्ढे के किनारे १ अंगुल ऊँचे उठा दें उसे गोस्तनी मूषा (देखो मूषादि प्रकरण) से ढक दें और मूषा तथा गड्ढे का सन्धिबन्धन तोयमृत्तिका (देखो परिभाषा प्रकरण) से करें। फिर पाली में जल भर दें और उसे चूल्हे पर चढा नीचे से आग दें। यही नाभियन्त्र है। इसमें गन्धक की निर्धूम जारणा होती है।

२६. प्रस्त यन्त्र—एक पूर्णत: गोल पर तली भर चिपटी मूषा बना लें। उसे उसी प्रकार की दूसरी मूषा के उदर में प्रविष्ट करा दें। दोनों मूषाओं के बीच की खाली जगह में पारद भर दें वह्नि मृत्तिका से सन्धि बन्धन कर इसे पुट की तरह फूंकें या चूल्हे पर चढ़ावें। यह रस बच्चों के लिए उपयोगी है।

२७. स्थाली यन्त्र—एक भाण्ड लें उसमें ताम्रादि धातुओं की घोट कर

बनाए और सुखाये गोले को रख मुख पर एक शराव ढंक दृढ़ कपरौटी करके चूल्हे पर चढ़ा दें। यही स्थाली यन्त्र है।

२८. धूप यन्त्र—आठ अंगुल ऊंचा और उतना ही चौड़ा एक लोहे का घड़ा लेकर उसके अन्दर मुख से २ अंगुल नीचे चारों ओर एक चौड़ी पत्ती से शलाधार बनवा उस पर तिरछी लोह शलाका गाड़ दें। पात्र में धूप द्रव्य भर दें। शलाकाओं पर स्वर्ण पत्र बिछाकर मुख को भर दें। ऊपर से घड़े को ढकने के लिये दूसरा लोहे का घड़ा उल्टा औंधाकर सन्धिबन्धन दृढ़ कर दे कर सुखा चूल्हे पर चढ़ा दें। धुंआ निकल-निकल कर स्वर्ण पत्रों को रंग देगा। यथेष्ट समय के बाद स्वांग शीतल होने पर काले स्वर्ण पत्र मिलेंगे। इन्हें पारद आसानी से खा जाता है। जारण के उपयोगी द्रव्य को सिद्ध करने के लिए यह धूप यन्त्र है।

स्वर्ण पत्रों के धूपन के लिये गन्धक हरताल मनःशिला की कज्जली या नाग भस्म ली जाती है। रजत पत्रों के लिये वङ्ग भस्म चलती है, इसी प्रकार अन्य समझें।

२९. कन्दुक यन्त्र—यह स्वेदनी यन्त्र ही है, जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं। इसका एक दूसरा प्रकार यह भी है कि एक पात्र में जल लें और कुछ दूर तक तृण भर दें उस पर स्वेद्य पदार्थ रख ऊपर से दूसरे पात्र से बन्द कर दें नीचे से अग्नि दें।

३०. खल्व यन्त्र—खल्ल या खरल वे हैं, जिनमें औषधियां घोटी पीसी जाती हैं। पत्थर के खरल २४ (लं०) × ६ (चौ०) × १६ (ऊं०) आकार के होते हैं, जिनमें १२ अंगुल ऊंची मूसली पड़ती है। २० × १० × १० आकार के खरल भी काम में आते हैं। ऊंचाई का आधा भाग पत्थर की मोटाई का माना जाता है।

इन खरलों के तीन प्रकार माने गये हैं—

(१) अर्द्ध चन्द्राकार खरल—इसका आकार निम्न होता है—

लम्बाई १६ अंगुल = ऊंचाई १० अंगुल

चौड़ाई १० अंगुल = गहराई ७ अंगुल

पाली की मोटाई = २ अंगुल

इसका आकार अर्द्ध चन्द्राकार होता है। इसमें ५ पल पारद घोटा जा सकता है। यह पत्थर का बना हुआ होता है।

(२) बर्तुल खरल—इसका आकार निम्न प्रकार होता है—

भीतरी चौड़ाई=१२ अंगुल
गहराई =६ अंगुल
मूसली लम्बाई=८ अंगुल

यह लोहे का होता है। इसे साधारणतया घिसने के लिये भी प्रयुक्त करते हैं, पर प्रमुख प्रयोग इसी के आकार का चूल्हा बनवा कर उस पर रख गरम-गरम मर्दन करने के लिये होता है। इसे कान्त लौह का बनवाना चाहिए।

अन्य अनेक मापों के कई मूल्यों के खल्ल यन्त्र आजकल बाजारों में देखे जाते हैं।

३१. भस्म यन्त्र—एक बालिश्त अन्दर से चौड़ी नांद लेकर आधी राख से भर दें। उस पर हरताल की सूखी टिकिया बिछा दें, उस पर फिर राख बिछा कर भर दें। इस यन्त्र से हरताल की भस्म बनाई जाती है। भस्म पूर्ण होने से इसे भस्म यन्त्र कहते हैं।

३२. खल्व सुधादि यन्त्र—लौह खरल पर तीन बार कपड़मिट्टी कर आधे खरल तक चूना भर देना चाहिये। इस पर हरताल, मैनशिलः आदि की सूखी टिकियां बिछाकर फिर ऊपर चूना भरकर लोहे के कटोरे से संधि बन्धन कर देनी चाहिये। इस यन्त्र से भी हरताल भस्म बनाई जाती है।

३३. तलपात यन्त्र—लवंग, जीरा, धनिया, दालचीनी आदि को थोड़े प्रमाण में तैल निकालने के लिए किसी भी दवा को कूट पीस कर एक प्याले के मुख पर कपड़ा बांधकर कपड़े पर दवा बिछा दी जाती है। उस पर अभ्रक पत्र बिछाकर तवे में जले कोयले भर कर ऊपर से रख देने से औषधी तेल प्याले में गिर जाता है। यही तलपात यन्त्र है।

३४. पाताल यन्त्र—किसी हांडी की पैंदी में छोटा-सा एक छिद्र कर तेल निकालने लायक कोई औषधि या छाल लकड़ी आदि भर कर ऊपर ढक्कन लगाकर संधि बन्धन कर दिया जाता है। जमीन में एक हाथ लम्बा चौड़ा गढ़ा खोदकर बीच में एक छोटी हांडी रखकर औषधि पूर्ण हांडी ऊपर रख दोनों को जोड़कर ऊपर की हांडी के पैंदे तक मिट्टी भर दी जाती है। ऊपर से उपलों की अग्नि देने से औषधि का तेल नीचे की हांडी में गिर जाता है। इस यंत्र से मिलावा कैथ की छाल तथा नारियल के छिलकों का तेल निकाला जाता है।

३५. ऊष्म यंत्र—एक घट में आधे भाग तक कांजी भर दें। जिस किसी शुष्क द्रव्य का स्वरस निकालना हो कूट छान कपड़े में बांध कर पोटली को घटमुख से बंधी एक लकड़ी के सहारे कांजी से ऊपर लटका दें। पोटली न भीजे, घट के नीचे अग्नि देने से वाष्प से पोटली स्विन्न हो जायेगी। स्विन्न द्रव्यों को दबा कर स्वरस निकाला जाता है।

३६. वाष्प स्वेदन यन्त्र—एक बड़े टब के अन्दर के भाग में किनारे पर दो कड़े लगे हों, अर्ध भाग तक टब में जल भर दें। जिस द्रव औषधि को सुखाना हो, पात्र में रखकर टब के कड़ों से बांध देवें। टब के नीचे अग्नि देने से वाष्प द्वारा पात्र की औषधि सूख जायेगी। वाष्प द्वारा औषधि सुखाने का बहुत उपयोगी यन्त्र है। इस यन्त्र से औषधि सत्व बड़ी सरलता से तैयार होते हैं।

३७. स्वरस यन्त्र—बिल्व पत्र, अडूसा, पिया बांसा आदि का स्वरस निकालने के लिए, एक कढ़ाई में तीन भाग पानी भर कर तीन तरफ ईंटें रखें। उस पर एक तवा रखें, तवे पर जिन पत्रों का स्वरस निकालना हो, उस द्रव्य को रखकर ऊपर से एक कटोरा औंधा कर नीचे अग्नि देवें। औषधि के स्विन्न हो जाने पर स्वरस सुगमता से निकल जाता है।

३८. दर्विका यन्त्र—भड़भूंजे की वालू की बड़ी करछुल को दर्विका यंत्र कहते हैं, यह गन्धक जारण के कार्य में आती है।

आज औषधि निर्माण का नवीन यन्त्र साहित्य सुविस्तृत हो चुका है। जिनका उपयोग कुछ भाग में आयुर्वेदीय फार्मेसियों के औषध निर्माण में हो रहा है।

प्रश्न—कज्जली निर्माण किस प्रकार किया जाता है? उत्तम कज्जली की क्या पहचान है? कज्जली घटित पांच रसयोगों के नाम लिखिये। (१९७४)

उत्तर—कज्जली निर्माण :

पारद और गंधक के द्वारा कज्जली का निर्माण होता है। पहले पारद को विधि अनुसार शुद्ध किया जाता है और गंधक को विधि पूर्वक शुद्ध करते हैं—फिर दोनों को समभाग ले कर खल्व यन्त्र में मर्दन करते हैं। खल्व यन्त्र पत्थर का होना चाहिए। मर्दन करने से पारद की द्रवता नष्ट होती जाती है और गंधक में पूर्ण रूप में मिलन होता जाता है। इस तरह काले रंग का चूर्ण तैयार हो जाता है। यह बहुत कृष्ण वर्ण का और 'काजल' के समान होता है—इसी

से इस को कज्जली कहते हैं। प्रायः कज्जली निर्माण समभाग गंधक में होता है परन्तु कभी २ पारद से द्विगुण गंधक की भी कज्जली बनाई जाती है उस अवस्था में पारद एक भाग और गंधक दो भाग ग्रहण कर खल्व यन्त्र में उसी विधि से कज्जली तैयार करते हैं। ध्यान रहे कि कज्जली उसी समय तैयार हुई समझनी चाहिए जब कि उसमें पारद की चमक बिलकुल न रही हो। जब तक तनिक भी आभा रहेगी—उसे उत्तम कज्जली नहीं कहा जाएगा।

निम्न योगों मे कज्जली पड़ती है :—

(१) रस सिन्दूर (२) महा ज्वरांकुश रस
(३) ज्वर केशरी रस (४) शीत भंजी रस
(५) सूत राज रस

प्रश्न—रसपुष्प तथा रसकर्पूर की निर्माण विधि तथा उपयोग लिखिए।

उत्तर—रसपुष्प (सुधानिधि)

विधि—यह रस तरंगिणी का योग है। शुद्ध पारद में प्रथम शुद्ध कासीस को थोड़ा-थोड़ा मिलाकर मर्दन करता जाए। कासीस की समाप्ति होते ही सैन्धा नमक भी मिलाना शुरू कर दें। मर्दन करते-करते जब पारद पूर्ण नष्ट-पिष्ट हो जावे तो डमरु यन्त्र में रख दें। अति मन्द आँच छः घण्टे तक देते रहें। स्वांग शीत होने पर उतार दें और ऊर्ध्वभाग में लग्न अभीष्टरस चन्द्रवत श्वेत वर्ण का प्राप्त करें।

इसमें कुछ सावधानी रखनी पड़ती है। डमरु यन्त्र के ऊपर वाले मिट्टी के बर्तन में चवन्नी की तरह का छिद्र कर लें। इस छिद्र से पानी का वाष्प उड़ जाता है। वहां एक पैसा रख देना चाहिए। जब वाष्प उड़ रहे होंगे तो इस रखे हुए पैसे पर लग जायेंगे। अन्यथा यह खुला ही रहेगा। वाष्प के उड़ जाने पर पिधान मृत्तिका द्वारा छेद बन्द कर दें। फिर इससे ऊपर शीतल तैल की पट्टी रखें। इसमें रसपुष्प के कण ऊपर के पात्र में लग जाया करते हैं।

रसपुष्प की परीक्षा करने की भी आवश्यकता पड़ जाती है। स्वच्छ तथा चमकीले लौह पात्र में जल बिन्दु डालें। इन पर थोड़ा सा रसपुष्प रखकर ऊपर से जल बिंदु डालें। यदि यह स्थान काला न हो तो शुद्ध रसपुष्प होगा।

उपयोग

रसपुष्प उपयोगी है। यह मूत्रल, पित्तहर, विरेचक, कृमिघ्न, व्रणदोषहर

तथा हिक्का, फिरंग, विषूचिका, जलोदर नाशक है। सामान्यतः मात्रा आधे से ढाई गुंजा तक निश्चित की गई है। दस्त करने के लिए २॥ गुंजा, बच्चों के दस्त लाने के लिए $\frac{1}{8}$ गुंजा, हिक्का नाश के लिए गुंजा तथा फिरंग रोग के शमनार्थ $\frac{1}{2}$ गुंजा की मात्रा विशेषतः प्रयुक्त है।

सारांशतः रसपुष्प निर्माण के लिए इन उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। डमरू यंत्र (विद्याधर यंत्र), हसन्ती (अंगीठी), पिधान कर्मार्थ मिट्टी, वस्त्र खंड तथा तैल। इसके अलावा रसपुष्प बनाने में कुल इन औषध द्रव्यों की आवश्यकता रहती है। शुद्ध पारद ५ तोला, सैन्धव लवण ५ तोला व शुद्ध कासीस ४ तोला। इस प्रकार पुष्प निर्मित हो जाता है।

रसकर्पूर (१९७२)

विधि—रसकामधेनु ग्रन्थ के अनुसार इसकी विधि इस प्रकार है। कासीस, खड़िया, पीली मिट्टी, सैन्धव लवण, पारद से प्रत्येक चीज तिगुनी लेवें। इसमें पारद को खूब मिलाकर मर्दन करें। फिर कांचकुप्पी (शीशी) में रखकर पाक करें। जो ऊर्ध्वलग्न द्रव्य मिलेगा, उसे पुनः दूसरी बार कूपी पाक करें। यह रसकर्पूर बन जाएगा।

इसकी एक विधि और देख लीजिए। नवसादर १ भाग, टंकण १ भाग, समुद्रफेन १ भाग, फिटकरी ३ भाग, खड़िया मिट्टी ३ भाग, सोनागेरू ३ भाग, लाल चन्दन छः भाग और पारद सबके बराबर लेकर इनको आकाशबेल और बहेड़ा के रस में तीन दिन तक खरल करके शीशी या डमरूयंत्र में रखकर पारद को उड़ाना चाहिए। इसमें यौगिक ऊपर [illegible] लग जाता है। इसे पुनः उड़ा लें तो उत्तम रसकर्पूर होता है।

एक नवीन विधि और है, जिसका समझना आवश्यक है। इसमें सुरा-प्रदीप (स्प्रिट लैम्प), कांचचषक, वालुका यंत्र तथा त्रिपादिका उपकरण काम में आते हैं। पारद से चौगुना गन्धक का अम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड) लेकर दोनों को कांचकुप्पी में एकत्र कर कोयलों पर रख दें या सुराप्रदीप में अग्नि दें। पंखा (भस्त्रा) से अग्नि को खूब प्रज्वलित करना चाहिए। इसमें रासायनिक क्रिया होती है। उस समय सारा पारद गन्धकाम्ल से मिलकर श्वेत चूर्ण रूप में बन जाता है। जलीयांश सूख जाने पर कांचचषक को उतार कर शीतल होने दें। उस समय उसके धुंए से बचें। जब गन्धाम्ल जल जाये तब

उतार कर उस पारद के समान मात्रा में सैन्धानमक का चूर्ण मिलाकर कांच-कुप्पी में सात कपड़मिट्टी करके बालुका यन्त्र में १३ घन्टे तक धीमी आंच से पाक करना चाहिए। स्वांगशीत होने पर कांचकुप्पी के गले में लगा हुआ जो सफेद रंग का पदार्थ मिलेगा, वही रसकर्पूर है। यदि एक दृष्टि से देखा जाये तो लगभग २० प्रकार विभिन्न आचार्यों ने रसकर्पूर के बताये हैं।

उपयोग

रसकर्पूर फिरंग, उपदंश प्रभृति विकारों को अच्छी औषधि हैं। पाश्चात्य विज्ञान में ऐसी बीमारियों में पारद-योग दिये जाते हैं। रसकर्पूर त्वचारोग अतिसार नाशक तथा व्रणशोधक, ग्राही, दीपन, क्षुधावर्धक, पौष्टिक है। इसकी सावधानी रखनी चाहिए। प्राचीन प्रकार द्वारा निर्मित रसकर्पूर $\frac{1}{2}$ से २$\frac{1}{2}$ गुंजा तक मात्रा में दिया जाता है। नव्य विधि से प्रस्तुत रसकर्पूर $\frac{1}{64}$ से $\frac{1}{32}$ गुंजा तक दें। अधिक मात्रा में विषैला प्रभाव करेगा। रसकर्पूर के अन्त-प्रयोग के लिए मात्रा बना लेनी चाहिए। रसकर्पूर १ गुंजा, दारुसिता चूर्ण पांच माशा मिला लें। इस चूर्ण में से १ रत्ती निकाल कर सेवन कर सकते हैं।

प्रश्न—रसपर्पटी ताम्रपर्पटी तथा समीर पन्नग रस की निर्माणविधि तथा उपयोग लिखिए।

उत्तर—रसपर्पटी (१९६५, ६६, १९७२)

विधि—रस पर्पटी का निर्माण करने के लिए इन उपकरणों को जुटा लेना चाहिए। गोबर, केले के पत्ते, अंगीठी तथा लोहे की कढ़ाई। इसमें शुद्ध पारद शुद्ध गन्धक (दोनों बराबर मात्रा में), जयन्ती, एरण्ड, भृंगराज, आर्द्रक रस की आवश्यकता पड़ती है, अतः एकत्र कर रख लेनो चाहिए।

सर्वप्रथम पारद को गन्धक के साथ समान मात्रा में मिलाकर कज्जली बना लेनी चाहिए। फिर जयन्ती, एरण्ड, भृंगराज, अदरक के रस से इस कज्जली को सात बार भावित करें। पुनः इस कज्जली द्रव्य को धूप में सुखा लें। इसमें से थोड़ा चूर्ण पदार्थ लेकर लोहे की कड़ाही में डालकर हल्की आंच देने वाली अंगीठी द्वारा गर्म करें। कड़ाई में कुछ घी डाल दें, जब कज्जली द्रव्य पिघलने लगे, तब उसे ताजे गोबर पर रखे केले के पत्ते पर फैला दें। फिर ऊपर से दूसरा पत्ता रखकर पुनः ताजा गोबर रख दें। इस प्रकार बीच में दबा हुआ पापड़-सा पदार्थ होता है। इसको हम रसपर्पटी कहते हैं।

उपयोग

रसपर्पटी प्रसिद्ध रस औषध है। यह ग्रहणी, गुल्म, जलोदर, क्षय, जीर्ण-ज्वर, शोथ, अतिसार, अर्श, कामला, पांडु, अम्लपित्त व आमवात रोगों का नाश करती है। इसकी मात्रा क्रम से २—१० गुंजा तक रखी जाती है।

ताम्रपर्पटी

यह योग रत्नाकरग्रन्थ का योग है। इसके उपकरण उपरोक्तवत् ही इकट्ठे कर लेना चाहिए। ताम्रभस्म ३ भाग, शुद्ध पारद ३ भाग, शुद्ध गन्धक ६ भाग तथा शुद्ध वत्सनाभ १ भाग—दवाइयाँ काम आती हैं।

सबसे पहले पारद व गन्धक की कज्जली बनाकर, उसमें शेष द्रव्य (ताम्र-भस्म, शुद्ध वत्सनाभ) भी मिला दें। फिर उपरोक्त रसपर्पटी की विधि से केले के पत्तों में रख के पर्पटी बना लें। कज्जली बनाने में सावधानी की आवश्यकता है। कज्जली में पारद के कण सर्वथा मिल जाते हैं। उसमें चमक तथा उज्ज्व-लता न पाई जाये तथा रेखापूर्णता हो।

उपयोग

ताम्रपर्पटी ग्रहणी , उदरशूल, यकृत-प्लीहावृद्धि-नाशक, दद्रु, श्वित्र, आम-वात, प्रमेह नाशक है। इसकी मात्रा १—३ गुंजा तक है।

समीर पन्नगरस

इस रस के निर्माणार्थ घटक द्रव्य संग्रह करें। शुद्ध सोमल ४ भाग, शुद्ध ताल ४ भाग, शुद्ध मन.शिला ४ भाग, स्वर्णपत्र १ भाग, शुद्ध पारद ४ भाग तथा भावना के लिए कुमारी स्वरस।

शुद्ध पारद में स्वर्ण पत्र एक-एक मिलायें। इसमें गन्धक मिलाकर कज्जली बनायें। शेष द्रव्यों को मिलाकर कुमारी स्वरस की तीन भावना देकर, सम्पूर्ण द्रव्य को धूप में सुखा लें। इस शुष्क कज्जली को सात कपरोटी की हुई काँच-कुप्पी में भर दें। काँचकुप्पी को वालुका यन्त्र में रखकर दो दिन पर्यन्त मन्द अग्नि से पाक कर लें। स्वांगशीत होने पर तलस्थ कृष्णावर्ण का पदार्थ मिलता है। इसे समीरपन्नग रस कहते हैं।

उपयोग

यह रस वातकफज रोग, अर्दित, पक्षाघात, पार्श्वशूल, कटिस्तम्भ, सन्नि-

पात ज्वर में तन्द्रा, स्वेदाधिक्य तमकश्वास, शीतांगता, फिरंग, उहर्दंशज वात-रोग में उपयोगी है। इसे आधा से एक रत्ती की मात्रा में मधु-अदरक या उचित अनुपान से प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न—लक्ष्मी विलास रस, सूतशेखर रस, त्रिभुवनकीर्ति रस, पंचामृतपर्पटी का परिचय दीजिए।

उत्तर—**लक्ष्मीविलास रस** (१९६७)

विधि—यह रस कामधेनु का योग यहाँ पर दिया जा रहा है। पारद व गन्धक को बराबर मात्रा में लेकर खरल कर कज्जली बनायें फिर जम्बीर के रस में एक दिन खरल कर १२ प्रहर की अग्नि में विधिपूर्वक पाक करने पर रस सिन्दूर तैयार होता है। अतदुपरान्त इसमें ताम्रभस्म, पीपल, कूठ प्रत्येक पारद के बराबर मिलाकर विजोरा नींबू के रस में ३ दिन तक खरल करके गोली बना लेनी चाहिए।

उपयोग

यह लक्ष्मीविलास रस अदरक और मधु के साथ देने से वात रोगों में लाभ करता है। अगर नवीन विषमज्वर, जीर्णज्वर, क्षय, हलीमक के रोगी हों तो पीपल व शहद के साथ देते हैं। रसायन कर्म के लिए इसे घृत व शहद के साथ मिलाकर सेवन किया जा सकता है। यह रस कुष्ठादि चर्म विकारों में सेवनीय है।

सूतशेखर रस

विधि—योग-रत्नाकर का योग है। इसके निर्माण के लिए विशेषत: दो उपकरणों—खल्वयन्त्र तथा छालनिका की आवश्यकता होती है। सबसे पहले पारद व गंधक समभाग मिलाकर सुन्दर कज्जली बना लेनी चाहिए। तदुपरांत निम्न द्रव्यों को पीसें—

स्वर्ण भस्म	शुद्ध सोहागा
रजत भस्म	सोंठ
काली मिर्च	पिप्पली
शुद्ध धतूर के बीज	ताम्रभस्म
दाल चीनी	छोटी इलायची

तमालपत्र	नागकेशर
शंख भस्म	वेल की गिरी
कचूर	(सब बराबर मात्रा में)

फिर इस मिश्रण में मृगंराज रस की २१ दिन तक भावना दें। फिर गोलियां बनाकर धूप में सुखा लें। यही मृतशेखर रस है।

उपयोग

यह रस अम्लपित्त, हृदय प्रदेशीय जलन, भ्रम, वमन, उदरशूल तथा पित्तज रोगों का नाश करता है। इसे गुंजा की मात्रा में अनार रस अथवा दूध के साथ लेते हैं।

त्रिभुवनकीर्ति रस

विधि—यह प्रसिद्ध खल्वीय रसायन योग रत्नाकर का योग है। इसमें भी खल्वयन्त्र तथा छालनिका की आवश्यकता पड़ती है। खरल में शुद्ध हिंगल शुद्ध टंकण तथा सोंठ, मिर्च, पीपल को पीसकर खूब चूर्ण बना लेना चाहिए। इसमें तुलसी, धतूरा, अदरक तथा सम्हालू के पत्तों के स्वरस से तीन-तीन दिन भावना दें। इस प्रकार घोटते हुए गोलियां बना लें और छाया में सुखा लें। यह त्रिभुवन-कीर्ति रस प्रस्तुत हो जाता है।

उपयोग

यह रस ज्वरों के नाशार्थ विशेष सेवन कराया जाता है। उत्तम लाभ वातकफ ज्वर में करता है और इस औषधि की १-१ रत्ती मात्रा अदरक, शहद या उचित अनुपान से दी जाती हैं।

पंचामृतपर्पटी

विधि—यह भैषज्यरत्नावली का योग है। इसके उपकरण रसपर्पटी के समान अर्थात् गोबर, केले के पत्ते, घी, अंगीठी तथा लोहे की कड़ाही जुटाना चाहिए। फिर शुद्ध पारद एक भाग तथा गन्धक चार भाग की कज्जली बनायें। पुनः इसमें ताम्र भस्म, अभ्रक भस्म एक भाग, लौह भस्म एवं भाग लें मिला कर मर्दन करें। फिर रसपर्पटी की विधि से गोबर के ऊपर रखे केले के पत्तों के बीच दबाकर काले रंग पंचामृत पर्पटी तैयार कर लें।

उपयोग

यह पर्पटी ग्रहणी, अतिसार, पाण्डु, मन्दाग्नि, अम्लपित्त रोगों में दी जाती है। इससे पर्याप्त लाभ करती है। इसकी मात्रा १-४ गुंजा तक है। कल्परूप में इसका प्रयोग कराते समय इसको क्रमवृद्धता के ६० गुंजा तक भी मात्रा पहुंच जाती है। इस विशेष अवस्था में घृत, दुग्ध, छाछ प्रभृति पदार्थों के प्रचुर प्रयोग का विधान है।

प्रश्न—अग्निकुमार रस, रससिंदूर तथा मृत्युञ्जय रस की निर्माण-विधि तथा उपयोग लिखिए।

उत्तर—अग्निकुमार रस (१९६६, ६८)

विधि—अनेक प्रकार के अग्निकुमार रसो का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है। प्रसिद्ध प्रयोग के लिए प्रयुक्त अग्निकुमार का वर्णन देना अभीष्ट है। भुना सुहागा, शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक—सम भाग लेकर शुद्ध वत्सनाभ विष सुहागे से तिगुना लें। कौड़ी की भस्म, सज्जी खार, जवाखार, पीपल, सोंठ—प्रत्येक एक-एक कर्ष तथा काली मिर्च आठ कर्ष लें। सर्वप्रथम पारद व गंधक की कज्जली बनाई जाती है। फिर सब द्रव्यों को मिलाकर एक दिन सूखा ही घोंटें। तदन्तर दो दिन जम्बीरी नीबू के रस से मर्दन करें। फिर इस तैयार अग्निकुमार रस का रोगियों पर प्रयोग करना चाहिए।

उपयोग

इस अग्निकुमार रस की मात्रा १-२ रत्ती है। इसे विषुचिका, शूल अग्निमांद्य प्रभृति विकारों पर भूरिशः प्रयोग किया जाता है।

एक अग्निकुमार रस और देख लीजिए। पारद, गंधक, मीठी तेलिया, टंकण शिगरफ सब समान भाग ले। आक के दो पत्तों का रस निकाल कर उसे कुछ गर्म करके उसमें उक्त वस्तुओं को दो दिन तक खरल करें। तदनन्तर इसकी टिकियाँ बनाकर सुखा लें। इन चक्रिकाओं को सम्पुट में बन्द करके वालुका-यन्त्र में रखकर मन्द मध्यम अग्नि में ४ दिन पाक करें। फिर शीतल होने पर इसे निकाल लें। यह अग्निकुमार रस बन गया।

यह रस समस्त ज्वर, अतिसार, संग्रहणी आदि विकारों में लाभ करता है। इसको अदरक रस के साथ १-२ रत्ती की मात्रा में सेवन करना चाहिए।

रस सिंदूर (१६६७-१६७२)

विधि

यह प्रसिद्ध रस है। इसके अनेक योग शास्त्रों में वर्णित हैं। एक सामान्य निर्माण विधि प्रस्तुत की जा रही है।

इसके निर्माणार्थ वालुकायन्त्र, कोष्ठिका, लोहशलाका, ताम्रपत्र उपस्थित करने चाहिये। सर्वप्रथम पारद तथा गंधक की निश्चंद्र कज्जली बना लें। फिर उसमें बरगद के अंकुरों के रस की तीन भावना दें। फिर सात कपड़मिट्टी की हुई कांच कुप्पी को (कज्जली युक्त) वालुकायंत्र में रख दें। इसमें पहले हल्की, फिर मध्यम तथा अंत में तीव्राग्नि से पाचन क्रिया करनी चाहिए। गन्धक जीर्णता के बाद कांचकुप्पी के मुख को गुड़ तथा चूना मिलाकर उसकी सन्धि पर लेप कर दें फिर तीव्राग्नि प्रारम्भ कर दें। ६ घंटे तक यह क्रिया चालू रखनी चाहिए। जब कांचकुप्पी स्वांगशीत की अवस्था में आ जावे तब इसके गले में लाल रंग का लगा हुआ रस सिंदूर मिलेगा।

इसमें कुछ विशेष बातों की भी जानकारी होनी चाहिए। गंधक जीर्ण हो गया है—यह इन लक्षणों से ज्ञात हो जाता है। पीला-सा धुआं निकलना बन्द हो जाएगा। कांचकुप्पी के मुख पर अगर एक ताम्रपात्र रखा जावेगा तो वह काला पड़ जायेगा। एक लौह शलाका से भी परीक्षा की जाती है। शलाका को हल्के हाथों से कुप्पी में डाले यदि गंधक होगी तो वह पतलेपन के कारण शलाका में लग जायेगी और इस छड़ को जरा आग में रखें तो उसमें से गन्धक की ज्वाला, गन्ध आदि निकलेगी। रात्रि में भी परीक्षा होती है। गन्धक कांचकुप्पी में यदि उपस्थित होगा तो कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकेगा। गन्धक रहित अवस्था में लाल-सा रंग प्रतीत होने लगता है। रससिन्दूर निर्माण के समय कुप्पी व अग्निदान का विशेष व्यवस्था-क्रम रखना चाहिए। सर्वप्रथम ६ घंटे तक हल्की आंच प्रदान कीजिए। आगे के ६ घंटों में बीच की गति (मध्यमाग्नि) से आंच दें तथा फिर गन्धक का जारण होने के बाद (मुख बन्द करने के बाद) अन्त में ६ घंटे खूब तेज आंच देने का विधान है।

उपयोग

इस प्रकार निर्मित रस सिन्दूर अनेक रोगों में प्रयोग कराया जाता है। यह

वाजीकरण, रसायन, अनुलोमन, क्षुधावर्द्धक, बल्य, त्वच्य, स्वेदजनन तथा अनेक रोगों का नाशक, है। इसकी मात्रा आधे से दो रत्ती तक है।

मृत्युजय रस (१९६४, ६६, ६७, ६८)

विधि

मृत्युंजय रस तीन प्रकार के बतलाए गए हैं— महामृत्युंजय, लघुमृत्युंजय तथा अपर मृत्युंजय रस।

सामान्यतः इसकी विधि इस प्रकार है। शुद्ध पारद १ कर्ष, शुद्ध हिंगुल १ कर्ष, शुद्ध जमाल गोटा १ कर्ष—इनको विधारे के रस से २ दिन तक मर्दन करें। फिर गूलर के रस से दो दिन तक घोटें। फिर बारह पुट अदरक के रस में लगायें। जब गाढ़ा हो जाए तो गुञ्जा प्रमाण की गोली बना लें। इसे १-२ रत्ती की मात्रा में मिश्री, शहद या अदरक के रस के साथ देने से ज्वर में विशेषतः लाभ करता है।

उपयोग

महामृत्युंजय रस की विधि लम्बी है। परन्तु यह काम भी अनेक रोगों में करता है। इससे क्षय, श्वास, अम्लपित्त, ज्वर, परिणामशूल आदि नाना प्रकार के रोग विभिन्न अनुपानों से नष्ट हो जाते हैं। यदि मृत्युंजय रस कफ सन्निपात, शूल, मन्दाग्नि नाशक है।

प्रश्न—चन्द्रोदयरस, लोकनाथ रस तथा आनन्द भैरव रस का परिचय दीजिए।

चन्द्रोदय रस (१९६४, ६६)

विधि

चन्द्रोदय के १३ प्रकार मिलते हैं। एक सुगम विधि प्रस्तुत की जा रही है। ३२ पल पारद, ३२ पल गन्धक (शुद्ध) लेकर दोनों की कज्जली निर्माण करें। फिर इसमें १।। पैसा भर विष का चूर्ण मिलाकर इसे शीशी में भरकर शीशी को हांड़ी में रखकर तथा बालू पर नौ पहर अग्नि दें। शीशी (कांचकुप्पी) का मुख ही खुला रहने दें। जब मुंह से आग निकलने लगे तो उसका मुंह—आग कुछ धीमी करके—गुड़ व चूने से बन्द कर दें। तीन पहर बन्द रहने के बाद नौ पहर उपरान्त अग्नि हटा दें। तदुपरान्त शीशी को फोड़कर लाल रंग का ऊर्ध्वलग्न द्रव्य चंद्रोदय प्राप्त करें।

एक अन्य चन्द्रोदय भी देखिए। स्वर्ण रेत या स्वर्ण पत्र लेकर उन्हें शुद्ध कर लें। फिर इस तरह का स्वर्ण ५ तोला, शुद्ध पारद ४० तोला, शुद्ध गन्धक ६० तोला—इन तीनों द्रव्यों को मिला कर लाल पुष्प वाले कपास के रस में तथा कुमारी के रस में तीन-तीन दिन तक खरल करके कांचकुप्पी में भर कर ३ दिन की अग्नि पर पाक करें। यह चन्द्रोदय रस तैयार हो जाता है।

उपयोग

चन्द्रोदय रस अनेक कार्य करता है। विभिन्न प्रकार के चन्द्रोदय रस अपनी-अपनी विशिष्टता रखते हैं। चन्द्रोदय में कुछ द्रव्य मिला कर मात्राएँ बना ली जाती हैं। ५ तोला चन्द्रोदय, कपूर, जायफल, मरिच, लवंग सभी ५-५ तोला कस्तूरी ४ माशा मर्दन कर लें। साथ ही पान के रस के साथ खरल करते हैं। यह चन्द्रोदय का मिश्रण विशेषतः रसायन, वाजीकरण, केश्य, दीपन, मूत्रल होने से ध्वजभंग, इन्द्रिय निर्बलता, पेट के रोग, वीर्य की कमी आदि रोगों में प्रयोग कराने से उत्तम लाभ होता है। इसे चिकित्सक २-४ रत्ती की मात्रा (मिश्रण) में मक्खन, मिश्री या मलाई आदि विभिन्न अवस्थानुसार उचित अनुपानों से सेवन कराते हैं।

लोकनाथ रस (१६६८)

विधि—इसके लिए मूषा, शराव तथा गजपुट आवश्यक उपकरण हैं। पारद-गन्धक की प्रथम कज्जली बना लें। इसमें अभ्रक भस्म मिला दें। इस द्रव्य को कुमारी स्वरस से भावित कर शंकु की तरह पोटली (गोली) बनायें और धूप में सुखा लें। पुनः लौह भस्म तथा ताम्र भस्म, काकमाची रस (या क्वाथ) में पीस लें। इस पोटली पर लेप करके सुखा लें। एक मूषा में वराटिका भस्म बिछाकर इस पर पोटली रख दे और ऊपर से फिर वराटिका की तह लगा दें। मूषा संपुट बनाकर शरावों में बन्द कर दें। स्वांगशीत होने पर कृष्ण वर्ण का पदार्थ मिलता है, यह लोकनाथ रस है।

उपयोग

यह ज्वर, क्षय, अग्निमांद्य, शोथ, कास, संग्रहणी, अतिसार, प्लीहायकृतवृद्धि में उपयोगी है। इसे १-४ रत्ती की मात्रा में मधुपिप्पली चूर्ण अथवा उचित अनुपान से प्रयोग करना चाहिए।

आनन्द भैरव रस(१६६६, ६७)

शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, काली मिर्च, सुहागा बराबर लेकर चूर्ण करें। इसकी गोलियाँ भी बनाई जाती हैं इसे १-२ रत्ती मात्रा में शहद, पानी या उचित अनुपान से अतिसार में देना चाहिए।

प्रश्न—महाज्वरांकुश रस, क्रव्याद रस तथा श्वास कुठार रस का परिचय दीजिए।

उत्तर—**महाज्वरांकुश**

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध धत्तूर बीज तीनों द्रव्यों के बराबर लें। इन चारों से दूना त्रिकुट मिलाकर बारीक पीस लें। रस द्रव्य को जम्बीरस्वरस तथा आर्द्रक स्वरस में गोलियाँ बनायें। इस रस को अष्ट ज्वर, प्रवाहिका, तृतीयक, चतुर्थक, विषमज्वर, सन्निपातज्वर में देते हैं। दो रत्ती की मात्रा में उचित अनुपान से देना चाहिए।

क्रव्याद रस

पारद ४ तोला, गन्धक ८ तोला तथा तांबश्वर लौह सार २-२ तोला, इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण करें और अग्नि दें। एरण्ड पत्रों पर निकाल लें। द्रव्यों को पीसकर कज्जली करें। इसे कड़ाही में रख एक सौ पक्व जम्बीर फलों का स्वरस डाल दें। और मन्द अग्नि जला दें। पक्व कोष्फल के रस की तथा अम्लवेत के रस की भावना दें बराबर की मात्रा में कमलफूल तथा सुहागा (फूला) डालें। सुहागा से आधी मात्रा में विडलवण तथा बराबर मात्रा में मरिच डालकर चणकक्षार में सात बार घोंट लें। इस प्रकार क्रव्याद रस तैयार हो जायेगा।

यह ६ प्रकार के अजीर्ण, अग्निमांद्य, वातविकार, उदर रोग, कुष्ठ, यक्ष्मा गुल्म तथा शूल रोगों में उपयोगी है। १-२ रत्ती की मात्रा से सैंधा नमक तक या उचित अनुपान से सेवन करना चाहिए।

श्वासकुठार रस

पारद, गन्धक, वत्सनाभ, टंकण, मनःशिला इनकी ४-४ माशा तथा मरिच ८ तोला (मरिच एक-एक डालकर) मिलाकर घोटें। पुनः १॥ तोला त्रिकटु भी डालें। यह श्वास कुठाररस बन जायेगा।

यह श्वास रोग में परम उपयोगी है। इसे मिश्री या उचित अनुपान से १-२ रत्ती की मात्रा में आवश्यकतानुसार देना चाहिए।

प्रश्न—मुख्य रसादिकों का मात्रा सहित उपयोग लिखिए।

कतिपय रसों की प्रयोग विधि

अश्वकंचुकी रस—यह रस रसेन्द्रसार का योग है। जीर्ण ज्वर, अजीर्ण गुल्मप्रभृति रोगों में दिया जाता है। यह विरेचक है। इसको दो रत्ती मात्रा में शीतल जल से २-३ बार प्रयोग करना चाहिए।

अगस्ति सूतराज रस—यह रस अतिसार, संग्रहणी, आमाशयशूल मंदाग्नि आदि में उपयोगी है। इसमें अफीम मिलाया जाता है। अतः प्रयोग करते समय सावधानी आवश्यक है। वह भैषज्य रत्नावली का योग है। इसको १ रत्ती की मात्रा में काली मिर्च या जीरे के साथ दो बार सेवन करना उचित है।

अर्धनारीनटेश्वर रस—ज्वर उतारने में इसका विशेष प्रयोग किया जाता है। इस रस का सन्निपात, तन्द्रा, निन्द्रा में नस्य रूप में, प्रयोग करने से उत्तम लाभ देखा गया है। इस रस के प्रस्तोता-ग्रन्थकार के अनुसार बकरी के एक स्तन का दूध निकालकर उस दूध से यह दिया जावे तो जिस भाग के स्तन का दूध होता है, शरीर के उसी आधे भाग का ज्वर उतर जायेगा। समस्त शरीर के ज्वर शमनार्थ अदरक के रस को देने का विधान है। रस की मात्रा १-३ रत्ती है।

अजीर्ण कण्टक रस—यह शार्गधर का योग है। इसका अजीर्ण, बादी तथा हैजे की पहली अवस्था में पर्याप्त लाभ पाया जाता है। इसकी १-२ रत्ती की मात्रा बनाकर गर्म जल, नींबू या प्याज के रस में अथवा अवस्थानुसार उचित अनुपान के साथ सेवन कराना चाहिए।

अर्श कुठार रस (१६६६, ६८)—यह रसेन्द्रसार संग्रह का प्रसिद्ध योग है। नाम से ही बवासीर (अर्श) मे उपयोगिता स्पष्ट है। अर्श में मलबन्ध रहने से तकलीफ में वृद्धि हो जाती है। इस रस का सेवन कराने से मल ठीक से बाहर निकल आता है। अर्शांकुर भी शुष्कता भाव को प्राप्त करते हैं। अपचन में भी लाभकारी है। इसकी १-२ रत्ती की मात्रा प्रातः व सायं गर्म पानी या तक्र आदि से देनी चाहिए।

आनंद भैरव रस (१६६६)—आनन्द भैरव रस के दो प्रकार हैं। एक

कासाधिकार का तथा दूसरा ज्वर स्थल का। प्रथम आनन्द भैरव कास, श्वास, कफ के विकारों में सुन्दर लाभ करता है। थोड़ा बहुत सन्निपात तथा अतिसार में भी इसका उपयोग कर लिया जाता है। एक रत्ती की मात्रा में उचित अनुपान में भी सेवनीय है। दूसरा आनन्द भैरव सामान्यतः अधिक प्रचलित है। यह ज्वरातिसार में भूरिशः प्रयुक्त है। बच्चों के दस्त, बुखार में काफी लाभ करता है। एक रत्ती की मात्रा से दिन में २-३ बार अदरक के रस से लें। दस्तों में विशेष प्रयोग करना हो तो चावल के धोवन के साथ अथवा पानी में घोलकर देना चाहिए। पथ्य दही, चावल मट्ठा रखें।

इच्छाभेदी रस—यह भैषज्य रत्नावली का योग है। उदर रोगाधिकार की यह प्रसिद्ध औषधि विरेचनार्थ प्रयुक्त की जाती है। यह तेज जुलाब की होने से तीव्र मलबन्ध में सेवनीय है। इसकी एक गोली ठंडे पानी से देनी चाहिए। कमजोर बच्चों, वृद्ध मनुष्यों तथा गर्भिणी स्त्रियों को वर्जित है, इनको अभयादि वटी मृदुविरेचनी होने से दी जा सकती है। इस में जमाल गोटा होता है।

कनकसुंदर रस (१६६६, ६८)—ज्वरातिसाराधिकार की यह औषधि, अतिसार और संग्रणी में यदि आमदोष न हो तो नितांत प्रशस्त है। यह वेदना-शामक, अग्निदीपक तथा संग्राहक कर्म सम्पादक है। १-२ रत्ती की मात्रा में अवस्थानुसार उचित अनुपान में सेवनीय है।

कफकेतु रस—यह रसेन्द्रसार संग्रह का योग चिकित्सकों द्वारा पर्याप्त व्यवहृत है। कफ सम्बन्धी रोगों में निश्चित लाभ करता है। श्लैष्मिक ज्वर, कास, श्वास और प्रतिश्याय प्रभृति व्याधियों से अवश्य छुटकारा मिल जाता है। एक रत्ती मात्रा में दिन में दो-तीन बार शहद, अदरक के रस या पान के रस के साथ देना चाहिए।

कर्पूर रस—यह भैषज्य रत्नावली का प्रसिद्ध योग है। दस्तों को तत्काल बन्द करने में रामबाण है। पतले दस्त, संग्रहणी जैसे रोगों में वैद्य प्रायः व्यवहार करते हैं। इसका प्रयोग सावधानी व विशेष विचार करके करना चाहिए, क्योंकि इसमें अहिफेन का योग किया जाता है। एक रत्ती की मात्रा में दिन में एक-दो बार चावल के धोवन या उचित अनुपान से देना चाहिए।

कस्तूरी भैरव रस—इसका जो योग 'कस्तूरी युक्त' होता है, वह सन्निपात अवधि वाले ज्वर तथा प्रलाप में विशेष हितकारी है। 'वृहत्' कस्तूरी-

भैरव रस तीव्र वायु के वेग, भयंकर सन्निपात की अवस्था तथा नाड़ीगति के क्षीण होने पर इसके प्रयोग से तत्काल लाभ पाया जाता है। एक रत्ती की मात्रा दिन में २-३ बार अदरक के रस या शहद के साथ प्रयोग करनी चाहिए।

कामदुघा रस (१९७३)—इसे पित्तशामक के रूप में पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। यह रस सूक्ष्म ज्वर, गर्भावस्था की वमन, अम्लपित्त, रक्तस्राव आदि रोगों में प्रशस्त है। १-२ रत्ती की मात्रा में दिन में दो-तीन बार जीरा, मिश्री, आमलक चूर्ण एवं घृत शहद से लें। आँवले के मुरब्बे अथवा उचित अन्य अनुपान से सेवनीय रस है।

कुमार कल्याण रस—यह भैषज्य रत्नावली का बालरोगाधिकारोक्त प्रसिद्ध रस योग है। इसमें अनेक बहुमूल्य द्रव्यों (यथा—स्वर्ण, मोती आदि) के संयोग वश गुण भी शक्तिशाली होता है। बच्चों के दस्त, उल्टी, बुखार, दौर्बल्य आदि में यह रस लाभकारी है। सूखा रोग, पसली चलना, कास, मसूरिका तथा मैंथर ज्वर (टायफायड) में प्रशस्त है। इसमें बच्चों का शरीर सुन्दर व पुष्ट हो जाता है। बालकों की आयु के अनुसार रस प्रयोग की मात्रा में भी अन्तर है। तीन मास तक के बालक को एक चावल, छः मास तक के बालक को दो चावल, एक वर्ष तक के बालक को तीन चावल तथा इस आयु के बाद आवश्यकतानुसार आधी या एक रत्ती की मात्रा में चिकित्सक माता के दूध या पानी में घोलकर प्रयोग कराते हैं।

कृमिमुद्गर रस—भैषज्य रत्नावली का यह योग उदर कृमियों की अव्यर्थ औषधि है। चिकित्सक इसे १-२ रत्ती की मात्रा में पलाश बीजों के चूर्ण से गर्म पानी द्वारा अथवा मट्ठा से देते हैं।

गंधक रसायन—विविध प्रकार की खराबियों में सेवनीय औषधि है। रक्तदोष, अशुद्ध पारदादि जन्य उपद्रव, कण्डू, व्रण, पीडिका, चर्म विकार आदि में प्रयोग करना चाहिए। इससे बल, बुद्धि तथा पाचकाग्नि भी बढ़ती है। १-२ रत्ती की मात्रा में उचित अनुपान से देते हैं।

चंद्रकला रस—भैषज्य रत्नावली का यह योग पित्त शामक है। मूत्र प्रणाली का दाह, रक्तपित्त, रक्तस्राव, वमन, जलन, जीर्ण ज्वर तथा अन्य पैत्तिक लक्षणों में अवश्य देना चाहिए। इसकी मात्रा १-२ रत्ती शहद आदि से दें।

पूर्णचंद्र रस—यह रसेन्द्रसार संगह का उत्तम रसायन-योग है। शरीर की दुर्बलता में लाभकारी है। अम्लपित्त, संग्रहणी आदि का नाश करता है। १-२ रत्ती की मात्रा से शहद या उचित अनुपान से सेवनीय है।

प्रतापलंकेश्वर रस (१६६४)—योग रत्नाकर का योग प्रसव के पश्चात् उत्पन्न विकारों में प्रशस्त हैं। उस समय स्त्रियों की खांसी, बुखार, अतिसार अग्निमांद्य प्रवृत्ति रोगो में अत्युत्तम लाभकारी है। एक रत्ती की मात्रा में दस-मूलक्वाथ से प्रातः सायं दें तो शीघ्र फायदा मालूम पड़ेगा।

प्रवाल पंचामृत रस (१६७४)—यह योग उदर रोग, पेट फूलना, खट्टी डकारें आना, गुल्म, जिगर-तिल्ली बढ़ जाना, अश्मीरी, अजीर्ण तथा पेशाव के रोगों में लाभकारी है। इसकी १-२ रत्ती की मात्रा प्रातः सायं अदरक स्वरस, शहद के साथ या अन्य अनुपान से दें।

वसंतकुसुमाकर रस (१६६८-७२)—यह औषधि सर्वविदित है। बहुमूल्य द्रव्यों, स्वर्ण, मोती, कस्तूरी आदि के योग से निर्मित यह रस कठिन रोगों को भी नष्ट करता है। उत्तम पौष्टिक तथा हृदय को बल देने वाली सर्वश्रेष्ठ रसायन है। यथा-मात्रा प्रयोग करें।

वात चिंतामणि रस (१६६६-७४)—भैषज्य रत्नावली का यह योग वात रोगों का प्रसिद्ध इलाज है। हृदय तथा मस्तिष्क को बल प्रदान करता है। एक रत्ती की मात्रा में सोंफ के अर्क मक्खन के साथ दो बार प्रयोग करें।

सर्वांगसुन्दर रस—रसेन्द्रसार संग्रह का यह योग पुराने बुखार, खांसी, ग्रहणी, मूत्र रोग आदि में लाभ करता है। इसे एक रत्ती की मात्रा में पिप्पली के चूर्ण व शहद के साथ देते हैं।

हिंगुलेश्वर रस—रसेन्द्रसार संग्रह का यह योग नवीन ज्वर, हाथ पैरों का टूटना, शिर शूल, आमवात में लाभकारी है। एक रत्ती दिन में दो-तीन वार अदरक के रस या अन्य उचित अनुपान से देते हैं।

शृंगाराभ्र रस—यह रसेन्द्रसार संग्रह का प्रचलित योग है। इसके सेवन से पतले कफ का शोषण होता है। यह कफ, कास, श्वास, वमन, प्रतिश्याय, मन्दाग्नि आदि नाशक है। एक-दो रत्ती अदरक के रस के साथ या शहद आदि से प्रयोग करना चाहिए।

वंगाष्टक रस—यह वंग प्रधान योग मूत्राशय व ज्वर की दुर्बलता को

हटाकर बवासीर, मूत्रातिसार गुल्म आदि नष्ट करता है। एक रत्ती की मात्रा में मधु या आंवले के चूर्ण से प्रयोग करना चाहिए।

वसंतमालती रस—यह जीर्ण ज्वर, पुरानी खाँसी, शरीर की कमजोरी, पेट की अग्नि की गड़बड़ी, साँस आना आदि को नष्ट करता है। १-२ रत्ती की मात्रा में उचित अवस्थानुसार अनुपान से सेवन करायें।

श्रीजयमंगल रस—यह भैषज्यरत्नावली का योग ज्वरों (जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर) की महौषधि है। कठिन बुखार में भी इससे लाभ प्राप्त करते हैं। आधी से एक रत्ती की मात्रा में शहद के साथ सेवनीय है।

हेमनाथ रस—भैषज्य रत्नावली का यह प्रसिद्ध योग पेशाब का अधिक आना, श्वास, खाँसी, संग्रहणी आदि रोगों को फायदा पहुँचाता हैं। मुख्यतः बहुमूत्र में तत्काल फलप्रद रस है। इसे सावधानी से रोगी का विचार करके सेवन करायें क्योंकि यह अफीम घटित है।

प्रश्न—प्रचलित कुछ औषधियों के उपयोग का निर्देश कीजिए।

उत्तर—अग्नि-रस—यह कास को नष्ट करता है। जीर्ण रूप का प्रतिश्याय, गला तथा मुख के विकारों में लाभकारी है। बालकों को कुक्कुरकास में भी लाभ करता है। २-४ रत्ती की मात्रा में तीन बार मधु के साथ प्रयोग कराना चाहिए।

अम्लपित्तांतक-रस—यह ऊर्ध्व तथा अधोगत—दोनों प्रकार के अम्लपित्त में उपयोगी हैं। शोधक, दाह शामक तथा पित्तशामक है। यकृत्प्लीहा विकारों में भी काम करता है। १-४ रत्ती की मात्रा में मधु या उचित अनुपान से प्रातः सायं देना चाहिए।

अग्निकुमार रस (१६६६)—यह दीपक पाचक है। अग्निमांद्य, अजीर्ण, विषूचिका, उदरशूल, वायु, आध्मान, वमन, अतिसार तथा आम विषज रोगों में उपयोगी है। १-३ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार पानी या उचित अनुपान से देना चाहिए।

कल्पतरु-रस—यह वात कफ जन्य ज्वर, श्वास, जीर्णप्रतिश्याय, शीत लगना, मुख तथा नासिका से जलस्राव, अरुचि में उपयोगी है। इस रस का नस्य लेने से वात कफज शिरःशूल, मूर्च्छा, छींकों का न आना प्रभृति विकार शान्त हो जाते हैं। अतः सेवन के लिए १-२ रत्ती अदरक के रस-मधु के साथ देना चाहिए।

संग्राहर-रस—यह अतिसार, ग्रहणी, रक्तातिसार, प्रवाहिका, आम में विशेष लाभप्रद है। इसे १-२ रत्ती की मात्रा में तक्र या उचित अनुपान से प्रातः सायं देना चाहिए।

त्रिविक्रम-रस—यह मूत्रल है। अतः अश्मरी में उपयोगी है। वृक्कशूल में लाभ करता है। इसे हज्रुलयहूद चूर्ण के साथ देने से विशेष लाभ होता है। १-४ रत्ती की मात्रा में गोक्षुर क्वाथ के साथ या उचित अनुपान से देना चाहिए।

मल्ल सिन्दूर-रस—यह कूपीपक्व-रस वात-व्याधि, कास, सन्निपात, श्वास, ज्वर प्रभृति रोग में मधु-अर्द्रक स्वरस या उचित अनुपान से आधा से १ रत्ती की मात्रा में आवश्यकतानुसार देते हैं।

सोमनाथ-रस—यह स्त्रियों के सोम रोग, दुर्बलता, अधिक या बार-बार मूत्र आना तथा अन्य मूत्र विकारों में उपयोगी है। २-४ रत्ती की मात्रा में मधु या दूध अथवा उचित अनुपान से देना चाहिए।

हेमगर्भ-पोटली-रस—यह मूर्च्छा, जीर्णज्वर, संग्रहणी, अम्लपित्त, शोथ रोग, श्वास, मस्तिष्क रोग, दुर्बलता, भ्रम आदि रोगों में उपयोगी है। आधा से १ रत्ती की मात्रा में मधु या उचित अनुपान से देना चाहिए।

आरोग्यवर्धिनी वटी (१९७२)—यह रसेन्द्रसार संग्रह का योग प्रचलित है। यह शोथ, अजीर्ण, मलावरोध, रक्त-विकार, ज्वर, यकृद्विकार मे उपयोगी है। यह पाचक, दीपन, मेदोहर तथा मलशोधक है। १-२ गोली दिन में २-३ बार गर्म जल या उचित अनुपान से सेवन करना चाहिये।

बालार्क रस—यह बालकों की कास, कफ तथा वातजन्य विकार, अतिसार, ज्वर, वमन तथा आक्षेप में उपयोगी है। १-२ रत्ती की मात्रा में २-३ बार दूध या पानी के साथ देना चाहिए।

प्रश्न—ज्वर आदि रोग निवारक उपयोगी रसौषधियों का निर्देश कीजिए।

उत्तर—प्रमुख रोगों में उपयोगी रसौषधियाँ

ज्वर (१९६३)

(१) त्रिपुरभैरव रस—इसको १-२ रत्ती की मात्रा में तक्र के साथ दोनों समय सेवन करना चाहिए।

(२) हिंगुलेश्वर रस—इसका प्रयोग देशकाल के अनुसार दोषों के शमन करने हेतु मधु, सुखोष्ण जल आदि के अनुपान से करते हैं।

(३) महाज्वरांकुश रस—इसका प्रयोग अवस्था के अनुसार उचित मात्रा तथा अनुपान में अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक ज्वरों में करते हैं।

(४) लोकनाथ रस—इसका प्रयोग १-४ रत्ती की मात्रा में ज्वर रोगियों में उचित अनुपान से किया जाता है।

(५) जयमंगल रस—इसको एक माशा की मात्रा में दशमूल क्वाथ के साथ देते हैं। इसका अंजन अथवा नस्य सन्निपात में प्रयोग करने से उसमें तुरन्त लाभ होता है।

(६) सूचिकाभरण रस—रोगी के शिर या अन्य किसी अंग में घर्षण करके इस रस का रक्त से सम्पर्क करा दिया जाता है। इससे सन्निपात रोग में मूर्च्छा दूर हो जाती है। सर्प दंश के रोगी को लाभ पहुंचता है।

पांडु (१९६२)

(१) वंगेश्वर रस—इसको १-३ रत्ती की मात्रा में मधु या अन्य किसी अनुपान में प्रयोग करने से पांडु कामला दौर्बल्य में लाभ होता है।

(२) लौह सुन्दर रस—इसे दो रत्ती की मात्रा में पांडु रोगी को देते हैं।

(३) धात्री लौह—इस रस को ४ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ दिन में २ बार रोगी को देते हैं। इससे पांडु, दाह, तृषा, कामला आदि रोगों में लाभ होता है।

राजयक्ष्मा (१९६१)

(१) अमृतेश्वर रस—इसको ६ गुंजा की मात्रा तक मधु-घृत के साथ रोगी को चटाते हैं। साधारणतः ३ गुंजा प्रातः तथा ३ गुंजा सायं की मात्रा देना उचित है।

(२) महामृगांक रस—इसकी मात्रा साधारण रूप से २ रत्ती है। इसको मधु में मरिच तथा पिप्पली का चूर्ण मिलाकर देना चाहिए।

(३) राजमृगांक रस—इस रस को चार रत्ती की मात्रा के मधु घृत मिलाकर देते हैं, इससे वातकफ प्रधान यक्ष्मा के रोगी को विशेष लाभ होता है।

(४) पर्पटी रस—इसको २ रत्ती से २ माशा तक सेवन कराया जा

सकता है। पान के रस में देने से कास श्वास लक्षणों को नष्ट करता है। इसको तुलसी पत्र क्वाथ या वासापानक में प्रयोग करते हैं।

(५) वसन्त मालती रस—इसे एक रत्ती की मात्रा में मधु में साथ देते हैं।

श्वास (१९६१)

(१) सूर्यावर्त रस—इसे दो गुञ्जा की मात्रा में मधु या अन्य उचित अनुपान के साथ देने से श्वास रोग नष्ट होता है।

(२) हेमाद्रि रस—इसे २-४ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार प्रातः सायं देने से महाश्वास में लाभ होता है।

(३) पिप्पल्याद्य लौह—इस लौह को २-४ रत्ती का मात्रा में मधु या अन्य अनुपान के साथ देने से दुर्जर रोग तीन रात्रि में शान्त हो जाता है।

उन्माद-अपस्मार (१९६२, ६४)

(१) उन्माद गजांकुश रस—इस रस की १-३ रत्ती तक की मात्रा में उचित अवस्थानुसार अनुपान के साथ प्रयोग करते हैं।

हृद्रोग (१९६३)

(१) पंचानन रस—इसकी गुटिका को प्रातः सांय धात्री शर्करा के चूर्ण में मिलाकर दुग्ध के साथ रोगी को सेवन कराना चाहिये।

(२) हृदयार्णव रस—इसको १-३ रत्ती की मात्रा में दोषानुसार अनुपान के साथ हृद्रोगों में प्रयोग किया जाता है।

(३) नागार्जुनाभ्र रस—इसे १-३ रत्ती की मात्रा में उचित अनुपान में हृद्रोग नाशनार्थ उपयोग कराया जाता है। यह बल्य, वृष्य तथा रसायन है।

प्रमेह-मधुप्रमेह (१९६२,६३)

प्रमेहसेतु रस—इसका प्रयोगप्रमेह के विभिन्न प्रकारों में १-३ की मात्रा में दोषानुसार अनुपान से किया जाता है।

(२) विडंगादि लौह—इसको २-४ रत्ती की मात्रा में जीरक के साथ देने से प्रमेह रोग तथा मूत्रविकार का नाश होता है।

(३) चन्द्रप्रभावटी (१९६५)—इस वटी को धात्री, पटोल पत्र के कषाय अथवा अन्य के साथ प्रयोग करते हैं।

(४) वंगेश्वर रस—इसे दो गुंजा की मात्रा में मधु के साथ सेवन करते हैं।

नाश

उपदंश (१९६२)

(१) रसकर्पूर—इसे ¼ गुंजा की मात्रा में मिश्र... साथ प्रयोग कराने से लाभ होता है।

(२) उपदंश कुठार रस—इसे १-२ रत्ती की मा... देते हैं।

इन रोगों में उपयोगी अन्य रसौषधियों की निर्माण ... विधि तथा मात्रा यथास्थान दी गई हैं।

प्रश्न—रसायन का पूर्ण परिचय दीजिए। (१९६१, ६४, ६५, ७३-७४)

उत्तर—परिभाषा (१९६८)—'रसायन' का प्रयोग चिकित्सक जगत तथा जनसाधारण में पर्याप्त प्रचलित है। रसायन का सामान्य अर्थ 'टानिक' ले लिया जाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार रसादि धातुओं की पुष्टि करने से इसे रसायन कहा जाता है अथवा यों कहिए कि औषधि के आश्रित विष वीर्य विपाक प्रमाण परमायुर्बल वीर्य और आयु की स्थिरता के लाभ के उपाय को रसायन कहा जाता है। ग्रन्थकार से रसायन की परिभाषा और भी स्पष्ट हो जाती है। जो औषध वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर करने वाली, आयु करने वाली, नेत्रों के लिए हितकर, पुष्टिकारक तथा शुक्रवर्द्धक होती है उसे रसायन समझना चाहिए। इस प्रकार इन परिभाषाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि रसायन द्रव्य के सेवन से रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा और शुक्र की क्रमशः वृद्धि होती है। रसायन द्रव्य के खाने से रस रक्त, रक्त मांस की पुष्टि का क्रम आगे बढ़ता है। इन सब उपयोगिताओं से मनुष्य लम्बी आयु भोग सकता है।

लाभ

प्राचीन काल में ऋषियों का रसायन सेवन कर आयुष्यवान् होना प्रसिद्ध है। वस्तुतः रसायन प्रयोग करने से विचित्र व आश्चर्यजनक लाभ उपस्थित हो जाते हैं। मनुष्य की रसायन सेवन करने से केवल आयु ही लम्बी हो जावे ऐसा नहीं। आयु रोग रहित एवं सुखपूर्वक व्यतीत होती है—यह विशेष आवश्यकता भी पूर्ण होती है। स्मरण करने की शक्ति रसायन का फल है। वय की स्थिरता अर्थात् जवानी पर्याप्त समय तक कायम रहे—यह भी रसायन द्रव्यों का फल है। इस प्रकार इन सब कर्मों को करने वाला जो द्रव्य है, उसे रसायन कहते हैं।

सकता है
इस कर्म

रसायन प्रयोग करने वाले मनुष्य को यह आवश्यक है कि वह अपने शरीर को रसायन-सेवन के योग्य भी बना ले। इसलिए यह पहले ही बताया गया है कि वमन विरेचन आदि संशुद्धि कर्मों के द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिए। इसके लिए स्नेहन आदि तथा विरेचन आदि विशेष प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य की पहली अथवा मध्य की अवस्था में रसायन प्रयोग करना चाहिए। परन्तु शरीर का शोधन पहली चीज है। यदि शरीर को शुद्ध नहीं किया जायेगा और रसायन का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जायेगा तो उससे कुछ लाभ नहीं होने का। जिस भाँति गंदे या मैल सहित कपड़े को रंग दिया जावे तो वह चढ़ता नहीं अर्थात् रंग भी बेकार चला जाता है, रंग चाहे कितना अच्छा क्यों न हो। इसी उपमा के सहारे रसायन का विषय समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—रसायन के भेद तथा फल का विवेचन कीजिए।

उत्तर—प्रकार—रसायन के आचार्यों ने प्रधान रूप से दो भेद बताये हैं। एक कुटी प्रावेशिक रसायन तथा वातातपिक रसायन।

(१) कुटीप्रावेशिक रसायन का तात्पर्य है कि कुटी में विधिवत् रहकर रसायन प्रयोग करना। यह कुटी पूर्वोत्तर दिशा में हो। इसकी भूमि अच्छी किस्म की होनी चाहिए। यह कुटी वन प्रकार की दीवालों से युक्त हो। ऋतु अनुकूलता के आधार पर कुटी का निर्माण आवश्यक है। यह कुटी मन को प्रिय लगने वाली हो। इसमें रखे जाने वाले रसायन के इच्छुक मनुष्य के भी आवश्यक गुण कहे हैं। इस प्रकार यह रसायन होती है।

(२) इसके बाद वातातपिक रसायनों का समावेश है। एक आचार रसायन और होती है। इसके अन्तर्गत सत्यवादिता, क्रोध न करना, मद्यपान न करना, मैथुन से निवृत्ति, प्रिय बोलना, जपपरायण, धैर्यवान् होना, तपस्वी होना देव, गो, ब्राह्मण, गुरु तथा आचार्य की सेवा में रत रहना, ठीक समय या ठीक मात्रा में निद्रा व जागरण सेवी होना तथा अनेक गुणों से युक्त रहना आदि—आ जाते हैं। इस प्रकार के मनुष्य को आचार रसायन सेवी कहा जाता है। वह सद्वृत्त स्थल के अन्दर भी आ जाता है।

इससे मन की शुद्धि प्रमुख लाभ है। रसायन की पूर्णतः सिद्धि के लिए

मन की शुद्धि आवश्यक है। जरा तथा रोग का रसायन तभी नाश करती है।

(३) रसायन के तीन भेद और कहे हैं। एक काम्य, दूसरा नैमित्तिक तथा तीसरा आजस्त्रिक। फिर इसके दो भेद और बतला दिये गये हैं—संशोधन और संशमन। इसके विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

(४) रसायन सेवन से पूर्व दोषों का निर्हरण नितान्त आवश्यक है। केवल शारीरिक दोषों का ही नहीं मानस दोषों—काम, क्रोधादि—का भी निष्कासन रसायन की पूर्ण क्रिया व्याप्ति के लिए जरूरी है। संशोधन में वमन, विरेचन आस्थापन, शिरोविरेचन विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के दोषों को शरीर से बाहर कर शुद्ध व सुखी होकर 'जातबल' संज्ञा मिलती है। ये सब रसायन के भेद होते हैं। उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए जब रसायन का प्रयोग किया जावे तभी उसका पूरा तथा आश्चर्यजनक लाभ हो सकता है। आजकल तो शोधनादि सब एक ओर प्राय: रख दिये जाते हैं इस पर भी जो थोड़ा बहुत रसायन का फल स्पष्ट होता है, इसे ही रसायन का लाभ समझ लिया जाता है।

फलक्षेत्र (१९६८)

अब शरीर को नष्ट करने वाले शरीर के वात पित्त कफ दोष तथा मानसिक विकार रह गये हैं उसके रोकने के उपाय रसायन सम्बन्धी औषधियों की जानकरी प्राप्त कीजिए। शीतल जल, दूध, शहद, घी—इनमें एक-एक भी भोजन के पूर्व सेवन करने से अवस्था की स्थापना करता है व हितकर है अथवा समस्त द्रव्य पृथक्-पृथक् तीन-तीन भाग लेकर एकत्र कर पीने से भी पूर्वोक्त फलदायक होता है। तात्पर्यत: इन सबको मिलाकर कुल १५ योग बन जाते हैं। जल घी, शहद दूध, जल दूध, जल शहद, दूध घी, दूध शहद, दूध घी, जल दूध, शहदजल, दूध, घी, जल शहद घी दूध शहद घी, जल दूध, शहद घी—इस प्रकार पन्द्रह योग प्रस्तुत हैं। इनको मन के अनुकूल दोषों के अनुसार प्रथम पीने से वय की स्थिति होती है। रसायन द्रव्य तथा योग आयुर्वेद में अनेक वर्णित हैं।

रसायन फल के विषय में अब अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है जैसे देवताओं के लिए अमृत उनको अमरत्व प्रदान करता है, इसी प्रकार

महर्षियों द्वारा रसायन प्रयोग किया गया है। इससे वे कितने लाभ से पूर्ण हुए—यह किसी से छिपा नहीं। रसायन से न रोग रहते हैं, न दुर्बलता, न निर्धनता—कुछ नहीं रहती है अतः रसायन का जो सेवन करता है वह दीर्घ जीवन ही नहीं पाता, वल्कि मृत्युपरांत शुभ गति को प्राप्त करता है।

प्रश्न—वाजीकरण का पूर्ण परिचय दीजिए। (१९६३, ६५, ६६, ६७ ७२, ७४)

उत्तर—**परिभाषा** (१९६८)—वाजीकरण का प्रजनन स्थान सम्बन्धी अंगों पर प्रभाव होता है जो पदार्थ पुरुष को मैथुन करने में घोड़े के समान शक्तिशाली बनाते हैं, उनको मुनि लोग वाजीकरण कहते हैं। तात्पर्यतः जिस द्रव्य सेवन से स्त्री के विषय में तथा पुरुष के विषय में काम—हर्ष उत्पन्न हो ऐसा पुरुष घोड़े के समान बाधा रहित हो कामचेष्टा से प्रवृत्त होता है। 'वाजी' का अभिप्राय घोड़े से है, अतः इसका नाम वाजीकरण पड़ा है।

उपयोग (१९६८)

वाजीकरण से आत्मावान् एवं प्रीतिमान् बनता है। धर्मार्थ की ओर भी प्रवृत्ति होती है उत्तम पुत्रों को जन्म देता है। वाजीकरण द्रव्यों से स्त्री में हर्ष की मात्रा वढ़ती है यदि किसी कारणवश स्त्री संभोग के अनुकूल नहीं रहती है तो भी इनके सेवन से उत्तम क्षेत्र का निर्माण होकर, अपने रति प्रीति विशेष का प्रादुर्भाव होता है, स्त्री का वशीकरण होकर, रूपवान होती है। गृह की वास्तविक लक्ष्मी वनकर धर्मचर्चा में रत रहती है। वाजीकरण से युक्त पुरुषों के विषय में सुश्रुत ने वताया है कि नीरोगी और तरुण पुरुष जो वाजीकरण ओषधियों का प्रयोग करता रहता है। वह सम्पूर्ण ही ऋतुओं में नित्य-प्रति स्त्री प्रसंग करे उसके लिए अवरोध नहीं है यही वाजीकरण का उत्तम फल है।

अब प्रश्न यह भी उठ सकता है कि वाजीकरण ओषधियों के सेवन की किसे आवश्यकता पड़ती है। अथवा किन व्यक्तियों को वाजीकरण सेवनीय है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य सुश्रुत ने अपने 'क्षीणवलीव वाजीकरण चिकित्सा' अध्याय में वताया है कि वे मनुष्य जो वृद्ध होने पर भी स्त्रीगमन की इच्छा करते हैं, वे मनुष्य जो स्त्रियों के प्यारे होना चाहते हैं, वे मनुष्य जो स्त्री प्रसंग करने से क्षीण हो गये हैं, जो पौरुष रहित अर्थात् नपुंसक संज्ञा

वाले हैं जो अल्पवीर्यशाली हैं, जो भोग की इच्छा बहुत करते हैं, जो धनवान हैं, जो रूप तथा यौवन वाले हैं, जिनके स्त्रियाँ बहुत हैं या अधिक स्त्रियाँ मैथुन करने के लिए हैं—तो इन सब प्रकार के मनुष्यों को वाजीकरण द्रव्यों का उपभोग करना चाहिए। उनमें प्रायः सभी अवस्थाओं का उल्लेख कर दिया है।

इस प्रकार की वाजीकरण औषधियों का प्रभाव-परिलक्षण प्रकार भी बता देना आवश्यक है। महास्रोतस् में अन्न के परिपाक में काल का नियम सभी जानते ही हैं। विरेचन द्रव्य अपने कार्य (निज प्रभाव) से उस काल का अतिपात करके शीघ्र ही अन्न और मल को बाहर निकाल देता है। वाजीकरण औषधियाँ भी इसी प्रकार अपनी शक्ति में स्वाभाविक यत्किंचित् समय के पूर्व ही च्युत (विरेचन) कर देती है। इस स॰य शुक्र का सम प्रमाण में रखना जरूरी है।

क्षेत्र

पाश्चात्य विज्ञान में प्रजनन अंगों (Reproductive Organs) पर कामवर्द्धक (वाजीकरण) या अन्य घातक प्रभाव डालने वाले कुछ द्रव्यों को इन वर्गों में समाविष्ट कर दिया गया है। कामोत्तेजक हार्मोन (Sexstmulating Hormone), आर्तवोत्तेजक (Emmenagogoues), गर्भपातक (Ecbolics), दुग्धास्रावी ग्रन्थियाँ (Mammary glands), व दुग्ध स्राव उत्तेजक (Glactogoues), कामोत्तेजक औषधियाँ (Aphrodisiacs), कामावसादक (Anahropisiacs)—इन समूहों में से कुछ शीर्षक या स्थल आयुर्वेदीय वाजीकरण के अन्तर्गत आ सकते हैं।

प्रश्न—वाजीकरण के भेद तथा फल का निर्देश कीजिए। (१९६६)

उत्तर—आयुर्वेद में वाजीकरण के ही तीन भेद कर दिए जाते हैं—

(१) शुक्रजनक।

(२) कामोत्तेजक।

(३) शुक्रस्तम्भक।

वाजीकरण द्रव्यों में कुछ द्रव्य शुक्रोत्पत्ति की क्रिया में अधिकता उत्पन्न करते हैं। किन्हीं व्यक्तियों के अन्दर चिन्ता शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद आदि मनोभावों का अतियोग कृश या दुर्बल होते हुए भी अल्पाहार या उपवास

करना, रूक्ष या अहित अन्नपान-औषधि का सेवन करना—इन कारणों से सर्वधातुओं का मूलभूत रस धातु विशेषतः शुक्र, न्यूनता (क्षय) की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसी परिणाम को यों भी कहा जा सकता है कि कामातुर होकर स्त्रियों के साथ अधिक सम्भोग करता है तो शुक्र उसका धीरे-धीरे क्षीण होकर समाप्त भी हो जाता है। इस समय सम्भोग कामचेष्टा से होता तो रहता है परन्तु वायु की प्रेरणा मात्र से रक्त वाहिनियों से आया हुआ व लिंगादि में पीड़ा सहित रक्त का स्राव होता है।

परिणामतः, शुक्र की क्षीणता तथा रक्त की अतिप्रवृत्ति के कारण एक नहीं, अनेक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। उपेक्षा करने से निश्चय ही मृत्यु हो जाती है। अतः यहाँ पर वाजीकरण के शुक्रजनक विभाग द्वारा उपचार करने का विधान है। शुक्र का क्षय होने पर शुक्र की वृद्धि करने के लिए समान, समान गुण द्रव्यों का प्रयोग लाभकारी है। इस प्रकार के द्रव्यों में शुक्र स्वयं का सेवन ही किया जावे तो अत्युत्तम। शुक्रों में भी घड़ियाल का शुक्र आयुर्वेद में पर्याप्त प्रशंसित है। समान गुणों के द्रव्यों का जो निर्देश किया है (समान-गुणाऽभ्यासो हि धातुनां वृद्धि कारणम्) उनमें शास्त्रकारों ने अनेक द्रव्यों का उल्लेख किया है। दुग्ध, घृत, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली आदि द्रव्य शुक्रजनक होते हैं। कुछ दस द्रव्यों को लेकर चरक ने शुक्रजनकगण भी प्रस्तुत किया है। दूध तो शीघ्र शुक्रजनक कर्म करता है।

(सद्यः शुक्र करं पयः)। इनके साथ ही उड़द, आंवला, भिलावे की मिंगी, शतावरी, असगन्ध आदि अनेक औषधियाँ शुक्रजनन कर्म सम्पन्न करती हैं।

वाजीकरण के द्वितीय विभाग कामोत्तेजक में इनसे भिन्न प्रकार से क्रिया चलती है। जो द्रव्य 'स्त्री' के विषय में भोग या काम चेष्टा या भावना की वृद्धि उत्पत्ति करते हैं, वे ही पदार्थ कामोत्तेजक कहलाते हैं। यहां स्त्री के विषय में पुरुष को तथा पुरुष के विषय में स्त्री को रति सम्बन्धी हर्ष—का अभिप्राय समझना चाहिए। काम का अर्थ बतलाने की आवश्यकता नहीं। काम शक्ति सर्व कर्म स्रोत के मल में मानी जाती है। सृष्टि में कामकला पूरा भाग लेती है। कामकेन्द्र सुषुम्णा के अधोभाग में स्थित है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों जैसे—नाक, कान, आँख, ओष्ठ आदि—से प्रत्याक्षिप्त संवेदना अथवा मानसिक विचारों द्वारा ही उसको उत्तेजित किया जा सकता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि इस कामकेन्द्र की उत्तेजनशीलता पर पुरुष या

स्त्री की बीज ग्रन्थियों के अन्तःस्राव का भी प्रभाव पड़ा करता है। यह वैज्ञानिकों ने प्रयोग सिद्ध कर दिया है। अतः कामोत्तेजक ग्रन्थियों (Sexglands) के स्राव (हार्मोन) का पुरुष या स्त्री की कामशक्ति (Sex) से सीधा सम्बन्ध रहा है।

इस प्रकार जब कामोत्तेजना की न्यूनता आदि को औषधि प्रयोग द्वारा उचित मात्रा में यथावत् करना होता है तब आयुर्वेद के इस आश्चर्यजनक व निश्चित लाभदायक वाजीकरण औषधि वर्ग का प्रयोग करना चाहिए। सामान्य रूप से अनेक प्रकार के भोज्य तथा पदार्थ, गीत, कर्णप्रिय शब्द, सुन्दर पुरुष, नव-यौवन काम से मत्त स्त्री, चन्द्रमायुक्त रात्रि, मदिरा, माला, सुन्दर-शैया, चित्र-विचित्र पुष्पोद्यान, सुगन्धित द्रव्य, मनोहर दृश्य, एकान्त में वार्तालाप तथा अपनी स्त्री का अपने पति के प्रति अधिकाधिक प्रेम का प्रयत्न प्रभृति उपायों से कामवासना उत्तेजित हो उठती है। इसके लिए पाश्चात्य विज्ञान में भी अन्यान्य ग्रन्थिस्रावों से विभिन्न औषधियों का निर्माण हुआ है। आयुर्वेद में भी कामोत्तेजना के लिए उपयोगी योग भरे पड़े हैं।

स्त्री या पुरुष में प्रबल कामेच्छा की उत्पत्ति भी विचारणीय है। जब अभीष्ट कारणों से सम्भोग की इच्छा बनी रहती है। यों कहिये कि काम के वेग का निग्रह किया जाता है और मानसिक संकल्प के कारण नाड़ी संस्थान क्षुभित होता है। काम का प्रयोग करने या अतृप्ति होने से पुरुषों में शुक्रपात तथा स्त्रियों में ऐसा कोई प्रबन्ध न होने के कारण मानसिक रोग हो जाते हैं। ऐसा विवाहित और अविवाहित दोनों ही अवस्थाओं में पाया जाता है। उपदंशादि रतिजन्य रोगों से दूषित योनि में गमन करने से या अकाल गमन से काम वेग न निरोध से, अति सम्भोग से तथा शस्त्रक्षार, अग्नि के प्रयोग से शुक्रवहिनियाँ दोषपूर्ण हो जाती हैं।

वाजीकरण द्रव्यों का तृतीय विभाग शुक्रस्तम्भक होता है। ऐसा भी होता है कि शुक्र भी मनुष्य में पर्याप्त हो तथा कामोत्तेजना भी यथावत हो, परन्तु सम्भोग करते समय (या अन्य स्थिति में भी) शुक्र को शीघ्र स्खलन की समस्या आ खड़ी होती है।

प्रश्न—वाजीकरण से सम्बन्धित रोगों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—शुक्र या वाजीकरण से सम्बन्धित क्लीवता (नपुंसकता), अप्रहर्ष (स्त्रियों के प्रति उदासीन भाव), ध्वजभंग, मैथुनाशक्ति, शुक्राश्मरी (पथरी)

तथा शुक्रमेह आदि रोग होते हैं। प्रजनन संस्थान के उपदंश, फिरंग, वंध्यापन आदि अनेक रोग हैं, उनके यहाँ परिचय की विशेष आवश्यकता नहीं है।

विशिष्ट रोग नपुंसकता (क्लैव्य) (१९६७-७०)

क्लैव (नामर्दी) का अर्थ स्पष्ट है कि जो पुरुष मैथुन करने में असमर्थ हो उसे क्लीव या नपुंसक कहते हैं। नपुंसकता को ध्वजभंग (Impotence) भी कह सकते हैं। नपुंसकता विवाहित या अविवाहित दोनों ही प्रकार के मनुष्यों को होती है। विवाहित दम्पत्ति में व्याप्त नपुंसकता से क्या दुष्परिणाम नहीं होते ? इस तरह की स्थिति के लिए यद्यपि पुरुष का ही मुख्य भाग या उत्तरदायित्व है तथापि स्त्री भी इससे अलग नहीं। वैसे लैंगिक मैथुन में पुरुष ही प्रधान उत्तरदायी है।

नपुंसकता के अनेक कारण हो सकते हैं, पर सुविधा की दृष्टि से शारीरिक व मानसिक दो प्रकार के हेतु समूह प्राप्त होते है। शारीरिक कारणों से जननेन्द्रियविकार, अन्तःस्रावी-ग्रन्थियों की विकृति, स्नायुविक संस्थानीय व्याधियाँ मधुमेह, क्षय, कैंसर आदि जीर्ण रोग, मादक वस्तुओं का अत्यधिक प्रयोग आदि समाविष्ट हैं। मानसिक कारणों में एंयम से भय, अज्ञान, अति मानस परिश्रम, घृणा, कई कष्टकर पूर्वानुभव (स्त्रियों में बलात्कार आदि) यौन की भ्रमात्मक धारणाएँ (विवाहित जीवन से उदासीनता या 'सेक्स' यौन सम्बन्ध के प्रति गलत अर्थात् अनुचित मनोवृत्ति) अतिउद्रेक और उत्सुकता (सुहाग की नपुंसकता आदि) प्रवृत्ति हेतु समझने चाहिए;

जब मैथुन करने वाले पुरुष का मन भय शोक तथा क्रोधादि विकारों से अस्वस्थ होकर या अप्रिय स्त्री के साथ संभोग करने से लिंगेन्द्रियाँ झुक जाती (ध्वज भंग होना) हैं इस स्थिति को 'मानसिक क्लैव' कहा जाता है। तीखे, खट्टे, गर्म आदि पित्तप्रकोपक आहार विहारों से उत्पन्न नपुंसकता 'पित्तजक्लीवता', अत्यन्त मैथुन करते रहने पर भी वाजीकरण द्रव्यों का सेवन न करने के परिणाम से 'वीर्यक्षय जन्य क्लीवता, शिश्नेन्द्रिय में उत्पन्न किसी प्रकार के भयंकर रोग से 'रोगजन्य क्लीवता', वीर्यवह शिराओं के कट जाने से लिंगोत्थान असमर्थता के रूप में 'शिराच्छेदजन्य क्लीवता', शरीर के पुष्ट होने पर व कामाग्नि द्वारा मन क्षुभित होके—ब्रह्मचर्य रखने से शुक्रस्तम्भ जन्य क्लीवता' तथा जन्म से ही प्राप्त नपुंसकता को 'सहजक्लीवता' संज्ञा प्रदान की गई है।

प्रश्न—क्लीवता की चिकित्सा लिखिए। (१९६७, ७०)

उत्तर—सात प्रकार के क्लीवता रोग में सहज क्लैव्य तथा शिरोच्छेदजन्य क्लैव्य असाध्य हैं। नपुंसकता की चिकित्सा का सामान्य सूत्र शास्त्र में निर्देश दिया गया है। साध्य नपुंसकता को दूर करने के लिए, जिन कारणों से नपुंसकता उत्पन्न हुई हो, उन कारणों का त्याग करना चाहिए।

चिकित्सा (१९६५, ७०)

रोगहीन पुरुष को पंचकर्म द्वारा शुद्ध होकर १६ वर्ष की अवस्था में ६० वर्ष पर्यन्त वाजीकरण द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। व्यवाय सम्बन्धी समस्त नियमों का प्रारम्भ से ही पालन करते रहना आवश्यक है। कामोत्तेजक आहार-विहार बताए जा चुके हैं, उनका सेवन करना चाहिए। वाजीकरण सम्बन्धी योगों का आगे वर्णन किया जाएगा।

शुक्र स्तम्भक औषधियों का प्रयोग होता है। इस प्रकार के वाजीकरण योगों का वर्णन करते हुए आयुर्वेद में (आश्चर्य प्रकट करने वाला) यत्र-तत्र वर्णन मिलता है कि—

(१) इस योग को २१ दिन चाटने से रोगी तथा ८० वर्ष का वृद्ध भी नवयुवक की भाँति स्त्री रमण करता है।

(२) इसको शहद मिलाकर चाटे तो नपुंसक भी सौ स्त्रियों से सम्भोग करता है।

(३) यह बड़ी-बड़ी कामिनी स्त्रियों के कामाभिमान को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न करने वाला है।

(४) इससे घोड़े के समान मैथुन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

(५) इससे ८० वर्ष का वृद्ध पुरुष भी स्त्री प्रिय युवा होकर तथा वृद्धा भी युवती होते हैं।

(६) इसमें संभोग के प्रसंग में शीघ्र स्खलित हो जाने वाले लोगों को अश्ववत् दृढ़ता से मैथुन कर सकने की शक्ति मिलती है।

इस प्रकार के वाजीकरण योगों के गुण प्रदर्शक वाक्य अनेक दवाइयों के अन्त में प्राचीन ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं। वस्तुतः यह इसका प्रमाण है कि आयुर्वेदोक्त वाजीकरण (शुक्रस्तम्भक, कामोत्तेजक तथा शुक्रजनन) पद्धति आश्चर्यजनक है। अवश्य लाभ होता है। आजकल के आधुनिक इन्जेक्शन आदि काम सम्बन्धी रोगों को कितना फायदा पहुँचाते हैं—यह कहा नहीं जा सकता। इनके अनेक दुष्परिणाम प्रकट हो सकते हैं।

प्रश्न—वन्ध्या-चिकित्सा लिखें।

उत्तर—जिन स्त्रियों के गर्भधारण नहीं होता, जिनके प्रायः गर्भपात हो जाता हो, जिनकी सन्तान होते ही मर जाती हो या जिनको मासिक धर्म नहीं होता, उनको वन्ध्या रोग होता है (Sterily) नवीन मत से देखा जाये तो यह दो प्रकार का होता है। एब्सोल्यूट (Absolute) में गर्भ धारण नहीं होता है। शुक्राणु शारीरिक आंतरिक रचना की गड़बड़ी के कारण नहीं पहुँच पाता। स्थानीय कारणों में कोई जन्मजात विकृति होना, संभोग के समय पीड़ा होना गर्भाशय सम्बन्धी विकृतियाँ, भोजन में कमी आदि कारण वन्ध्यापन में माने जाते हैं। दूसरा भेद रिलेटिव (Relative) है। इसमें गर्भ होता है परन्तु पूर्ण नहीं होता। गर्भ का स्राव व पात हो जाया करता है।

प्राचीन मतानुसार वन्ध्या तीन प्रकार की होती हैं, जन्मवंध्या, कालवंध्या तथा मृतवत्सा। जन्मवन्ध्या के स्तन बहुत छोटे, पुरुषवत् छाती वाली, रजोधर्म से रहित, विवृत गर्भाशय तथा विभिन्न योनि रोगों से युक्त होती है। काल-वन्ध्या के एक ही सन्तान होकर पुनः गर्भ स्थिति नहीं होती है। मृतवत्सा वंध्या के सन्तान होती है परन्तु मरती जाती है। शास्त्र में वन्ध्या के सब प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है—विरकी, पुष्पघ्नि, सण्ढा, त्रिकुटी, व्याघ्रिणी, वक्री कमलिनी तथा व्यस्थिनी वन्ध्या।

चिकित्सा

वन्ध्या चिकित्सा में पति-पत्नी की परीक्षा सर्वप्रथम आवश्यक है। पुरुष के भोजन, सामान्य स्वास्थ्य तथा अन्य बातों का परीक्षण करें। स्त्री के लिए डिम्बप्रणाली (फेलोपियन ट्यूब) की धारण शक्ति तथा उनकी पोटन्सी ज्ञात करने के लिए रियूमिन्स टेस्ट किया जाता है।

औषधि चिकित्सा के लिए शास्त्र में कुछ विशेष नियम बताए गए हैं।

(१) ऋतु स्नान करके शुद्ध शरीर स्त्री, पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी हुई लक्षणा की मूल को कुमारीकन्या से पिसवा कर पीयें, तो निस्सन्देह गर्भ धारण करती है।

(२) पीत सैरेयक, धातकी पुष्प, वट के अंकुर, नील कमल इन द्रव्यों को दूध के साथ पीने से निश्चयपूर्वक गर्भधारण होता है। शूकरशिम्बी (कौंच), मूल या कपित्थ फल की मज्जा तथा शिवलिंगी के बीजों को दूध में पीस कर पिलाने से पुत्र जन्म होता है।

(३) पुत्रजीव (पुतजिया) तथा विष्णु क्रान्ता की जड़ को शिवलिंगी के बीजों के साथ आठ दिन तक पीने से स्त्री के गर्भ धारण होता है।

(४) फलघृत-वन्ध्यापन तथा स्त्री के अनेक विकारों को नष्ट करता है।

(५) अश्वगन्ध क्वाथ से सिद्ध दुग्ध घृत मिलाकर ऋतुस्नान करने के बाद प्रातःकाल पीने से गर्भ धारण हो जाता है।

शास्त्र में यत्र-तत्र और भी योग मिलते हैं।

प्रश्न—रसायन सम्बन्धी प्रमुख शास्त्रीय योगों का निर्देश कीजिए।

(१९६८, ७४)

उत्तर—(१) रसायन सेवन के (जैसा कि प्रथमतः शरीर के संशोधन हैं) पूर्व संशोधन योग हरीतक्यादि चूर्ण देना चाहिए। हरीतकी चूर्ण, सेंधव, आमलकी, गुड़, बचा विडंग, हरिद्रा, पिप्पली, शुण्ठी-समभाग में चूर्णकर स्नेह-स्वेदन करने के बाद रसायन के सेवी पुरुष को उष्ण जल से देना चाहिए। संशोधन के कई प्रकार के योग-क्रम मिलते हैं।

(२) ब्राह्म रसायन दो प्रकार की बताई गई है। ब्राह्म रसायन के गुणों की विशेष प्रशंसा की गई है। इस रसायन का सेवन महर्षियों द्वारा किया गया है। इस रसायन का सेवन करने वाला व्यक्ति रोग रहित, दीर्घायु तथा महा-बलवान होता है। मनुष्य मनोरथ सिद्ध कर्त्ता, तेजस्वी, तीव्र स्मरण शक्ति युक्त होकर उसका मन सत्वगुण प्रधान होता है। इससे रसायन के अन्तर्गत निहित सभी गुणों का लाभ होता है।

(३) च्यवनप्राश सुप्रसिद्ध रसायन-प्रवलेह है। इसके प्रयोग से अत्यन्त वृद्ध च्यवन ऋषि पुनः युवा हो गये थे। कास-श्वासादि श्वसन संस्थान रोगनाशक है रसरक्तादि धातुवर्धक है। यह वातरक्त, तृष्णा, हृद्रोग, मूत्राशय, शुक्र सम्बन्धी रोग, पित्त व कफ दोष दूर करता है। इसके सेवन करने से मेधा, कामशक्ति, आरोग्य की वृद्धि होती है।

(४) प्रमुख रसायन योग चरकोक्त इस प्रकार हैं—

आमलक रसायन, हरीतक्यादि रसायन, आमलक घृत, आमलकावलेह, विडंगावलेह, बलादि रसायन, आमलक रसायन, लौहादि रसायन, ऐन्द्र रसायन, मेध्य रसायन, त्रिफला रसायन (चार प्रकार), इन्द्रोक्त रसायन (दो) इत्यादि।

चरक संहिता के रसायन विषयक अध्याय के पदों में निम्न प्रकार रसायन योगों का वर्णन हुआ है—

अभयामलकीय रसायन पाद	६	लगभग
प्राणकामीय रसायन पाद	३७	६३ रसायन
करप्रचितीय रसायन पाद	१६	योग।
आयुर्वेदसमुत्थानीय पाद	४	

(५) एक द्रव्य (वनस्पति) विधिवत् रसायन कर्म के लिए उक्त रसायनों तथा यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ-भल्लातक, नागबला, पिप्पली, हरीतकी, आमलकी, चन्दन, गुडूची, यष्टीमधु, शंखपुष्पी, ब्राह्मी मण्डूकपर्णी, पुनर्नवा, शालपर्णी, शतावरी, अपराजिता, त्रिफला आदि।

(६) पथ्य रसायनादि—गुड़, शहद, छोटी पीपल—में से किसी एक के साथ प्रतिदिन छोटी हरड़ खाने से मनुष्य निरोग रहकर सौ वर्ष की आयु भोगता है। ऋतु हरीतकी इस प्रकार है—बड़ी हरड़ का वर्षाकाल में सैन्धव, शरद में शक्कर हेमन्त में सोंठ, शिशिर में पिप्पली, वसन्त में शहद तथा ग्रीष्म मे गुड़ के साथ सेवन करना रसायन है।

(७) त्रिफला रसायन—अन्नापाचन हो जाने पर १ हरड़ भोजन के पहले दो बहेड़े तथा भोजनोपरान्त चार आँवले तथा घी व शहद एक वर्ष तक प्रयोग करने से मनुष्य युवा तथा नीरोग रहकर सौ वर्ष की आयु भोगता है।

(८) पिप्पली रसायन—५, ६, ७ पीपल (अपनी प्रकृति के अनुसार) प्रतिदिन शहद तथा घी के साथ प्रयोग करें अथवा ढाक के क्षार के जल से भावित तथा घी में भूनी गयी पीपल ३—३ मात्रा में शहद मिलाकर सेवन करना परम रसायन है।

(९) धात्रीचूर्ण रसायन—आँवले का चूर्ण ३ से १३ तोला को उसके रस से ही भावना देकर शहद व घी समान भाग मिलाकर, छोटी पीपल, मिश्री मिलाकर भस्म राशि में गाड़ दें। एक वर्षोपरान्त निकालकर सेवन करना अनेक रोग नाशक रसायन है।

धात्रीतिल रसायन—आंवला, तिल, भांगरा के चूर्ण को जो मनुष्य नित्य सेवन करते हैं, उनके केश कृष्ण होकर सौ वर्ष तक जीते हैं।

(१०) लौहगुग्गुल—शुद्ध लौहभस्म, शुद्ध गुग्गुल, त्रिकटु चूर्ण, त्रिफला सबको एकत्र कर १ तोले की मात्रा में प्रतिदिन शहद या घी से चाटना दीर्घायु देता है।

(११) पुनर्नवा, विधारा असगन्ध, गुलशकरी या यथावत् प्रयोग मन के बीजों का दूध में पकाकर सेवन, वाराही कन्द का चूर्ण शहद व दूध मिलाकर

एक मास तक सेवन करना वायविडंग के चूर्ण के साथ आंवला तथा शहद का सेवन रसायन है। सुश्रुत ने सोमलता का प्रसिद्ध रसायन कल्प दिया है तथा कुछ दिव्य वनस्पतियाँ और प्रस्तुत की हैं—श्वेत-कापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, करेणु, गोलोमी, कन्या,छत्रा, आदित्यपर्णी, महावेगवती, श्रावणी आदि अठारह द्रव्य।

प्रश्न—वाजीकरण सम्बन्धी प्रमुख शास्त्रीय योगों का निर्देश कीजिए।
(१९६५ ६६ ६८ ७४)

उत्तर—(१) चरक संहिता के वाजीकरण विषयक अध्याय के पादों में निम्न प्रकार वाजीकरण योगों (मुख्य) का वर्णन हुआ है—

संयोग शतमूलीय वाजीकरण पाद	१२	लगभग ४७ वृष्य योग
असिक्त क्षीरिका वाजीकरण पाद	८	
माषपर्णभृतीय वाजीकरण पाद	१५	
पुमान्जातबलादि वाजीकरण पाद	१२	

(२) प्रमुख योगों में कुछ के नाम इस प्रकार हैं—ब्रह्मणी गुटिका, वाजीकर पिण्ड रस, वृष्यमाहिषरस, अपत्यकारी-षष्टिकादि, गुटिका, वृष्यपूपलकादियोग, वृष्यघृत, शतावरी-घृत इत्यादि। कई पशुपक्षियों के मांस, शुक्र प्रयोग किये जाते हैं।

(३) गोक्षुरादिमोदक—गोखरू, तालमखाना, असगन्ध, शतावर, मूसली, कोंच, मुलैठी, गंगेरन तथा खरैटी को चूर्णकर आठ गुने गोदुग्ध में पकावें। गाढ़ा हो जाने पर समान भाग गाय के घी में भूनकर, दूनी चीनी मिलाकर लड्डू बना लें। इनको सेवन करना परम वाजीकरण है। यह अनेक रोगों में उत्तम है।

(४) वाजीकरण रसाला—मधुराम्ल दही १२८ तोला, चीनी चौसठ तोला शहद तथा घी ४-४ तोला, सोंठ ४० रत्ती, काली मिर्च २० रत्ती, लौंग एक तोला—इनको श्वेत वस्त्र में डालकर हाथों से मसलकर चन्दन व कस्तूरी से वासित करने से सिद्ध कामदेव द्वारा स्वयं अपने लिये निर्मित, यह योग कामशक्ति के लिए उत्तम है।

(५) रतिवल्लभ पाक में ही यदि खुरासानी अजवायन, धतूर बीज अकरकरा, वालछड़, समुद्रशोष पोस्त के छिलके बराबर मिलाकर उससे आधा भाग भाँग मिलाकर निर्मित कामेश्वरमोदक असीम काम शक्ति देता है।

(६) आकरकरभादि वटी—अकरकरा, सोंठ, लौंग, पीपल, जायफल,

चन्दन, जावित्री एक-एक तोला मिलाकर शुद्ध अफीम ४ तोला डालें। यथा योग मात्रा में शहद के साथ देने से अतिशुक्रस्तम्भन एवं आनन्द शक्तिदायक है।

(७) घी तथा दूध में बकरे के अण्डकोश पकाकर, पिप्पली व सेंधा नमक डालकर खाने से मनुष्य अत्यन्त मैथुन शक्ति से युक्त होता है। (स गच्छेतु-प्रमदाशतम्)।

(८) शतावरी घृत—शतावरी की पिट्ठी, घृत से दस गुना दूध मिलाकर घी में पकायें। घी सिद्ध हो जाने पर छानकर चीनी, पिप्पली चूर्ण का उचित मात्रा में प्रवेश कर सेवन करना उत्तम वाजीकरण है।

(९) अश्वगन्धादि तैल, असगन्ध, शतावरी, कूट, जटमांसी, छोटी कटेरी के फलों की पिट्ठी तथा चौगुना दूध मिलाकर, सिद्ध किया तैल मालिश करने से लिंग, स्तन वृद्धि तथा दृढ़तायुक्त होते हैं। शूकर की चर्बी को शहद के साथ मिलाकर लेप करने से संभोग के बाद भी लिंग की दृढ़ता समाप्त नहीं होती।

प्रश्न—चरकोक्तब्राह्मरसायन का विस्तार से वर्णन कीजिए। निर्माण विधि तथा गुण लिखिए।

उत्तर—(१) ब्राह्मरसायन—पाँचों पंचमूलों के पृथक-पृथक भाग १० पल लें (८ तोला का एक पल मानने से १ सेर) हरड़ १००० संख्या में (एक हरड़ का वजन एक तोला मानने से १२॥ सेर लें) ताजे आँवले ३००० संख्या में (वजन में ३७॥ सेर लें) इन्हें एकत्र लेकर सारे से १० गुना जल डालकर क्वाथ करें। जब जल का दसवाँ भाग शेष रह जाय — तब उसे नीचे उतार लें और निर्मल से छान लें। आंवले एवं हरड़ को अलग कर लें। उनकी गुठली निकाल दें और कुचल कर किसी तरह से छलनी में छानके उनके तुश (रेशे) निकाल दें और इनकी श्रेष्ठ पीठी प्राप्त करें। अब हरड़ और आंवला की पीठी को लेकर छाने हुए रस में डाल दें और निम्न औषधियों का चूर्ण भी डाल दें।

औषधियाँ—मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शंख, पुष्पी, प्लव कैवर्टी (मोथा), वायविडिंग, लाल चंदन, अगर, मुलहठी, हल्दी, वच, नागकेशर, छोटी इलायची, दाल चीनी प्रत्येक का चूर्ण ४ पल (३२ तोला) लें।

मिश्री ११०० पल (१ मन, ३० सेर); तिल तैल २ आढ़क द्रव द्वैगुण्य)

परिभाषा के अनुसार ४ आढ़क—यानी २५ सेर ४८ तोला) घी तीन आढ़क 38 सेर 32 तोला लें और इन्हें उसी में मिला दें।

कलई हुए ताम्र पात्र में इसको डाल कर मन्द-मन्द अग्नि पर पाक करें। जब लेह पाक हो जाए तो उसे नीचे उतार लें —दग्ध न हो जाए—इस बात का ध्यान रक्खें। ठंडा हो जाने पर घी और तेल के मिश्रित प्रमाण के आधे प्रमाण में (३२ सेर) मधु मिला लें। इसको अच्छी तरह मिश्रित करके घी लगे पात्र में भर कर रख लें।

इस लेह की उतनी ही मात्रा खाने को दें जिससे भूख कम न हो। कई तपस्वी इस रसायन के प्रयोग से दीर्घ आयु हो चुके हैं। उन्होंने अपनी वृद्ध वय को छोड़ कर तरुणावस्था को प्राप्त कर लिया। वे निरोग रह कर तन्द्रा-क्लम से रहित हो मेधा-स्मृति और बल से युक्त हो कर बहुत दिन तक समाधि में रह कर दीर्घायु प्राप्त की।

इस रसायन के प्रयोग से नीरोग दीर्घायु की प्राप्ति होती है

चरक संहिता में यह प्रथम ब्राह्मरसायन कही है—दूसरी ब्राह्म रसायन निम्न प्रकार है—

(२) ब्राह्मरसायन द्वितीय—गुणयुक्त आंवले १००० (१२।। सेर) लेकर पिष्ट स्वेदन-विधि से दूध की ऊष्मा पर स्विन्न करें। जब आंवले स्विन्न हो जाए तो उनकी गुठली निकाल कर अलग करें। शेष भाग को छाया में सुखा लें। शुष्क हो जाने पर उसका चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में उतने ही अर्थात् एक हजार ताजा आंवलों के रस में भिगो कर रख दें। जब वह रस सूख जाए तो शालपर्णी, पुनर्नवा, जीवन्ती, नागवला ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, शतावरी, शंख-पुष्पी पिप्पली, वचा, वायविडंग, कोंच बीज, अमृता, लालचन्दन, अगर, मुलहठी, मधूक पुष्प, उत्पल, पद्म मालती के फूल, गुलाब यूथिका—इनका चूर्ण उतना लें जो आंवले के रस से भावित आंवला चूर्ण से आठवां भाग हो उतना ले। तत्पश्चात् -इस चूर्ण में ढाई मन ताजी नागरवाला का रस डाल कर छाया में सुखा लें। जब सूख जाए तब पुनः पीस लें। तब दुगनी घी अथवा एकत्र मिश्रित घी एवं मधु को मिलाकर फाणित के आकार का कर लें। इस आकृति का होने पर इसे घी से चुपड़े पात्र में रख लें और मुख बन्द कर दें। भूमि में गर्त खोद कर बारह या सोलह अंगुल उपलों की राख बिछा दें उस पर घड़ा रख दें। शेष गर्त को उपलों की राख से ही भर दें। घड़े

के मुख के ऊपर १२-१२ अंगुल या १६-१६ अंगुल राख आ जानी चाहिए। घड़े को अथर्ववेद के ज्ञाता द्वारा रक्षा विधान करवा कर उसे गर्त में रखना चाहिए। १५ दिन तक वह घड़ा वहीं पड़ा रहे। १५ दिन बाद निकाल कर सोना-चाँदी, ताम्र-प्रवाल—फौलाद—इन की समभाग में मिश्रित भस्मों को औषध से अष्टमांस भाग में मिश्रित कर दें।

इस रसायन को १ तोला की मात्रा में लेकर कुटीप्रावेशिक विधि से प्रयोग किया जाय तो आयु-तरुण वय आदि गुण प्राप्त हो जाते हैं :

यह महर्षियों से सेवित रसायन है। इसके सेवन से पुरुष नीरोग दीर्घायु, महाबलशाली, जनता में अपनी प्रतिभा आदि गुणों से चमकने वाला, तथा कामनाओं की पूर्ति करने वाला, चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी होता है। जो कुछ भी पढ़ता और सुनता है उसको तत्काल स्मरण कर लेता है। उसका मन अमर्ष हो जाता है। पर्वत के समान सार युक्त डील डौल तथा बलशाली तथा वायु के सदृश विक्रम युक्त हो जाता है। सेवन करने वाले पुरुष के देह मे भी विष प्रभाव रहित हो जाता है।

इस तरह चरक संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय प्रथम के रसायनपाद में ब्राह्म रसायन की निर्माण विधि एवं गुण वर्णित किए गए हैं।

प्रश्न—आचार रसायन से आप क्या समझते हैं? वास्तविक रसायन विधि की व्याख्या कीजिए। (१९७९)

उत्तर—रसायन जरा और व्याधियों को दूर करने का सुन्दर विधान है। प्राचीन काल से ऋषि-मुनि इस विधान द्वारा लाभ उठाकर दीर्घ जीवन एवं स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहे। रसायन से शरीर की धातुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं और मनुष्य विना किसी रोग के हृष्ट-पुष्ट एवं वृद्धावस्था में भी युवा जैसा बना रहता है। रसायन के लिए कुछ औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। पिछले प्रश्नो के उत्तर में कुछ रसायन औषधियों का वर्णन किया गया है—परन्तु इतना लाभ उठाने का एक सरल उपाय और भी बताया गया है और उसमें किसी औषधि का भी प्रयोग नहीं कराया जाता, उस विधान को जिसमें बिना किसी औषध द्रव्य के प्रयोग कराए ही रसायन का लाभ उठाया जा सकता है—'आचार रसायन' के नाम से जाना जाता है।

आयुर्वेद के प्राचीन संहिता ग्रन्थ चरक संहिता में चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय मे रसायन चिकित्सा का वर्णन किया है—वहाँ कितने ही औषध

वातातपिक रसायन—औषध प्रयोग से रसायन का लाभ उठाने के लिए चरक संहिता में दो विधियाँ बताई गई हैं—(१) कुटी प्रावेशिक विधि और (२) वातातपिक विधि। कुटी प्रावेशिक विधि का विधान यह है कि भूमि का और स्थान का विचार कर उत्तरी भारत में जहाँ वायु पूर्व पश्चिम बहुधा चलती है—वहाँ कुटी बना कर उसका मुख पूर्व दिशा में हो तथा दक्षिणी भारत में जहाँ उत्तर दक्षिण में वायु का आवागमन विशेष होता है वहाँ कुटी उत्तराभिमुख बनवाई जानी चाहिए। पूर्व या उत्तर किसी भी दिशा में जहाँ वायु प्रवेश की सुविधा हो कुटी का प्रधान द्वार स्थापित किया जा सकता है। इस कुटी में विशेष विधान से मनुष्य के शरीर का शोधन करके रखना पड़ता है और उसमें रह कर धूप-हवा आदि से बच कर कोई रसायन कल्प का नियमित सेवन करना होता है। यह वास्तव में काया कल्प का विधान है—श्री मालवीय जी को इसी विधान से रसायन का सेवन कराया गया था। यह विधान इतना सरल नहीं कि सब कर सकें। इसी लिए दूसरा विधान भी बताया गया है—जिसमें कोई भी रसायन कल्प मनुष्य को बिना कुटी में रखे प्रयोग कराया जा सकता है—उसमें वायु या धूप का कोई परहेज नहीं रखा जाता। इस विधान का नाम भी इसीलिए वातातपिक अर्थात् वायु और धूप में रह कर रसायन प्रयोग बताया गया है। इस विधान में मनुष्य पर बहुत अंकुश नहीं रखा जाता अपितु उसे दैनिक कार्य करते रहकर रसायन औषधियों का प्रयोग कराया जाता है।

प्रश्न—वाजीकरण की परिभाषा लिख कर वाजीकरण योग लिखिए।
(१९७६)

उत्तर—वाजीकरण—वाजीकरण का सीधा अर्थ है कि जिन औषधियों को सेवन करने से मनुष्य इतना शक्तिशाली हो जाए जितना घोड़ा होता है—मैथुन करने में। जो स्त्री से मैथुन करने में घोड़े की सी शक्ति वाला बन जाए—वह विधान वाजीकरण कहलाता है। इस विषय में कुछ वर्णन हम पीछे भी कर चुके हैं। यहाँ चरक संहिता के वाजीकरण अधिकार से कुछ प्रसिद्ध योग दे रहे हैं।

वाजीकरण योग

(१) बृंहणी गुड़िका—सरकण्डे की जड़, ईख की जड़, काण्डेक्षु (गन्ना-पोंड़ा) ईख की बाल, शतावरी, क्षीर काकोली, विदारीकन्द, कटेरी, जीवन्ती,

जीवक, मेदा, शालपर्णी, ऋद्धि, गोखरू, रास्ना, कौंच के बीज, पुनर्नवा अलग-अलग इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन पल के भागों को एक आढ़क नए उड़दों को एक द्रोण जल में पकावें और चौथाई शेष रहने पर उतार लें। उसे वस्त्र में छान कर काढ़े का जल अलग कर रख लें। बाद में उसमें मुलहठी, मुनक्का, अंजीर, पिप्पली, कौंच के बीज, महुआ, खजूर, शतावरी का कल्क (जितना घृत लिया जाए उसका चौथाई) विदारीकन्द, आमले और ईख का स्वरस तथा घृत अलग-अलग एक-एक काढ़क और दूध एक द्रोण लें। वैद्य इन सबको घृत शेष रहने तक पकावें। पक जाने पर और ठीक से छान लेने पर फिर उसमें शर्करा के तथा वंशलोचन के चूर्णों को वैद्य १-१ प्रस्थ, ४ पल पिप्पली, १ पल काली मिर्च और आधा-आधा पल दालचीनी, इलायची और नागकेशर के चूर्ण तथा दो कुड़ व मधु से १-१ पल की कठिन गुड़िकाएँ बना कर इसे अग्नि के अनुसार प्रयोग में लावें।

यह योग अत्यन्त वृष्य, वृंहण और बल बढ़ाने वाला है। इसके सेवन से घोड़े की तरह कामवेग द्वारा उत्थित पुरुष प्रजननेन्द्रिय को स्त्रियों को हर्षित कर सकता है।

(२) वाजीकरणघृत—नए उड़द का एक काढ़क, नए कौंच के बीज का एक काढ़क, जीवक ऋषभक, मेदा, शालपर्णी, ऋद्धि, शतावरी, मुलहठी और अश्वगन्ध प्रत्येक कुड़व बराबर लेकर आठ गुना जल में डाल कर चौथाई शेष रहने तक क्वाथ सिद्ध करें। उस रस में एक प्रस्थ गाय का घी, १० प्रस्थ गाय का दूध, १ प्रस्थ विदारी स्वरस और १ प्रस्थ ईख का स्वरस डाल कर मन्द-मन्द अग्नि से घी सिद्ध करें। सिद्ध हुए घी को पात्र में रख दें। शर्करा, वंशलोचन और शहद का अलग-अलग चार-चार पल लें और पिपली एक पल पीठ कर डाल दें।

जो भक्षय शुक्र और उत्तम जननेन्द्रिय बल चाहे वह इसके चाहने के पहले १ पल उपरोक्त घृत को चाटकर तब अन्न का उपयोग करें तो अवश्य ही अक्षय शुक्र और इन्द्रिय की पूर्ण पुष्टि उसे प्राप्त होगी।

(३) वृष्य गुटिका—एक आढ़क घी को सौ-गुणा विदारीकन्द के स्वरस में पकावें। इस सिद्ध घृत को फिर सौगुणे गोदुग्ध में सिद्ध कर लें। शक्कर, वंशलोचन शहद, ईख का रस, पिप्पली, कौंच के बीज सहित सब घी चौथाई

भाग मिलाकर गूलर के फल जैसी मोटी गोली बना लें। इसके प्रयोग से व्यक्ति चटक के समान व्यवजहर्ष वाला हो जाता है।

प्रश्न—स्वर्ण का शोधन मारण लिख कर स्वर्ण भस्म के गुणों का वर्णन कीजिए। (१९७९)

उत्तर—स्वर्ण का शोधन मारण—पीछे पृष्ठ ३४०-३४१ पर स्वर्ण का शोधन मारण विधान लिखा जा चुका है। वहीं अवलोकन करें।

स्वर्णभस्म के गुण—स्वर्णभस्म क्षय, धातुक्षीणता, जीर्ण ज्वर, त्रिदोष, वात वाहिनियों की दुर्बलता, पुराना श्वास, कास, दाह, नेत्र जलन, पित्त रोग, पित्तज उन्माद, भूत बाधा, विष विकार, पित्त प्रधान प्रमेह और नपुंसकता आदि रोगों को दूर करती है। इसमें स्निग्ध मधुर कषाय किंचित्तिक्त पित्त रस, शीत वीर्य और रसायन गुण है। यह प्रज्ञा, वीर्य, वल, स्मृति और कान्ति को बढ़ाने वाली, वृष्य, बृंहण, हृद्य तथा वाणी को स्थिर व शुद्ध करने वाली है। सर्व धातुओं में स्वर्ण अधिकतर स्थिर गुणयुक्त निर्मल और प्रसन्न है।

स्वर्णभस्म के प्रयोग से हृदय को शक्ति मिलती है। यह रक्त का प्रसादन कर हृदय को पुष्ट बनाता है तथा रक्तवाहिनियों और वातवाहिनियों को शक्ति प्रदान करता है। विष, उपविष, शरीर में उत्पन्न होने वाले सेन्द्रिय विष और विषोत्पादक कीटाणु तथा इनसे होने वाले शरीर रोगों को स्वर्णभस्म दूर करती है। जन्तुघ्न और प्रतिविषोत्पादक गुण के कारण स्वर्णभस्म क्षय (टी०बी०) में लाभ पहुँचाती है। उरःक्षत रोग में स्वर्णभस्म अच्छा काम करती है। रक्त पित्त चिकित्सा के साथ-साथ स्वर्णभस्म देना चाहिए। धातुओं की क्षीणता में स्वर्णभस्म अच्छा लाभ करती है। पुरानी खाँसी एवं श्वास रोग में स्वर्णभस्म का उपयोग लाभ करता है। आन्त्रिक ज्वर में स्वर्ण-भस्म का अच्छा उपयोग देखा गया है। आन्त्र में संगृहीतविष में जब वमन-विरेचन, हिक्का, उदर पीड़ा, घबराहट आदि लक्षण उत्पन्न होते हों तो स्वर्णभस्म दिया जाता है। पैत्तिक प्रमेह में यह भस्म बहुत लाभ करती है। नेत्रों के पुराने रोगों में स्वर्णभस्म लाभ करती है। इससे अण्डकोष की ग्रन्थियाँ बलवान बनती हैं और नपुंसकता दूर हो जाती है।

प्रश्न—अभ्रक शोधन मारण विधि लिख कर अभ्रक भस्म की सेवन विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए। (१९७९)

उत्तर—अभ्रक का शोधन एवं मारण विधान पीछे पृष्ठ संख्या ३४२-३४३ पर लिख चुके हैं। वहीं अवलोकन करें।

अभ्रक भस्म--अभ्रक भस्म की सेवन विधि रोगानुसार निम्न प्रकार से है। मात्रा १ से २ रत्ती तक।

(१) प्रदर में—सोनागेरू २ रत्ती और गिलोमथसत्व 8 रत्ती के साथ दें। ऊपर चावलों का धोवन दें।

(२) पित्त प्रकोप में—प्रवालप पिष्टी और गिलोय सत्व के साथ दें।

(३) पित्त प्रधान प्रमेहों में—गिलोय स्वरस और मिश्री के साथ।

(४) नेत्रों की निर्मलता में—त्रिफला चूर्ण और शहद के साथ।

(५) श्वास, कास, कफ वृद्धि, जीर्णज्वर, भ्रम, प्रमेह, संग्रहणी, पाण्डु, क्षय विषविकार कामला और गुल्म में—पीपल-शहद के साथ सेवन करावें।

(६) क्षय, पाण्डु, संग्रहणी, शूल, आम, कुष्ठ, श्वास-प्रमेह, कास, उदर रोग-मन्दग्नि में—वायविडग और त्रिकटु के अनुदान से है।

(७) २० प्रमेहों में शिलाजीत और शहद और पीपल के साथ।

(८) क्षय रोग में—च्यवन प्राशावलेह के साथ सेवन करावें।

(९) धातु वृद्धि के लिए—लौंग और शहद के साथ।

(१०) रक्त पित्त में—इलायची और मिश्री के साथ सेवन करावें।

(११) क्षय पाण्डु और दर्द पर—त्रिकटु, त्रिफला, चतुर्जात, मिश्री और शहद के साथ।

(१२) प्रमेह और मूत्रकृच्छ पर—इलायची, गोखरू, भूमि आंवला और मिश्री के साथ देकर ऊपर से गाय का दूध पिलावें।

(१३) जीर्णज्वर में—गिलोय सत्व और मिश्री के साथ सेवन करावें।

(१४) अर्श में—नागरबेल के पान में भिलावा मिलाकर सेवन करावें।

(१५) वातरोगों में—सोंठ, पुष्करमूल, भारंभमूल, असगन्ध के चूर्ण तथा शहद के साथ दें।

(१६) पित्तरोग में—गोदुग्ध और मिश्री या चतुर्जात और मिश्री के साथ दें।

(१७) कफ रोगों में—कायफल, पीपल और शहद के साथ सेवन करावें।

(१८) शुक्रस्तम्भन के लिए—भांग के साथ सेवन करावें।

(१९) धातुओं की निर्बलता में—लौह भस्म, शहद और पीपल के साथ सेवन करावें।

(२०) संग्रहीणी में—अनार शर्बत या कुटजारी प्रवलेह के साथ सेवन करावें।

(२१) कफज्वर और कास में—अभ्रक भस्म, शृंग भस्म और मुलहठी और सितोपलादि चूर्ण मिलाकर शहद के साथ दिन में तीन बार दें।

(२२) नूतन कफकास पर—अभ्रक भस्म के साथ शृंग भस्म और लवंगादि चूर्ण के साथ सेवन करावें।

इस तरह ऊपर के विधान से अभ्रक भस्म का सेवन कराया जाय तो पूर्ण लाभ मिलता है।

वैद्य विशारद : प्रथम खण्ड--१९७६

प्रथम पत्र

समय : ३ घण्टे   पूर्णांक : १००

१. जीवन के साधनों की व्याख्या कीजिए तथा उषापान की विधि एवं लाभ बताइए। २०

अथवा

अनिद्रा की हानियाँ तथा निद्रा के लाभों का वर्णन कीजिए।

२. आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन-डाई-आक्साइड की विशेषताओं को बताते हुए जीवन के लिए वायु की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। २०

३. धूम्रपान क्यों निषिद्ध है, दुग्धपान क्यों श्रेष्ठ है ? स्पष्ट कीजिए। २०

४. भोजन में विटामिन 'बी' एवं 'सी' का क्या महत्व है ? ये किन पदार्थों में अधिक पाये जाते हैं ? स्वस्थ व्यक्ति को कितना आहार करना चाहिए ? वर्णन कीजिए। २०

अथवा

रात्रिस्नान, धारास्नान, कटिस्नान से क्या लाभ हैं ? स्नान किसे निषिद्ध है और क्यों ?

५. स्वास्थ्य के लिए पर्वतीय जलवायु क्यों श्रेष्ठ है ? कश्मीर की यात्रा किस ऋतु में करनी चाहिए और क्यों ? वर्णन कीजिए। २०

अथवा

मृत्तिका के द्वारा किन्हीं पाँच रोगों के निवारण की विधि लिखिए।

द्वितीय पत्र

समय : ३ घण्टे   पूर्णांक : १००

सूचना—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. द्रव्यगत रसों का वर्णन तथा उसका विपाक लिखकर, तैल वर्ग का वर्णन कर उनके गुणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

२ क्षीर पाक, यवागू एवं अवलेह की निर्माण-विधि लिखकर मागध मान का विस्तार से वर्णन कीजिए।

३. मांस वर्ग शाक वर्ग का वर्णन कर उनके गुणों का भी वर्णन कीजिए।

४. सूअर की चर्बी, समुद्रफेन तथा गोमूत्र के उपयोग का विस्तार से वर्णन कीजिए।

५. रत्न कितने प्रकार के होते हैं ? उनके गुणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

६. चिकित्सा में मद्य की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए, उसके अति सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन कीजिए।

७. सूक धान्य वर्ग में कौन-कौन आहार द्रव्य आते हैं ? किन्हीं दो आहार उपयोगी द्रव्य का वर्णन कीजिए।

तृतीय पत्र

समय : ३ घण्टे पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर लिखिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. शरीरोत्पत्ति, पंचमहाभूत विज्ञान के आधार पर लिखिए।

२. अस्थियों की संख्या, भेद तथा कार्य उभय मत से लिखिए।

३. अग्नियों के प्रकार तथा उनके कार्य लिख जाठराग्नि पर विस्तृत प्रकाश डालिए।

४. शरीर में मूत्र निर्माण तथा उत्सर्ग कैसे होता है ? सचित्र वर्णन कीजिए।

५. रक्त से आप क्या समझते हैं ? इसकी उत्पत्ति उभय मत से लिखिए।

६. अन्नविपाक क्रिया में अन्न संस्थान के मुख्य-मुख्य अवयवों का सचित्र वर्णन कीजिए।

७. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर टिप्पणी लिखिए :

(क) क्लोम।
(ख) उण्डुक।
(ग) स्तन्य एवं स्तन।
(घ) शुक्र एवं रक्त।
(ङ) श्वेत रक्ताणु (W.B.C.)।
(च) रक्ताल्पता (Anaemia)।

चतुर्थ पत्र

समय : ३ घण्टे   पूर्णांक : १००

निर्देश—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. मूर्छित्वा हरति रुजं
बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति ।
अ[illegible]रीकरोति हि मृतः,
कोऽन्यः करुणाकरः सूतात् ॥

जिसकी प्रशंसा में उपर्युक्त श्लोक कहा गया है, उसी की प्रशंसा के तीन अन्य श्लोक रसरत्नसमुच्चय ग्रन्थ से अथवा अन्य पाठ्य-ग्रंथ से लिखकर उनकी सरल व्याख्या कीजिए।

२. वाजीकरण शब्द का शास्त्रीय व्याख्यान कर वाजीकर प्रयोग, वाजीकर स्फुटयोग वाजीकरण चिकित्सा में अनुपात तथा पथ्यापथ्य का वर्णन श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल रचित "वृक्षों का आरोग्य" नामक ग्रन्थ के आधार पर कीजिए।

३. सुवर्ण का शोधन व मारण लिखकर उसके गुण तथा आमयिक प्रयोग लिखिए।

४. प्रवाल, शंख, गोदन्ती का शोधन-मारण पृथक्-पृथक् लिखिए।

५. रसपर्पटी, रसमाणिक्य मुग्धरस की निर्माण विधि लिखिए।

६. महापुट, पातालयन्त्र मूषा की व्याख्या कीजिए और उनके चित्र बनाइए।

७. कुटपाक, अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, तिर्यक्पातन, जारण शब्दों की व्याख्या पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर कीजिए तथा चित्र बनाकर उनका स्पष्ट भाव समझावें।

वैद्य विशारद : प्रथम खंड १९७७

प्रथम पत्र

(स्वास्थ्य-विज्ञान)

समय : ३ घण्टा   पूर्णांक : १००

१. स्वस्थ रहने के सामान्य नियमों की चर्चा करते हुए शीतऋतु के लिए एक आदर्श दिनचर्या की रूपरेखा लिखिए।   २०

२. दन्त-धावन की पाश्चात्य पद्धति (ब्रश करना) तथा प्राच्य पद्धति (दातुन करना) में से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं ? कारण बताते हुए लिखिए कि किन-किन वृक्षों की दातुन लाभकारी होती है ? २०

अथवा

व्यायाम से होने वाले लाभों की चर्चा करते हुए एक युवक के लिए समुचित व्यायाम की व्यवस्था करें।

३. उत्तम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक विटामिनों के विषय में संक्षिप्त जानकारी दीजिए। २०

अथवा

आहार के विभिन्न अवयवों के विषय में संक्षिप्त जानकारी दीजिए तथा मनुष्य के वानस्पतिक या प्राणिज प्रोटीनों में से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं ? कारण बताइये।

४. चेचक के संक्रामक रूप से फैलने पर उससे बचने के उपाय बताइए। २०

अथवा

अच्छे वैद्य तथा अच्छे परिचारक के गुण लिखिए। २०

५. किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए— २०

(क) तैलाभ्यंग के लाभ।

(ख) मल को रोकने से होने वाली हानियाँ।

(ग) किन्हें दिन में नहीं सोना चाहिए ?

(घ) पर्वतीय जलवायु की श्रेष्ठता का कारण।

(ङ) धर्म की संक्षिप्त व्याख्या।

द्वितीय पत्र

(द्रव्यगुण विज्ञान और रसतंत्रोक्त द्रव्य विज्ञान)

समय : ३ घण्टा पूर्णांक : १००

सूचना—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. पदार्थ तथा द्रव्य की व्याख्या लिखकर घृतवर्ग का वर्णन कर उसके गुणागुण का उपयोग विस्तार से लिखिये।

२. आसव, अरिष्ट तथा शर्बत की निर्माण विधि विस्तार से वर्णन कीजिये।

३. मागध मान, कलिंग मान का विस्तार से वर्णन कीजिए।

४. शमीधान्य वर्ग, पुष्पवर्ग तथा फलवर्ग में कौन-कौन से आहारोपयोगी द्रव्य आते हैं ? विस्तार से वर्णन कीजिए।

५. गाय, बकरी, भेंडी के दुग्ध की चिकित्सा में क्या उपयोगिता है ? विस्तार से लिखिए।

६. दुग्ध वर्ग, आन्तयवर्ग में कौन-कौन से द्रव्यों का समावेश है ? विस्तार से लिखिए।

७. पंचविध कषाय कल्पना से आप क्या समझते हैं ? चिकित्सा में उपयोगी किसी एक मोदक की निर्माण विधि विस्तार से लिखिए।

तृतीय पत्र

(शरीर रचना-विज्ञान और शरीर क्रिया-विज्ञान)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. पंचमहाभूत के आधार पर शरीर की परिभाषा लिखिए।

२. अस्थियों की कुल संख्या लिख कर सन्धियों के भेद, कार्य उभयमत से लिखिए।

३. पेशियों के स्वरूप, संख्या तथा कार्य पर विस्तृत प्रकाश डालिए।

४. रस द्वारा रक्तोत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न मतों का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

५. यकृत अथवा प्लीहा का सचित्र वर्णन कीजिए।

६. पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच कर्मेन्द्रियों का वर्णन कर मन पर लिखिए।

७. निम्न में से किन्हीं चार पर टिप्पणी लिखिए :

(क) ग्रहणी,
(ख) वीजकोष,
(ग) वृक्क,
(घ) मूत्रस्रोतसी,
(च) शुक्र,
(छ) आर्तव,
(ज) पिंगला नाड़ी तथा नाड़ीचक्र।

चतुर्थ पत्र

(रसशास्त्र और रसायन-वाजीकरण)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेर प्रसगत: ।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधेभ्योऽधिको रसः ॥

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए रस के विषय में प्रधानता ज्ञापक अन्य प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।

२. षड्गुण बलि जारित मकरध्वज का निर्माण-विधान विस्तार से बताते हुए उसका गुण, कर्म वर्णित कीजिए।

३. अभ्रक की ग्राह्याग्राह्यता के लक्षण बताते हुए धान्याभ्रक निर्माण विधि, अभ्रकभस्म निर्माण विधि लिखते हुए, अभ्रक भस्म की परीक्षा लिखिए।

४. हरताल और मैनसिल का परिचय देते हुए इसका शोधन एवं मारण विधान लिखिए।

५. 'पुट' शब्द से आप क्या समझते हैं? औषधि निर्माण में 'पुटों' की वैज्ञानिकता का विश्लेषण कर विभिन्न प्रसिद्ध पुटों का स्वरूप बताइए।

६. दोला यन्त्र, वालुका यन्त्र, डमरू यन्त्र और पाताल यन्त्र का वर्णन कीजिए।

7. आचार रसायन से आप क्या समझते हैं? कुटिप्रावेशिक एवं वातातपिक रसायन विधियों की व्याख्या कीजिए।

८. क्लीबता का लक्षण लिखकर, उसके भेद, साध्यासाध्यता का लक्षण लिखिए।

वैद्य विशारद : प्रथम खण्ड--१९७८

प्रथम पत्र

(स्वास्थ्य-विज्ञान)

समय : ३ घंटा   पूर्णांक : १००

१. शरद ऋतु के लिए एक आदर्श दिनचर्या की रूपरेखा लिखते हुए स्वास्थ्य प्राप्ति के सामान्य नियमों का वर्णन कीजिए।   २०

२. व्यायाम क्यों आवश्यक है ? एक युवती के लिए नित्योपयोग व्यायाम की व्यवस्था कीजिए।   २०

अथवा

अधारणीय वेगों के धारण से उत्पन्न हानियों का वर्णन करते हुए धारणीय वेगों का उल्लेख करें।

३. 'जीवन के लिए विटामिनों की आवश्यकता' इस विषय पर तीन पृष्ठ का निबन्ध लिखें।   २०

अथवा

भोजन-विधि बताते हुए भोजन में जलपान विषयक अपने विचार प्रकट करें।

४. इन्फ्लुएन्जा के संक्रामक रूप से प्रसारित होने पर उससे रक्षा के उपाय बताइए।   २०

अथवा

परिचारक के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए औषधि-निरीक्षण का प्रकार बताएँ।

५. किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए :   २०

(क) भोजनालय की सफाई।

(ख) धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का आधार उत्तम स्वास्थ्य।

(ग) आतप सेवन के हानि-लाभ।

(घ) आदर्श वैद्य के लक्षण

(ङ) धार्मिक आचरण के लाभ।

द्वितीय पत्र

समय : ३ घंटा　　पूर्णांक : १००

सूचना--किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. पदार्थ और द्रव्य की व्याख्या कीजिए। द्रव्य की बनावट एवं द्रव्यगत प्रभाव की विशेषता का वर्णन कीजिए।

२. घृतवर्ग तथा मधुवर्ग द्रव्यों का गुणावगुण का विवरण और उपयोग का विस्तार से वर्णन कीजिए।

३. आहरोपयोगी द्रव्यों का विवरण लिखिए। मांसवर्ग और शाकवर्ग के गुणावगुण तथा उपयोग के विषय में प्रकाश डालिए।

४. गाय, बकरी तथा मनुष्य के मूत्र के उपयोग का विस्तार से वर्णन कीजिए।

५. आसव व अरिष्ट से आप क्या समझते हैं? इनके निर्माण की विधि का विधिवत वर्णन कीजिए।

६. द्रव्यों के ग्रहणीय अंग, औषधि ग्रहण काल एवं द्रव्य संरक्षण विधि का विस्तार से वर्णन कीजिए।

७. रत्न व उपरत्न पर प्रकाश डालते हुए रत्न के प्रकार एवं गुणों का विस्तार से उल्लेख कीजिए।

तृतीय पत्र

(शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान)

समय : ३ घंटा　　पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. शुद्ध शुक्र एवं आर्तव के लक्षण लिखते हुए विकृत शुक्र एवं आर्तव की संक्षिप्त चिकित्सा का उल्लेख कीजिए।

२. पाचन संस्थान के प्रमुख अंगों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए आमाशय का सचित्र वर्णन करते हुए उसके रस की उपयोगिता पर विशेष प्रकाश डालिए।

३. हृदय का सचित्र वर्णन कर उसकी प्राचीन एवं अर्वाचीन रचना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

४. मांस पेशियों की प्राचीन एवं अर्वाचीन संख्या के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी कर ऐच्छिक एवं अनैच्छिक मांस पेशियों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

५. आशय के तात्पर्य को समझाते हुए सुश्रुत मतानुसार आशयों के नाम और संख्या का उल्लेख कर किन्हीं दो आशयों पर विशेष प्रकाश डालिए।

६. आयुर्वेद के मतानुसार शरीर निर्माण के चौवीस तत्वों का संक्षिप्त उल्लेख कर प्रकृति तथा पुरुष के सहधर्म एवं वैधर्म पर प्रकाश डालिए।

७. स्रोत, कला, त्वचा आदि की संख्याओं का उल्लेख कर मांस धरा कला की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

चतुर्थ पत्र

(रसशास्त्र और रसायन-वाजीकरण)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. पारद के शोधन का विधान विस्तार से वर्णन कीजिए तथा अष्ट संस्कारों की व्याख्या कीजिए।

२. रस पर्पटी और रस कपूर की निर्माण-विधि एवं उनका उपयोग वर्णित कीजिए।

३. रस माणिक्य की निर्माण-विधि लिखते हुए मण्डूर और स्वर्णमाक्षिक शोधन एवं मारण लिखिए।

४. वालुका यन्त्र, पाताल यन्त्र, हंस पाक यन्त्र, मूषा यन्त्र का स्वरूप बताते हुए, इनका उपयोग बतायें।

५. लावक पुट, कुक्कुट पुट महापुट तथा गजपुट का स्वरूप एवं उनका उपयोग बतायें।

६. प्रवाल, मुक्ति, कपर्दिका और गोदन्ती का शोधन एवं मारण लिखिए।

७. रसायन किसे कहते हैं और रसायन का क्या फल होता है? पाँच प्रसिद्ध रसायन द्रव्यों का नाम बताइए।

८. वाजीकरण का लक्षण बताते हुए, वंध्या चिकित्सा का सविस्तार वर्णन कीजिए।

वैद्य विशारद : प्रथम खण्ड--१९७९

प्रथम पत्र

(स्वास्थ्य विज्ञान)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. स्वास्थ्य की परिभाषा लिखकर नियमों का वर्णन कीजिए। २०

२. दन्तधावन किन-किन वृक्षों की लाभकारी है, लिखकर, इसकी प्राच्य तथा पाश्चात्य पद्धति के गुणावगुणों का वर्णन कीजिए। २०

अथवा

अपने परीक्षाकाल की ऋतुचर्या लिखिये।

३. व्यायाम का क्या लाभ है? छात्रों के लिए कैसा व्यायाम आवश्यक है? २०

अथवा

एक नवयुवती के लिए आवश्यक व्यायाम विधि लिखिए।

४. संक्रामक रोग कौन-कौन हैं, लिखकर विसूचिका से रक्षा के उपायों पर प्रकाश डालिए। २०

अथवा

चेचक के संक्रामक रूप से फैलने पर रक्षा के उपाय बताइए।

५. किन्हीं चार पर टिप्पणी दीजिए :

(क) धर्म की व्युत्पत्ति तथा व्याख्या।

(ख) उत्तम स्वास्थ्य धर्म का आधार है।

(ग) भोजनालय की स्वच्छता।

(घ) तैलाभ्यंग के लाभ।

(ङ) आदर्श चिकित्सक के लक्षण।

द्वितीय पत्र

(द्रव्यगुण-विज्ञान और रस-तंत्रोक्त द्रव्य-विज्ञान)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. 'द्रव्य' की परिभाषा तथा द्रव्य के प्रकार लिखकर दुग्धवर्ग का वर्णन कर उनके गुणावगुण का उपयोग विस्तार से लिखिए।

२. 'रस' कितने प्रकार के होते हैं ? इनकी उत्पत्ति, उपयोगिता तथा द्रव्यों से सम्बन्ध उदाहरण सहित लिखिए।

३. वीर्य से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

४. रत्न कितने प्रकार के होते हैं ? उनके गुणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

५. मांस वर्ग, शाकवर्ग का वर्णन कर उनके गुणों का भी वर्णन कीजिए।

६. मगधमान, कलिंगमान तथा वर्तमान समय का प्रचलित मान का पार्थक्य उदाहरण सहित लिखिए।

७. ताम्बूल, चमेली के फूल, अजा-दुग्ध की उपयोगिता तथा गुण क्या हैं ? वर्णन कीजिए।

८. चूहे की लेंडी, हाथी दांत, कबूतर की बीट, भेड़ी के दुग्ध की औषधोपयोगिता क्या है ? विस्तार से लिखिए।

तृतीय पत्र

(शरीर-रचना-विज्ञान एवं शरीर-क्रिया विज्ञान)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. नाड़ी संस्थान के महत्व पर समुचित प्रकाश डालते हुए बृहत् मस्तिष्क की रचना एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

२. फुफ्फुसों की रचना का सचित्र वर्णन कर श्वास-क्रिया से सम्बन्धित अन्य अंगों के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

३. संधियों की उपयोगिता एवं कार्यों का वर्णन कर उनके प्रकार एवं संख्याओं का उल्लेख कीजिए।

४. यकृत एवं प्लीहा के कार्यों का वर्णन कर रक्त के स्वरूप का उल्लेख कीजिए।

५. गर्भाशय की रचना पर प्रकाश डालते हुए स्त्री के प्रजनन अंगों के कार्यों का वर्णन कीजिए।

६. शरीर में त्रिदोष के स्थानों का वर्णन कर पित्त के प्रकार, स्थान एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

७. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) लसीका (च) रक्तवारि

(ख) दृष्टि नाड़ी (छ) व्यानवायु

(ग) वृक्क (ज) श्लेषक कफ

(घ) आमाशय

चतुर्थ पत्र : १९७०

समय : ३ घंटा (रसशास्त्र और रसायन-वाजीकरण) पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. रसपर्पटी और रसकपूर की निर्माण-विधि एवं उनका उपयोग वर्णित कीजिए।

२. वालुकायन्त्र, पातालयन्त्र, हंसपाकयन्त्र, मूषायन्त्र का स्वरूप बताते हुए इनका उपयोग बताइए।

३. हरताल और मैनसिल का परिचय देते हुए इनका शोधन एवं मारण-विधान लिखिए।

४. दोलायन्त्र, वालुकायन्त्र, डमरूयन्त्र और पाताल यन्त्र का वर्णन कीजिए।

५. आचार रसायन से आप क्या समझते हैं? वाततपिक रसायन विधि की व्याख्या कीजिए।

६. स्वर्ण का शोधन-मारण लिखकर स्वर्ण-भस्म के गुणों का वर्णन कीजिए।

७. अभ्रक शोधन-मारण विधि लिखकर अभ्रक-भस्म की सेवन-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

८. वाजीकरण की परिभाषा लिखकर एक वाजीकरण योग लिखिए।

वैद्य विशारद: प्रथम खण्ड १९८०

प्रथम पत्र

(स्वास्थ्य-विज्ञान)

समय : तीन घण्टा पूर्णांक : १००

सूचना – किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान है।

१. वसन्त ऋतु के लिए आदर्श दिनचर्या लिख कर स्वास्थ्य की शास्त्रीय परिभाषा लिखिए।

२. व्यायाम के गुण लिख कर किन के लिए अहितकर है, विस्तार से लिखिए।

३. अपने परीक्षा-काल की ऋतु का वर्णन करते हुए उसमें पालनीय नियम बताइए।

४. धारणीय व अधारणीय वेगों का नाम पूर्वक वर्णन कीजिए।

५. संक्रामक रोग कौन-कौन हैं? उत्पत्ति कारण तथा उनसे रक्षा के उपाय लिखिए।

६. भोजन की आवश्यकता? बताते हुए, आहार-विधि का प्राचीन व अर्वाचीन क्रम लिखिए।

७. विसूचिका के फैलने पर प्रतिषेध उपाय तथा सामान्य व विशेष चिकित्सा लिखिए।

८. किन्हीं चार पर टिप्पणी दीजिए :

(क) स्वास्थ्य और धर्म।

(ख) चिकित्सक के गुण।

(ग) उत्तम वैद्य के लक्षण।

(घ) शौचालय कैसा आवश्यक है?

(ङ) वायुप्रदूषण।

वैद्य विशारद प्रथम खण्ड १६८०

द्वितीय पत्र

(द्रव्य गुण-विज्ञान और रस-तंत्रोक्त द्रव्य-विज्ञान)

समय : तीन घण्टा पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. द्रव्यों में निहित गुणों के सामान्य कर्मों का उल्लेख कर शिलाजीत एवं प्रवाल की उपयोगिता का विशिष्ट वर्णन कीजिए।

२. द्रव्यान्तरगत रसों का उल्लेख करते हुए दोषों पर रसों के प्रभाव का वर्णन कर मधुर एवं कषाय रस के अतियोग से होने वाले रोगों के नाम लिखिए।

३. पंचविधि कषाय कल्पना की उपयोगिता पर समुचित प्रकाश डाल कर औषधि-ग्रहण-काल एवं उसकी संरक्षण-विधि का विशिष्ट वर्णन कीजिए।

४. आसव की निर्माण-विधि लिखते हुए अशोकारिष्ट, च्यवनप्राश, चन्द्रप्रभावटी, तालीशादि चूर्ण के घटकों का उल्लेख कर इनके गुणों पर समुचित प्रकाश डालिए।

५. किन्हीं पाँच पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

स्रंसन, श्लक्षण, तीक्ष्ण, अनुलोमन, त्रिकटु,
दशमूल, चतुर्जात, बलाचतुष्टय, दोलायन्त्र, वालुकायन्त्र।

६. दुग्धवर्ग एवं जल-वर्ग का वर्णन कर उनके गुणों का भी उल्लेख कीजिए।

७. पारद एवं गन्धक के भेद, शोधन-विधि एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कज्जली की निर्माण-विधि लिखिए।

८. जीवनीय-गण की औषधियों का उल्लेख कर उनके सामान्य गुणों पर प्रकाश डालिए।

वैद्य विशारद : प्रथम खण्ड १९६०

तृतीय पत्र

(शरीर-रचना-विज्ञान एवं शरीर-क्रिया-विज्ञान)

समय : तीन घण्टे पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. वात नाड़ी में समाविष्ट प्रमुख अंगों का परिचय लिखिए।

२. वृक्क की रचना तथा उनके कार्य लिखिए।

३. वात नाड़ी संस्थानिक अंगों के कार्य लिखते हुए नाड़ी-मंडल की क्रिया पर प्रकाश डालिए।

४. पाचन-संस्थान का सामान्य परिचय देते हुए तत्सम्बन्धित मुख्य अंगों का भी निर्देश कीजिए।

५. शिरा तथा धमनी का परिचय दीजिए।

६. लसीका संस्थान पर प्रकाश डालिए।

७. संधियों का परिचय देते हुए उनके महत्व पर प्रकाश डालिए।

वैद्य विशारद : प्रथम खण्ड १९८०

चतुर्थ पत्र

(रसशास्त्र और रसायन वाजीकरण)

समय : तीन घण्टे पूर्णांक : १००

सूचना—किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. उप रस कितने होते हैं ? सविस्तार लिखिए।

२. वैक्रान्त का शोधन-मारण-विधि लिख कर गुण अनुपान लिखिए।

३. स्वर्ण का शोधन-मारण लिख कर गुणों का वर्णन कीजिए।

४. गंधक का प्रकार भेद लिख कर शोधन-विधि का वर्णन कीजिए। शुद्ध गन्धक के गुणों का वर्णन कीजिए।

५. अभ्रक का प्रकार भेद लिख कर धान्याभ्रक का वर्णन कीजिए।

६. वाजीकरण की परिभाषा लिख कर किन्हीं दो वाजीकरण योगों की सविस्तार निर्माण-विधि लिखिए।

७. रसायन की परिभाषा लिख कर आमलकी रसायन का वर्णन कीजिए।